॥ वीतराग शासन जयवंत हो ॥

विशद पञ्चागम संग्रह

आचार्य श्री विशद सागर

कृति – **विशद पञ्चागम संग्रह**

कृतिकार – प.पू. साहित्य रत्नाकर, क्षमामूर्ति
आचार्य श्री 108 विशदसागर जी महाराज

संस्करण – द्वितीय–2024, प्रतियां : 1000

संकलन – मुनि श्री 108 विशालसागर जी महाराज

सहयोग – आर्यिका 105 श्री भक्तिभारती, क्षु. 105 श्री वात्सल्य भारती

संपादन – ब्र. ज्योति दीदी– 9829076085, ब्र. आस्था दीदी–9660996425
ब्र. सपना दीदी–9829127533, ब्र. आरती दीदी–8700876822
ब्र. प्रदीप भैया जी–7568840873

प्राप्ति स्थल – 1. विशद साहित्य केन्द्र – 9416888879
श्री दिग. जैन मंदिर, कुआँ वाला जैनपुरी–रेवाड़ी
2. लाल मंदिर, चाँदनी चौक, दिल्ली
3. रोहिणी सेक्टर–3 दिल्ली– 9810570747
4. हरीश जैन दिल्ली, 9136248971
5. नीरज छाबड़ा, सआदतगंज, लखनऊ, 9451251308

मुद्रक – आकृति प्रिंटर्स, बीना – 9981331700

–: पुण्यार्जक :–

❋ श्रीमान संजय कुमार –श्रीमति संध्या जैन
पुत्री : श्रीमति प्रियंका – श्री अभिमन्यु जैन
दर्श जैन, अर्चिता जैन, भक्तामर तीर्थ बड़ागाँव खेकड़ा (उ.प्र.)

❋ प्रवीण कुमार जैन, बी. 1008 शास्त्री नगर, दिल्ली
❋ श्रीमान राजेन्द्र कुमार–श्रीमति कुसुम जैन
बाग कड़े खाँ किशनगंज, दिल्ली

॥ वीतराग शासन जयवंत हो ॥

विशद पञ्चागम संग्रह

आचार्य श्री विशद सागर

कृति - **विशद पञ्चागम संग्रह**

कृतिकार - प.पू. साहित्य रत्नाकर, क्षमामूर्ति
आचार्य श्री 108 विशदसागर जी महाराज

संस्करण - द्वितीय-2024, प्रतियां : 1000

संकलन - मुनि श्री 108 विशालसागर जी महाराज

सहयोग - आर्यिका 105 श्री भक्तिभारती, क्षु. 105 श्री वात्सल्य भारती

संपादन - ब्र. ज्योति दीदी- 9829076085, ब्र. आस्था दीदी-9660996425
ब्र. सपना दीदी-9829127533, ब्र. आरती दीदी-8700876822
ब्र. प्रदीप भैया जी-7568840873

प्राप्ति स्थल - 1. विशद साहित्य केन्द्र - 9416888879
श्री दिग. जैन मंदिर, कुआँ वाला जैनपुरी-रेवाड़ी
2. लाल मंदिर, चाँदनी चौक, दिल्ली
3. रोहिणी सेक्टर-3 दिल्ली- 9810570747
4. हरीश जैन दिल्ली, 9136248971
5. नीरज छाबड़ा, सआदतगंज, लखनऊ, 9451251308

मुद्रक - आकृति प्रिंटर्स, बीना - 9981331700

-: पुण्यार्जक :-

❖ धर्मवीर जैन, सेवा निवृत्त प्रमुख अभियन्ता, लखनऊ
पुत्र - * अनिल कुमार जैन , सेवा निवृत्त
उप महाप्रबंधक भारतीय स्टेट बैंक
* आशू जैन, सेवा निवृत्त
प्रधान मुख्य आयुक्त आयकर विभाग
* संजय कुमार जैन प्रोफेसर
जार्ज वाशिंगटन यूनिवर्सिटी अमेरिका

सुज्ञान रत्न ही श्रेष्ठ रत्न

(इन्द्रवज्रा छन्द)

सुज्ञान रत्नान् न परं हि रत्नं, सुज्ञान मित्रान् न परं हि मित्रं।
सुज्ञान बन्धोर् न परो हि बन्धुः, सुज्ञान लाभान् न परो हिलाभः॥

सम्यक्ज्ञान रूपी रत्न से बढ़कर अन्य दूसरा कोई रत्न नहीं हैं सम्यक्ज्ञान रूपी मित्र से बढ़कर अन्य कोई मित्र नहीं है सम्यक्ज्ञान रूपी बन्धु से बढ़कर अन्य कोई बन्धु नहीं है और सम्यक्ज्ञान के लाभ से बढ़कर अन्य कोई लाभ नहीं है।

परम पूज्य आचार्य श्री विरागसागर जी महाराज के संघ में प्रवेश प्राप्त करते ही संघ में द्रव्य संग्रह की कक्षा चल रही थी उसी में हमको भी शामिल किया और गाथा रटना शुरु किया साथ ही आलाप पद्धति भी चल रही थी तो उसके भी सूत्र याद करके सुनाते गये यहाँ से प्रारंभ हुआ धर्मध्यान। इसी क्रम में रत्नकरण्डक श्रावकाचार, तत्त्वार्थ सूत्र भी पढ़ा गया साथ ही इष्टोपदेश का स्वतः ही अध्ययन किया।

सभी साधु संघ, त्यागी, व्रत्तियों में प्रायः इन पाँच शास्त्रों का अध्ययन, अध्यापन चलता है अतः इन पद्यानुवाद करके सामूहिक रूप से सन् 2004 में श्री भवरलाल जी सरावगी श्यामनगर सरावगी मेंशन जयपुर वाले एवं सुनील जी वासखों के द्वारा इनका प्रकाशन कराया नाम दिया 'विशद पंचागम संग्रह' जो लोगों को अत्यन्त रुचिकर सिद्ध हुआ 2000 पुस्तक अल्प काल में ही समाप्त हो जाने पर पुनर्प्रकाशन का अनेक बार प्रयत्न किया किन्तु विघ्न आते रहे अब कहीं ब्र. सपना दीदी के प्रयत्न से उनका पुर्नप्रकाशन किया जा रहा है। सभी भव्य जीव अध्ययन कर धर्मज्ञान ध्यान लाभ प्राप्त कर जीवन मंगलमय बनाएँ और ज्ञानोद्योत करें। कहा भी है -

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
यही परमामृत जन्म जरा मृतु रोग निवारण॥

अर्थात् - ज्ञान के समान कोई सुख का साधना नहीं है जो जन्मादि रोगों का निवारण कर सिद्ध दशा प्राप्त कराने में विशद साधन है।

इस कार्य में प्रत्यक्ष परोक्ष जिसका भी सहयोग प्राप्त है सभी आशीर्वाद के पात्र हैं। सभी भव्यजीव धर्मलाभ प्राप्तकर विशद जीव मंगलमय कर हमें अनुगृहीत करें।

आचार्य विशदसागर
08.01.2024, कानपुर

गुरु की छांव तले

''प्रातरुत्थाय कर्त्तव्यं देवता गुरु दर्शनम्''

जिनागम से जिनदर्शन और जिनदर्शन से निजदर्शन की सुप्त शक्ति का जागरण करना ही देव-दर्शन है।

जीवन का सत्य वैराग्य है। वैराग्य से विमुखता ही संसार है। जीवन का सार वैराग्य के शोधन के सिवा कुछ भी नहीं है जीवन के प्रत्येक क्षण में वैराग्य खोजा जा रहा है, जो कि वहाँ है ही, तब ही समझें कि मनुष्य होने का सार पा लिया, वरना जीवन जन्म लेने और मर जाने के अलावा कुछ नहीं रहता।

खोजी व्यक्ति वह है जो जो दिख रहा है, उस पर विश्वास नहीं करता, अपितु जो दिख रहा है, उसके रहस्य में प्रवेश करता है। हम सभी संसारी जीव हैं। हम सभी ने संसार देखा, संसार का सार जो दुःख है वह नहीं देखा, संसार भोगों को हमने विज्ञान की देन समझा, संसार के गर्भ में स्थित रूपी वृक्ष व उसकी पुनः संसार रूपी संतति को हमने नहीं समझा। अगर समझा है तो वे हैं मेरे गुरुदेव जिन्होंने अपने जीवन को संयम से सजाया है, वैराग्य की बगिया को खुशबू से महकाया है और रोम रोम में ज्ञान की ज्योति जलाई हैं। जिस गाँव में गुरुदेव ने जन्म लिया वहाँ की माटी भी पवित्र हैं, वहाँ के पेड़-पौधों की सुगंध, मधुर सुरम्यता से भरी है ऐसा लगता है गुरुदेव की वाणी में मधुरता, वात्सलता है वह लेखनी में भी दिखती है। कभी-कभी हम बोल देते गुरुदेव से कम्प्यूटर की बैटरी डिस्चार्ज हो जाती है लेकिन आपकी लेखनी बंद नहीं होती निरंतर चलती ही रहती है। ऐसे गुरुदेव जिन्होंने अनेक शास्त्रों का पद्यानुवाद करके **'विशद पञ्चागम संग्रह'** का रूप दिया। हे गुरुवर! आप चाहो तो गागर में सागर भी भर सकते हो, आप चाहो तो बादल बन बसुन्धरा भर सकते हो, आप चाहो तो ज्ञाता दृष्टा, तीर्थंकर बन सकते हो। ऐसे गुरुदेव के श्री चरणों में त्रय भक्तिपूर्वक नमोस्तु।

चरण चंचरिका
संघस्थ आचार्य श्री विशदसागर जी
ब्र. सपना दीदी

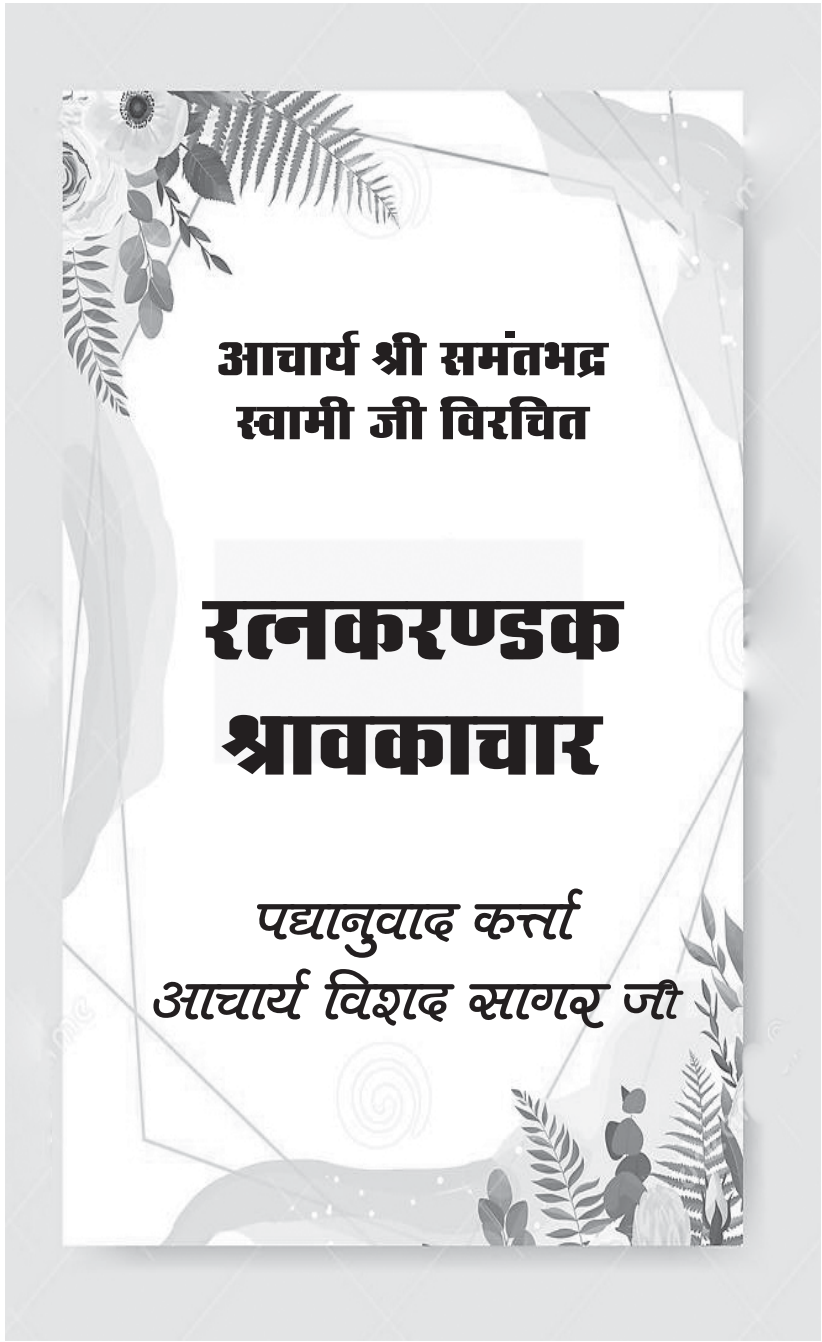

जीवन परिचय आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी जी

दोहा : समन्तभद्र की भद्रता, गाई अपरम्पार।
विशद किए उपकार जो, वन्दन बारम्बार॥

जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। इन्हें चोल राजवंश का राजकुमार अनुमानित किया जाता है। इनके पिता उरगपुर (उरैपुर) के क्षत्रिय राजा थे। यह स्थान कावेरी नदी के तट पर फणिमण्डल के अन्तर्गत अत्यन्त समृद्धिशाली माना गया है। श्रवणबेलगोला के दोरवली जिनदास शास्त्री के भण्डार में पाई जाने वाली आप्तमीमांसा की प्रति के अन्त में लिखा है-''**इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिप सूनोः श्री स्वामी समंतभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्**'' -इस प्रशस्तिवाक्य से स्पष्ट है कि समंतभद्र स्वामी का जन्म क्षत्रियवंश में हुआ था और उनका जन्मस्थान उरगपुर (कांची नगरी) है। इनका जन्म नाम शांतिवर्मा बताया जाता है। **मुनिदीक्षा और भस्मकव्याधि**-मुनिदीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जब वे मणुवकहल्ली स्थान में विचरण कर रहे थे कि उन्हें भस्मक व्याधि नामक भयानक रोग हो गया जिससे दिगम्बर मुनिचर्या का निर्वाह उन्हें अशक्य प्रतीत हुआ। तब उन्होंने गुरु से समाधिमरण धारण करने की इच्छा व्यक्त की। गुरु ने भावी होनहार शिष्य को आदेश देते हुए कहा-'आपसे धर्मप्रभावना की बड़ी-बड़ी आशायें हैं अतः आप दीक्षा छोड़कर रोग शमन का उपाय करें, रोग दूर होने पर पुनः मुनिदीक्षा ग्रहण करके स्व-पर कल्याण करें।' गुरु की आज्ञानुसार समंतभद्र रोगोपचार हेतु जिनमुद्रा छोड़कर सन्यासी बन गए और इधर-उधर विचरण करने लगे। एक समय वाराणसी में शिवकोटि राजा के शिवालय में जाकर राजा को आशीर्वाद दिया और 'शिवजी को मैं खिला सकता हूँ' ऐसी घोषणा की। राजा की अनुमति प्राप्त कर समंतभद्र शिवालय के किवाड़ बंद कर उस नैवेद्य को स्वयं ही खा (भक्षण) कर रोग को शांत करने लगे। शनैः शनैः उनकी व्याधि का उपशम होने लगा अतः भोग की सामग्री बचने लगी तब राजा को संदेह हो गया अतः गुप्तरूप से उसने इस रहस्य का पता लगा लिया। तब समंतभद्र से उन्होंने शिवजी को नमस्कार करने के लिए प्रेरित किया। समंतभद्र ने इसे उपसर्ग समझकर चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति प्रारम्भ की। जब वे चन्द्रप्रभ की स्तुति कर रहे थे कि शिव की पिंडी से भगवान चन्द्रप्रभ की प्रतिमा प्रकट हो गई। समंतभद्र के इस माहात्म्य को देखकर शिवकोटि राजा अपने भाई शिवायन सहित उनके शिष्य बन गए। यह कथानक 'राजाबलिकाथे' में उपलब्ध है।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार (मंगलाचरण)

नमः श्रीवर्धमानाय, निर्धूत कलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्या दर्पणायते ॥1॥
कर्म कलिल नाशी भगवान, वर्धमान पद नमन प्रधान।
लोकालोक प्रकाशक ज्ञान, दर्पण वत् अति शोभामान॥

अन्वयार्थ - **आत्मने** = अपने (आत्मा के), **कलिल** = कर्म रूपी कालिमा को, **निर्धूत**=नष्ट कर दिया है जिन्होंने (ऐसे उन), **श्री वर्द्धमानाय** = श्री महावीर स्वामी के लिए अथवा चौबीस तीर्थंकरों के लिये, **नमः**=नमस्कार हो, **यद्विद्या**= जिनका केवलज्ञान, **साऽलोकानां**=आलोक सहित, **त्रिलोकानाम्**=तीनों लोकों को, **दर्पणायते**=दर्पण के समान अनुभव करता है।

अर्थ :- जिन्होंने आत्मा में लगी हुई कर्म रूपी कालिमा को नष्ट कर दिया है जिनके केवलज्ञान के आलोक में तीनों लोक दर्पण के समान दिखाई देते हैं, ऐसे उन श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार हो।

उद्देश्य या धर्म का लक्षण

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे ॥2॥
समीचीन हम कहते धर्म, जिससे लेश न रहते कर्म।
दुःख से जीव को यही बचाय, शिव सुख में ले जा पहुँचाय॥

अन्वयार्थ :- **यो**=जो, **सत्तवान्**=जीवों को, **संसार**=संसार के, **दुःखतः**=दुःखों से (निकाल कर) , **उत्तमे**=उत्तम, **सुखे**=सुख में, **धरति**= पहुँचाता है, **कर्म**=कर्मों का, **निवर्हणम्**=नाश करता है उस, **समीचीनं**=समीचीन, **धर्मं**= धर्म को (मै), **देशयामि**= कहूंगा ।

अर्थ :- जो जीवों को संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख में धरता है, पहुँचाता है उस कर्मों के नाशक समीचीन धर्म को मैं कहता हूँ ।

धर्म का लक्षण

सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वराः विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धतिः ॥3॥

सुदृष्टि सुज्ञान व्रतवान, धर्म के ईश्वर कहें महान।
मिथ्यातम संसार भ्रमाय, जग में बहु दुःख क्लेश उठाय॥

अन्वयार्थ :- **सद्दृष्टि** = सम्यग्दर्शन, **ज्ञान**= ज्ञान, **वृत्तानि**= चारित्र को, **धर्मेश्वरा**= धर्म के ईश्वर (तीर्थंकर) , **धर्मं**= धर्म, **विदुः** = कहते हैं (परन्तु इनसे उल्टे), **यदीयप्रत्यनी कानि** = इनसे उल्टे मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र, **भवपद्धतिः**= संसार में भ्रमण कराने वाले, **भवन्ति**= होते हैं ।

अर्थ :- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र को धर्म के ईश्वर (तीर्थंकर देव) धर्म कहते हैं, और इनसे उल्टे अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र संसार में भ्रमण कराने के कारण हैं ।

सम्यक्ग्दर्शन का लक्षण

श्रद्धानं परमार्थाना, माप्तागम तपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं, सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥4॥
देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान, त्रिमूढ़ा बसु मद बिन जान।
निःशंकित आदिक गुण सात, सद् दर्शन कहते जिन नाथ॥

अन्वयार्थ :- **परमार्थनां**= परमार्थ भूत सच्चे, **आप्त**= देव, **आगम**= शास्त्र, **तपो भृताम्** = गुरू का, **त्रिमूढापोढं** = तीन मूढता रहित, **अष्टाङ्गं**= अष्ट अंग सहित, **अस्मयम्**= आठ मद रहित, **श्रद्धानं**= श्रद्धान, **सम्यग्दर्शन**= सम्यग्दर्शन कहलाता है।

अर्थ :- सच्चे देव, शास्त्र, गुरू का तीन मूढ़ता रहित, आठ अंग सहित, आठ मद रहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

सच्चे देव का लक्षण

आप्तेनोच्छिन्न - दोषेण, सर्वज्ञे - नागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥5॥
दोष रहित सर्वज्ञ कहाये, आग मेष हो आप्त लहाये।
नियम से यह सब ही को पाय, वर्ना आप्त नहीं कहलाये॥

अन्वयार्थः- **आप्तेन**= सच्चा देव, **नियोगेन**= नियम से, **दोषेण उच्छिन्न** = अठारह दोष रहित वीतराग, **सर्वज्ञेन**= सर्वज्ञ और, **आगमेशिना**= हितोपदेशी, **भवितव्यं** = होना चाहिए, **अन्यथा**= ऐसा न होने पर, **आप्ततः**= सच्चा

देवपना, **न भवेत्** = नहीं होता ।

अर्थ :- सच्चा देव, नियम से, अठारह दोष रहित वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होना चाहिए ऐसा न होने पर सच्चा देवपना नहीं हो सकता ।

वीतराग का लक्षण

क्षुत्पिपासा जरातङ्क, जन्मान्तकभयस्मयाः ।
न रागद्वेष मोहश्च, यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥6॥

क्षुधा तृषा विस्मय भय रोग, जन्म मरण मद आरति शोक।
राग द्वेष विस्मय अरु खेद, आश्चर्य चिन्ता मोह बिन स्वेद॥

अन्वयार्थ :- **यस्य**= जिसके, **क्षुत्**= भूख, **पिपासा** = प्यास, **जरा**= बुढ़ापा, **आतङ्क**= रोग, **जन्म**=जन्म, **अन्तक**= मरण, **भय**= भय, **स्मयाः**= गर्व, **रागद्वेष**= रागद्वेष, **मोहः**= मोह, **च**= और (आश्चर्य, अरति, खेद, शोक, निद्रा चिन्ता तथा स्वेद),**न**= नहीं होते हैं, **सः**= वह, **आप्तः**= वीतराग, **प्रकीर्त्यते**= कहा जाता है।

अर्थ :- जिसके भूख, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह और आश्चर्य, अरति, खेद, शोक, चिंता, निद्रा तथा स्वेद नहीं होते वे वीतराग कहे जाते हैं।

हितोपदेशी का लक्षण

परमेष्ठी परंज्योतिः, विरागो विमलः कृती ।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः, सार्वः शास्तो-पलाल्यते ॥7॥

परम ज्योति परमेष्ठी कृत, विमल विराट और सर्वज्ञ।
आदि मध्य अरु अंत विहीन, शास्ता आप्त ब्रह्म गुण लीन॥

अन्वयार्थ :- **परमेष्ठी**= जो परमपद में स्थित है, **परंज्योति**= केवलज्ञान सहित, **विरागो**= रागादि भाव कर्म से रहित, **विमलः**= घातिया कर्म रूप द्रव्य कर्म रहित, **कृती**= कृतकृत्य, **सर्वज्ञः** = सर्वज्ञ, **अनादि मध्यान्तः** = आदि, मध्य, अन्त से रहित (और), **सार्वः**= समस्त जीवों का हितकारक होता है, **सः**= वह, **शास्ता** = हितोपदेशी, **उपलाल्यते** = कहलाता है।

अर्थ :- जो परमपद पर स्थित हैं, केवलज्ञान से युक्त हैं और रागादिक भाव कर्म रहित घातिया कर्म रूप द्रव्य कर्म रहित, कृतकृत्य, आदि, मध्य, अन्त से

रहित हैं और समस्त जीवों के हित कारक हैं वह शास्ता (हितोपदेशी) हैं ।

वीतराग देव के उपदेश में राग का अभाव

अनात्मार्थं विना रागैः, शास्ता शास्ति सतो हितम् ।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्- मुरजः किमपेक्षते ॥8॥

कर्म कलिल नाशी भगवान, वर्धमान पद नमन प्रधान।
लोकालोक प्रकाशक ज्ञान, दर्पण वत अति शोभामान॥

अन्वयार्थ :- **शास्ता**= हितोपदेशी, **अनात्मार्थं** = आत्मीय प्रयोजन बिना, **रागैःविना** = राग-द्वेष बिना, **सतो** = भव्य जीवों को, **हितम्** = हितकारक, **शास्ति**= उपदेश देते हैं (जैसे), **शिल्पि**= बढ़ई के (बजाने वाले के) **कर स्पर्शान्** = कर के स्पर्श से, **ध्वनन्** = बजता हुआ, **मुरजः** = मृदंग, **किम्**= क्या, **अपेक्षते** = चाहता है ? अर्थात् कुछ नहीं चाहता ।

अर्थ :- हितोपदेशी इच्छा रहित रागद्वेष आदि के बिना भव्य जीवों को हितकारक उपदेश देता है, जैसे बजाने वाले के हाथ के स्पर्श से बजता हुआ मृदंग क्या चाहता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं चाहता।

सच्चे शास्त्र का लक्षण

आप्तोपज्ञ मनुल्लंघ्य - मदृष्टेष्ट विरोधकम् ।
तत्त्वोपदेश कृतसार्वं - शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥9॥

आप्त कथित अनुलंघ्य जो होय, अविरोधी दृष्टेष्ट है सोय।
तत्त्वोपदेश जगत् हितकार, शास्त्रा कुपथ का नाशनहार॥

अन्वयार्थ :- **आप्तोपज्ञं**= सच्चे देव का कहा हुआ, **अनुल्लङ्घ्यम्** = खण्डन रहित, **अदृष्ट**= प्रत्यक्ष, **इष्टविरोधकम्**= अनुमान आदि प्रमाणों से विरोध रहित, **तत्त्वोपदेश**= सातों तत्वों का उपदेश, **कृत्**= करने वाला, **सार्वम्**= सब जीवों का हितकारक और, **कापथ**= मिथ्या आदि कुमार्ग का, **घट्टनम्**= खण्डन करने वाला, **शास्त्रं**= सच्चा शास्त्र है।

अर्थ :- जो वीतराग देव द्वारा कहा गया है, खण्डन रहित अर्थात् अनुलंघनीय है। प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणों के विरोध से रहित है, वस्तु स्वरूप का प्रतिपादक है, सब जीवों का हितकारक है और मिथ्यात्व को नष्ट करने वाला है, वह सच्चा शास्त्र है।

सच्चे गुरू का लक्षण

विषयाशा वशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यान तपोरक्तः, तपस्वी स प्रशस्यते ॥10॥
विषयाशा के नाशनहार, नहिं आरम्भ परिग्रह धार ।
ज्ञान ध्यान तप लीन विशेष, श्रेष्ठ संत वे कहे जिनेश॥

अन्वयार्थ :- विषयाशा= विषय की चाह के, **वशातीता:**= वश से रहित, **निरारम्भा:**= आरंभ से रहित, **अपरिग्रह:**= परिग्रह रहित और, **ज्ञान ध्यान**= ज्ञान ध्यान तथा, **तपो**= तप में , **रक्त:**= लवलीन है, **स:**= वे, **तपस्वी**= सच्चे गुरू, **प्रशस्यते**= प्रशंसनीय (कहलाते) हैं।

अर्थ :- जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों की आशा से रहित हैं, आरम्भ, परिग्रह से रहित हैं और ज्ञान,ध्यान, तप में लीन रहते हैं , वे सच्चे गुरू हैं।

निःशंकित अंग का लक्षण

इदमेवे - दृशमेव, तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा ।
इत्यकम्पाऽय साम्भोवत्, सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥11॥
तत्त्व यही यूँ ही कहलाय, ना ही अन्य अन्यथा पाय।
ज्यों हटता नहिं असि जल जान, त्यों निःशंकित अंग सुजान॥

अन्वयार्थ :- तत्त्वं= तत्त्व (परमार्थ स्वरूप), **इदं**= यह, **एव**= ही है, **ईदृशम्**= इस प्रकार, **एव**= ही है, **अन्यत्**= अन्य, **न**= नहीं है (और), **अन्यथा**= अन्य प्रकार भी, **न**= नहीं है, **इति**= इस प्रकार, **सन्मार्गे**= सच्चे देव शास्त्र गुरू के विषय में, **आयसाम्भोवत्**= तलवार की धार पर रखे हुए पानी के समान, **अकंपा**= अटल, **रुचि:**= श्रद्धान, **असंशय:**= निःशंकित अंग कहलाता है।

अर्थ :- परमार्थ स्वरूप तत्त्व का लक्षण यह ही है, इस प्रकार ही है, और नहीं है, अन्य किसी प्रकार भी नहीं है। इस प्रकार (सच्चे देव शास्त्र गुरू के विषय में), तलवार की धार पर रखे हुए पानी के समान अटल श्रद्धान निःशंकित अंग कहलाता है।

निःकांक्षित अंग का लक्षण

कर्मपरवशे सान्ते, दुःखै रन्त रितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था, श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥12॥

कर्माश्रित बाधित सह अन्त, पाप बीज दुख सहित अनन्त।
इन्द्रिय सुख में नहिं श्रद्धान, ताको निःकांक्षित गुण मान॥

अन्वयार्थ :- कर्म= कर्मों के, **परवशे**= अधीन, **सान्ते**= नश्वर, **दुःखै**= दुःखों से, **अन्तरितोदये**=मिश्रित और , **पाप बीजे**= पाप के कारण, **सुखे**= इंद्रिय संबंधी सुख में, **अनास्था**= इच्छा रहित, **श्रद्धान**= श्रद्धान, **अनाकाङ्क्षणा**= निःकांक्षित अंग, **स्मृता**= कहलाता है।

अर्थ :- कर्म के अधीन शारीरिक और मानसिक दुःखों से मिश्रित पाप के कारण इन्द्रिय संबंधी सुखों में अनित्य रूप श्रद्धान निःकांक्षित अंग कहलाता है।

निर्विचिकित्सा अंग का लक्षण

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रय पवित्रते ।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता, निर्विचिकित्सिता ॥13॥
अशुचि स्वभावी देह पिछान, रत्नत्रय से पावन मान।
तजकर प्रीति जो पाय, निर्विचिकित्सा गुण कहलाय॥

अन्वयार्थ :- स्वभावत:= स्वरूप (स्वभाव) से, **अशुचौ**= अपवित्र किन्तु, **रत्नत्रय**= रत्नत्रय से, **पवित्रते**= पवित्र, **काये**= शरीर में, **निर्जुगुप्सा**= ग्लानि रहित, **गुण प्रीति:**= गुणों में प्रेम करना, **मता**= माना गया है, **निर्विचिकित्सा**= निर्विचिकित्सा अंग ।

अर्थ :- स्वरूप (स्वभाव) से अपवित्र किन्तु रतनत्रय से पवित्र शरीर में ग्लानि रहित गुणों में प्रेम करना निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है।

अमूढ दृष्टि अंग का लक्षण

कापथे पथि दुःखानां, कापथस्थेऽप्यसम्मतिः ।
असंपृक्ति रनुत्कीर्ति, रमूढा दृष्टिरुच्यते ॥14॥
कुत्सित पथ पंथी दुखदाय, न प्रशंस सम्मती कराय।
जो सम्पर्क रहित कहलाय, अमूढ़ दृष्टिता को पा जाय॥

अन्वयार्थ :- दुःखानां= दुःखों के, **पथि**= कारण, **कापथे**= मिथ्यात्व आदि के विषय में, **अपि**= (और) भी, **कापथस्थे** = मिथ्यात्व आदि के धारक व्यक्ति के विषय में, **असम्मति:**= मन से सहमत न होना, **असम्पृक्ति:**= शरीर से सराहना नहीं करना, **अनुत्कीर्ति:**= वचन से प्रशंसा नहीं करना, **अमूढ़दृष्टि**=

अमूढ़दृष्टि अंग, **उच्यते**=कहा जाता है।

अर्थ :- दु:खों के कारण भूत मिथ्यात्व आदि के विषय में और मिथ्यात्व आदि के धारक व्यक्ति के विषय में मन से सहमत नहीं होना, शरीर से सराहना नहीं करना, वचन से प्रशंसा नहीं करना अमूढदृष्टि अंग कहलाता है।

उपगूहन अंग का लक्षण

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य, बालाशक्त जनाश्रयाम् ।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति, तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥15॥
स्वयं शुद्ध मारग पहचान, वालासक्त के आश्रित जान।
दोष होय पर ढांकेभक्त, उपगूहन में हो अनुरक्त॥

अन्वयार्थ :- **स्वयं**= स्वरूप से, **शुद्धस्य**= पवित्र, **मार्गस्य**= मोक्षमार्ग की, **बालाशक्त**= अज्ञानी और असमर्थ, **जनाश्रयाम्**= पुरूषों के द्वारा उत्पन्न हुई, **वाच्यतां**= निन्दा को, **यत्**=जो, **प्रमार्जन्ति**= छिपाते हैं, **तत्**= उस को, **उपगूहनम्**= उपगूहन अंग, **वदन्ति**= कहते हैं।

अर्थ :- स्वरूप से पवित्र मोक्षमार्ग की अज्ञानी और असमर्थ पुरूषों के द्वारा उत्पन्न हुई निन्दा को छिपाना उपगूहन अंग कहलाता है।

स्थितिकरण अंग का लक्षण

दर्शनाच्चरणाद्वापि, चलितां धर्मवत्सलै: ।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञै:, स्थिति करण मुच्यते ॥16॥
दर्शन चरित उभय से जान, चलित हों धर्मी मान।
सुस्थित पुनि जो करे कराय, स्थितिकरण अंग कहलाय॥

अन्वयार्थ:- **दर्शनात्**= दर्शन से, **वा**= अथवा, **चरणात्**= सम्यग्चारित्र से, **अपि**= भी, **चलतां**= डिगते हुए जीवों को, **धर्म वत्सलै:**= धर्म से प्रेम रखने वाले जीव के द्वारा, **प्रत्यवस्थापनं**=फिर से उसी में लगा देना, **प्राज्ञै:**=विद्वानों के द्वारा, **स्थितिकरणं** = स्थितिकरण अंग, **उच्यते**=कहा जाता है।

अर्थ :- सम्यग्दर्शन से अथवा सम्यक्चारित्र से भी डिगते हुए जीवों को धर्म से प्रेम रखने वाले जीवों के द्वारा फिर से उसी में लगा देना विद्वानों के द्वारा स्थितिकरण अंग कहा जाता है।

वात्सल्य अंग का लक्षण

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भाव, सनाथापेतकैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं, वात्सल्य मभिलप्यते ॥17॥
साधर्मी जन से सद्भाव, छल बल रहित है सरल स्वभाव।
यथा योग्य आदर सत्कार, विनयी के वात्सल्य सु धार॥

अन्वयार्थ :- **स्वयूथ्यान**= अपने साधर्मियों के, **प्रति**= प्रति, **सद्भावसनाथा**= अच्छे भाव (सरलता) सहित, **अपेतकैतवा** = मायाचारी से रहित, **यथा योग्यं**= यथायोग्य, **प्रतिपत्ति:**= आदर-सत्कार आदि काना, **वात्सल्यं**= वात्सल्य अंग, **अभिलप्यते**= कहा जाता है।

अर्थ:- अपने साधर्मियों के प्रति सरलता सहित, मायाचारी रहित, यथायोग्य आदर-सत्कार आदि करना वात्सल्य अंग कहा जाता है।

प्रभावना अंग का लक्षण

अज्ञान तिमिर व्याप्ति - मपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासन माहात्म्य, प्रकाश: स्यात्प्रभावना् ॥18॥
कर अज्ञान तिमिर का नाश, जिस किस विधि तें धर्म प्रकाश।
जिनशासन महिमा प्रगटाय, सो प्रभावना अंग कहाय॥

अन्वयार्थ :- **यथा यथम्**= जैसे-तैसे (समुचित रीति से), **अज्ञान तिमिर**= अज्ञान रूपी अंधकार के, **व्याप्तिम्**= विस्तार को, **अपाकृत्य**= हटाकर, **जिन शासन**= जैन धर्म की, **माहात्म्य**=महिमा को, **प्रकाश:**= फैलाना, **प्रभावना**= प्रभावना अंग, **स्यात्**= होता है।

अर्थ:- समुचित रीति से अज्ञान रूपी अंधकार के विस्तार को हटाकर (दूर करके) जिन शासन की महिमा को प्रगट करना (फैलाना) प्रभावना अंग कहलाता है।

आठ अंगों में प्रसिद्ध व्यक्ति

तावदञ्जन चौरोऽङ्गे, ततोऽनन्तमती: स्मृता ।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि, तुरीये रेवती मता ॥19॥
ततो जिनेन्द्र भक्तोऽन्यो, वारिषेणस्तत: पर: ।
विष्णुश्च वज्रनामा च, शेषयोर्लक्ष्यतां गतौ ॥20॥

अंजन चोर प्रथम पहिचान, द्वितीय में अनन्त मति जान।
तृतीय में उद्दयान भूप, चौथे अंग में रेवती अनूप॥
पंचम जिनेन्द्र भक्त पहिचान, वारीषेण मुनि छटवे मान।
सप्तम विष्णु कुमार मुनिराय, अष्टम वज्र प्रसिद्धी पाय॥

अन्वयार्थ :- **तावत्**= क्रम से पहले, **अंगे**=अंग में, **अंजन चौरः**= अंजन चोर प्रसिद्ध है, **ततः**= दूसरे में, **अनंतमति**= अंनतमति रानी, **स्मृतः**= प्रसिद्ध हुई है, **तृतीये**= तीसरे अंग में, **उद्दयानः**= उद्दायन राजा हुआ है, **तुरीये**= चौथे अंग में, **रेवती**= रेवती रानी, **मता**= मानी गई है, **ततः**= पाँचवे (उपगूहन) अंग में, **जिनेन्द्र भक्तः**= जिनेन्द्र भक्त सेठ प्रसिद्ध हुआ है, **ततः**= उसके बाद (छठे अंग में), **वारिषेण**= वारिषेण राजा, **परः**= प्रसिद्ध हुआ है, **च**= और, **शेषयोः**= शेष दो अंगों (वात्सल्य व प्रभावना) में क्रम से, **विष्णुः**= विष्णुकुमार मुनि, **च**= और, **वज्रनामा**= वज्रकुमार मुनि, **लक्ष्यताम्**= प्रसिद्धि को, **गतौ**= प्राप्त हुए हैं ।

अर्थ :-क्रम से पहिले निःशंकित अंग में अंजन चोर, दूसरे निःकांक्षित अंग में अनन्तमति रानी, तीसरे निर्विचिकित्सा अंग में उद्दायन राजा, चौथे अमूढदृष्टि अंग में रेवती रानी, पाँचवे उपगूहन अंग में जिनेन्द्र भक्त सेठ, छठे स्थितिकरण में श्रेणिक राजा का पुत्र वारिषेण, सातवें वात्सल्य अंग में विष्णुकुमार मुनि और आठवें प्रभावना अंग में वज्रकुमार मुनि प्रसिद्ध हुये हैं ।

अंगहीन सम्यग्दर्शन की स्थिति

नाङ्गहीन मलं छेत्तुं, दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो, निहन्ति विषवेदनाम् ॥21॥

अंगहीन दर्शन जो होय, भव सन्तति ना खोवे सोय।
ज्यों अक्षर कम मंत्र विशेष, विषवेदन ना हरे अशेष॥

अन्वयार्थ :-जैसे **अक्षर न्यूनो** = अक्षर से न्यून **मन्त्रः** = मन्त्र, **विष वेदनाम्** = विष की पीड़ा को, **न निहन्ति** = नष्ट नहीं करता उसी प्रकार, **अंगहीनं**= अंगहीन, **दर्शनं** = सम्यग्दर्शन, **जन्म सन्ततिम्** = जन्मों की परंपरा को, **छेत्तुं** = नष्ट करने को, **अलं** = समर्थ, **न** = नहीं होता है।

अर्थ :- जैसे अक्षर हीन मंत्र विष की पीड़ा को नष्ट नहीं करता, उसी प्रकार

अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्मों की परम्परा को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता।

लोक मूढता का लक्षण

आपगा सागर स्नान, मुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्नि पातश्च, लोकमूढं निगद्यते ॥22॥

धर्म मान सर सहित नहाय, रेत उपल को ढेर लगाय।
पर्वत पतित अगनि पत जाय, लोक मूढ़ता के दुख पाय॥

अन्वयार्थ :- **आपगासागर**= नदी और समुद्र में ,**स्नानं**= स्नान करना, **सिक ताश्मनाम्**= बालू और पत्थर का, **उच्चयः**= ढेर लगाना, **गिरिपातः**= पर्वत से गिरना, **च**= और, **अग्निपातः**= अग्नि में कूंदना, **लोकमूढं**= लोक मूढता, **निगद्यते**= कही जाती है।

अर्थ :- नदी और समुद्र में स्नान करना, बालू और पत्थरों का ढेर लगाना, पर्वत से गिरना और अग्नि में जलना (कूदना) लोक मूढता है।

देव मूढ़ता का लक्षण

वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेष मलीमसः ।
देवता यदुपासीत, देवता मूढमुच्यते ॥23॥

वरोपलिप्स अति आशावान, रागद्वेष से मलिन महान
इस प्रकार आराधन वान, देव मूढ़ता धारी मान॥

अन्वयार्थ :- **आशावान्**= लौकिक फल की इच्छा करने वाला प्राणी, **वरोपलिप्सया**= वर की इच्छा से, **यत्**= जो, **राग-द्वेष**= राग-द्वेष से, **मलीमसाः**= मलीन, **देवताः**= देवताओं को, **उपासीत**= पूजता है, **तत**= वह, **देवता मूढं**= देव मूढता, **उच्चते**= कही जाती है।

अर्थ :- लौकिक फल की आशा से, वर की इच्छा से, राग-द्वेष से मलिन देवताओं की जो उपासना की जाती है वह देव मूढता कही जाती है।

गुरू मूढ़ता का लक्षण

सग्रन्थारम्भ हिंसानां, संसारावर्त वर्तिनाम् ।
पाषण्डिनां पुरस्कारो, ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥24॥

आरम्भ परिग्रह हिंसावान, मैं भव भ्रमण का कारण जान।
कुगुरुन सेवा करे कराय, पाखण्ड भ्रमण जानी जाय॥

अन्वयार्थ :- **सग्रन्थः**= परिग्रह, **आरंभ**= आरंभ, **हिंसानां**= हिंसा सहित, **संसारावर्त**= संसार रूपी चक्र में, **वर्तिनाम्**= भटकने वाले, **पाषण्डिनां**= पाखण्डी साधुओं का, **पुरस्कारः**= आदर, सम्मान करना, **पाषण्ड मोहनम्**= गुरू मूढ़ता, **ज्ञेयं**= जानना चाहिये ।

अर्थ :- परिग्रह, आरंभ और हिंसा सहित संसार रूपी चक्र में भटकने वाले पाखण्डी साधुओं का आदर, सम्मान, पूजा आदि करना गुरू मूढ़ता जानना चाहिये ।

मद का लक्षण और भेद

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बल-मृद्धिं तपो वपुः ।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मय माहुर्गतस्मयाः ॥25॥
ज्ञान ऋद्धि पूजा बलवान, तप कुल तन जाती मद मान।
इन सब के आश्रित मद जान,मद विजयी जिन कहे महान॥

अन्वयार्थः- **ज्ञानं**= ज्ञान, **पूजां**= प्रतिष्ठा, **कुलं**= कुल, **जातिं**= जाति, **बलं**= बल, **ऋद्धिं**= धन, सम्पत्ति, **तपः**= तप और, **वपुः**= शरीर, **अष्टौ**= इन आठों को, **आश्रित्य**= निमित्त करके, **मानित्वं**=घमण्ड करने को, **गतस्मयाः**= गर्व रहित जिनेन्द्र देव, **स्मयं**= मद, **आहुः**= कहते हैं।

अर्थ :- ज्ञान, पूजा,कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठों का आश्रय लेकर जो गर्व करता है मद रहित पुरूष (सर्वज्ञ भगवान) उसे मद कहते हैं।

मद से हानि

स्मयेन योऽन्या-नत्येति, धर्मस्थान गर्विताशयः ।
सोऽत्येति धर्म-मात्मीयं, न धर्मो धार्मिकैर् बिना ॥26॥
अहंकार वश हो इन्सान, धर्मी का अपमानी मान।
धर्मी बिना धर्म नहिं होय, निज के धर्म को ही वह खोय॥

अन्वयार्थ :- **यः**= जो, **गर्विताशयः**= घमण्डी, **स्मयेन**= घमण्ड से, **अन्यान्**= दूसरे, **धर्म स्थान**= रत्नत्रय के धारक धर्मात्मा जनों को, **अत्येति**= अपमानित करता है, वह व्यक्ति, आत्मीयं=अपने, **धर्मं** = धर्म को (एव) (ही), **अत्येति**= अपमानित करता है क्योंकि, **धार्मिकैर्बिना**= धर्मात्माओं के बिना, **धर्मो**= धर्म, **न**= नहीं होता ।

अर्थ :- जो घमण्डी घमण्ड से दूसरे रत्नत्रय के धारक धर्मात्मा जनों को अपमानित करता है, वह व्यक्ति अपने धर्म को ही अपमानित करता है, क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता है।

सम्पदा से क्या प्रयोजन

यदि पापनिरोधोऽन्य, संपदा किं प्रयोजनम् ।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्य, संपदा किं प्रयोजनम् ॥27॥
पाप का यदि हो जाय निरोध, नहीं काम धन का हो बोध।
यदि पापास्रव बढ़ता जाय, तो फिर धन क्या काम बनाय॥

अन्वयार्थ :- **यदि**= अगर, पाप **निरोधः**= पाप का निरोध हो गया हो तो, **अन्यसम्पदा**= दूसरी संपदाओं से, **किं**= क्या, **प्रयोजनम्**= प्रयोजन है (मतलब है), **अथ**= यदि, **पापास्रवः**= पाप का आस्रव, **अस्ति**= है तो, **अन्य सम्पदा**= दूसरी संपदाओं से, **किं**= क्या, **प्रयोजनम्**= मतलब है।

अर्थ :- यदि पाप का निरोध हो गया है तो अन्य सम्पदा से क्या प्रयोजन है, यदि पाप का आस्रव है तो दूसरी सम्पदाओं से क्या प्रयोजन है।

सम्यग्दर्शन की विशेषता

सम्यग्दर्शन सम्पन्न मपि, मातङ्ग देहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढाङ्.- गारान्त रौजसम् ॥28॥
सद्दर्शन मातङ्ग जो पाय, देवों से सत्कार कराय।
ज्यों अग्नी पर भस्म दिखाए, तेज किन्तु अन्तर में पाय॥

अन्वयार्थ :- **देवाः**= जिनेन्द्र देव, **सम्यग्दर्शन सम्पन्न** = सम्यग्दर्शन से सहित, **मातङ्ग देहजम्**= भंगी के शरीर को (जमादार), **अपि**= भी, **भस्म**= राख के, **गूढाङ्गारान्तर**= भीतर ढके हुए अंगार के भीतरी, **औजसम्**= प्रकाश के समान, **देवं**= पूज्य, **विदुः**= कहते हैं ।

अर्थ :- जिनेन्द्र देव सम्यग्दर्शन सहित भंगी (जमादार) के शरीर भी राख के भीतर ढके हुए अंगार के भीतरी प्रकाश के समान पूज्य (श्रेष्ठ) कहते हैं।

धर्म और पाप का फल

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा, जायते धर्मकिल्विषात् ।
कापि नाम भवेदन्या, संपद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥29॥

श्वान धर्म से सुर पद पाय, देव पाप तें श्वान हो जाय।
सम्पत्ति न धर्म सम कोय, अनुपम धन मानव का होय॥

अन्वयार्थ :- **धर्म**= धर्म और, **किल्विषात्**= पाप से, **श्वाः**= कुत्ता, **अपि**= भी, **देवः** =देव, (और) **देवः**= देव, **अपि**= भी, **श्वाः** =कुत्ता, **जायते**= हो जाता है और, **शरीरिणाम्**= जीवों के, **धर्मात्**= धर्म से, **काऽपि नाम अन्या** = कोई अपूर्व अन्य भी, अनिर्वचनीय (मोक्षादि), **सम्पत्**= संपदा, **भवेत्**= प्राप्त होती है ।

अर्थ :- धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है और पाप के कारण देव भी कुत्ता हो जाता है धर्म के प्रभाव से जीवों को अन्य भी अनिर्वचनीय (अहमिन्द्र, मोक्षादि) सम्पदा प्राप्त होती है।

कुदेवादि की विनयादि का निषेध

भयाशास्नेह लोभाच्च, कुदेवागम लिङ्गिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न, कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥30॥

भय आशा स्नेह अरु लोभ, के वश से हो मन में क्षोभ।
कुगुरु देव शास्त्र को पाय, विनय नमन उसको न भाय॥

अन्वयार्थ :- **शुद्ध दृष्टयः**= शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव, **भयाशा**= भय, आशा, **स्नेह**= स्नेह, **लोभात्**= लोभ से भी, **कुदेवागम**= कुदेव कुशास्त्र और, **लिङ्गिनाम्**= कुगुरूओं को, **प्रणामं**= नमस्कार, **च**= और, **विनयं**= विनय, **एव**= भी (ही), **न कुर्युः**= नहीं करें ।

अर्थ :- शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा, प्रेम और लोभ के वशीभूत होकर कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरूओं को नमस्कार विनय आदि भी नहीं करें ।

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्रधानता

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्- साधिमान मुपाश्नुते ।
दर्शनं कर्णधारं, तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते ॥31॥

कर्णधार दर्शन है जान, मार्ग मोक्ष का नेता मान।
ज्ञान चरित दर्शन से श्रेष्ठ, दर्शन विन है सभी अश्रेष्ठ॥

अन्वयार्थ :- **ज्ञान चारित्रात्** = ज्ञान चारित्र की अपेक्षा, **दर्शनं**= सम्यग्दर्शन, **साधिमानं**= उत्कृष्टपने को, **उपाश्नुते**= प्राप्त होता है, **तत्** = वह, **दर्शनं**=

सम्यग्दर्शन, **मोक्षमार्गे**= मोक्षमार्ग में, **कर्णधारं**= खेवटिया के समान, **प्रचक्षते**= कहा गया है।

अर्थ :- सम्यग्ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन उत्कृष्टपने को प्राप्त होता है, इसलिये सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग में खेवटिया के समान कहा गया है।

मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्रधानता का कारण

विद्यावृत्तस्य संभूति, स्थितिवृद्धि फलोदयाः ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे, बीजाभावे तरोरिव ॥32॥

बीजाभाव में तरु ना होय, रक्षा फल ना फलते सोय।
त्यों दर्शन बिन ज्ञानाचार, जगे बढ़े ना फल दातार॥

अन्वयार्थ :- **बीजाभावे** = बीज के अभाव में, **तरोरिव**= वृक्ष के समान, **सम्यक्त्वे**= सम्यग्दर्शन के, **असति**= न होने पर, **विद्या वृत्तस्य**= सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की, **संभूति**= उत्पत्ति, स्थिति वृद्धि तथा, **फलोदयाः**= फल की प्राप्ति, **न सन्ति**= नहीं होती है।

अर्थ :- जिस तरह बीज के न होने पर वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फ ल की सम्पत्ति नहीं बनती उसी प्रकार सम्यक्त्व दर्शन के न होने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और फलों की सम्पत्ति नहीं बनती ।

सम्यग्दर्शन का प्रभाव

गृहस्थो मोक्ष मार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥33॥

सद्गृहस्थ है मुनि से श्रेष्ठ, मोह त्याग में हो यदि ज्येष्ठ।
मोक्ष मार्ग गृहि बढ़ता जाय, मोही मुनि से श्रेष्ठ कहाय॥

अन्वयार्थ :- **निर्मोहो**= मोह रहित, **गृहस्थो** = गृहस्थ, **मोक्षमार्गस्थो**= मोक्षमार्ग में स्थित है किन्तु, **मोहवान्**= मोह सहित, **अनगारः**= मुनि, **नैव**=(मोक्षमार्ग में स्थित) नहीं है (इसलिये), **मोहिनो**= मिथ्यादृष्टि, **मुनेः**= मुनी से, **गृही**= गृहस्थ, **श्रेयान्** = श्रेष्ठ है ।

अर्थ :- दर्शन मोह रहित सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है किन्तु दर्शन मोह सहित द्रव्यलिंगी मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है इस कारण से द्रव्यलिंगी मुनि से दर्शन मोह रहित गृहस्थ श्रेष्ठ है।

सम्यग्दर्शन उत्कृष्ट क्यों है ?

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व, समं नान्यत्तनूभृताम् ॥34॥

सत्श्रद्धा सम कछु नहिं मान, तीन लोक तिय काल में जान।
जग जीवों का हितू महान, मिथ्या अहित करे श्रद्धान॥

अन्वयार्थ :- **त्रैकाल्ये**= तीनों काल में (और), **त्रिजगति**= तीन जगत में, **तनूभृताम्** = संसारी जीवों को, **सम्यक्त्वसमं** = सम्यक्त्व के समान, **अन्यत्**= दूसरा, **किंचित्**=कुछ, **अपि**=भी, **श्रेयःन**= कल्याणकारी नहीं है, **च**= और, **मिथ्यात्व समं** = मिथ्यात्व के समान, **अन्यत्**= दूसरा , **किंचित्**= कुछ, **अपि**= भी, **अश्रेयःन**= अकल्याणकारी नहीं है।

अर्थ :- तीनों कालों में और तीनों लोकों में जीवों को सम्यक्त्व के समान कोई दूसरा उपकारक नहीं है। और मिथ्यात्व के समान कोई दूसरा अनुपकारक (अहित रूप) नहीं है।

सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति का निषेध

सम्यग्दर्शन शुद्धा नारक, तिर्यङ्. नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुल विकृताल्पायु र्दरिद्रतां च, व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥35॥

सम्यक् दर्शन जो नर पाय, अल्पायु पशु नरक ना जाय।
दुष्कुल दारिद्र विकल न होय, व्रत से रहित जीव हो कोय॥

अन्वयार्थ :- **सम्यग्दर्शन शुद्धा** = सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव, **अव्रतिकाः**= व्रत रहित होन पर, **अपि** = भी, **नारकातिर्यङ्** = नारकी, तिर्यंच, नपुंसक स्त्री **त्वानि**=नपुंसक और स्त्री पर्याय को, **च**= और, **दुष्कुल**= नीच कुल, **विकृत**=विकल अंग, **अल्पायु** := अल्प आयु और, **दरिद्रतां** = दरिद्रपने को, **न**=नहीं, **व्रजन्ति** = प्राप्त होते हैं ।

अर्थ :- व्रत रहित भी शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नारकी, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्रीपने को प्राप्त नहीं होते हैं और निन्द्य कुल, विकलांगता, अल्पायु और दरिद्रता को भी प्राप्त नहीं होते ।

सम्यग्दृष्टि मरने पर कहां उत्पन्न होते है ?

ओजस्तेजोविद्या, वीर्य यशोवृद्धिविजय विभव सनाथाः।
महाकुला महार्था, मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥36॥

ओज तेज विद्या यश वृद्धि, वीर्य विभव कुल जगत प्रसिद्धि
मानव तिलक विजय विख्यात, महा अर्थ समदृष्टि पात॥

अन्वयार्थ :- **दर्शन पूताः**= सम्यग्दर्शन से पवित्र जीव, **ओजस्तेजो**= कांति, प्रताप, **विद्यावीर्य्य**= विद्या, पराक्रम, **यशोवृद्धि**= कीर्ति वृद्धि, **विजय** = युद्ध आदि में विजय, **विभव सनाथाः**= सम्पत्ति के स्वामी, **महाकुला**= महान कुल वाले, **महार्था**= महान पुरूषार्थों के साधक तथा, **मानव तिलका**= मनुष्यों में शिरोमणि, **भवन्ति**= होते हैं ।

अर्थ :- शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव, ओज, कांति, विद्या, उन्नति, विजय, और सम्पत्ति के स्वामी, उच्चकुली, और मनुष्यों में शिरोमणि होते है।

सम्यग्दृष्टि की विशेषता

अष्टगुण पुष्टितुष्टा, दृष्टि विशिष्टाः प्रकृष्ट शोभाजुष्टाः
अमराप्सरसां परिषदि, चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥37॥

अष्टऋद्धि गुण शोभावान, दृष्टि विशिष्ट पुष्ट हो मान।
अमर अप्सरा परिषदि पाय, जिन भक्ति में जो जम जाय॥

अन्वयार्थ :- **दृष्टि विशिष्टाः**= सम्यग्दृष्टि जीव, **जिनेन्द्र भक्तः**= जिनेन्द्र देव के भक्त, **स्वर्गे**= स्वर्ग में, **अष्ट गुण पुष्टि तुष्टाः**= अणिमा आदि आठ गुणों से संतुष्ट, दिव्य शरीर से पुष्ट तथा, **प्रकृष्ट शोभा जुष्टाः**= अतिशय शोभा से युक्त होकर, **अमर**= देव (तथा) **अप्सरसां**= देवांगनाओं की, **परिषदि**= सभा में, **चिरं**= चिरकाल तक, **रमन्ते**= रमण करते हैं ।

अर्थ :- सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र देव के भक्त होते हुए स्वर्ग में अष्ट ऋद्धियों की पूर्णता से संतुष्ट और विशेष सुंदरता सहित होते हुए देवों तथा अप्सराओं की सभा में चिरकाल तक रमण करते हैं।

सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती होते हैं

नवनिधि सप्तद्वय रत्नाधीशाः सर्व भूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्त्तयितुं प्रभवन्ति, स्पष्टदृशः क्षत्र मौलिशेखर चरणाः ॥38॥

नव निधि चौदह रत्नधीश, भूप झुकाते पद में शीश।
चक्रवर्ति षट्खण्ड का स्वामि, विशद दृष्टि पाय जो नामि॥

अन्वयार्थ : - **स्पष्ट दृशः** = सम्यग्दृष्टि जीव, **सर्व भूमिपतयः**= षट्खण्ड पृथ्वि के अधिपति होकर, **चक्रम्** = चक्र रत्न, **वर्तयितुं** = प्रवर्ताने को, **प्रभवन्ति** = समर्थ होते हैं (कैसे हैं चक्रवर्ती), **नवनिधि** = नवनिधि, **सप्त द्वय**= चौदह, **रत्नाधीशाः** = रत्नों के स्वामी होते है, **क्षत्र मौलिशेखर चरणाः**= क्षत्रिय राजाओं के मुकुट शिखर उनके चरणों में झुकते हैं ।

अर्थ :- शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव अनेकानेक मुकुटबद्ध राजाओं से सेवनीय नवनिधि और चौदह रत्नों के स्वामी समस्त छः खण्डों के स्वामी होते हुए चक्ररत्न को प्रवर्ताने (चलाने) में समर्थ होते हैं।

सम्यग्दृष्टि ही तीर्थंकर होते हैं

अमरासुर नरपतिभि, र्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः ।
दृष्टया सुनिश्चितार्था , वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥39॥

अमर असुर पतियों के इन्द्र, चरण कमल में झुकें नरेन्द्र।
सम्यक्त्वी वृष चक्र को धार, तीर्थंकर बनते शुभकार॥

अन्वयार्थ :- **सुनिश्चितार्था** = जीवादि तत्त्व का दृढ़ निश्चय करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव, **दृष्टया**= सम्यक्त्व के प्रभाव से, **अमरासुर** = देवेन्द्र धरणेन्द्र, **नरपतिभिः** = नरेन्द्रों के द्वारा, **च**= और, **र्यमधर पतिभिः**= गणधरों के द्वारा , **नूतपादाम्भोजाः**= नमस्कार किये गये चरण कमल जिनके ऐसे, **लोक शरण्याः**= तीन लोक के जीवों के शरणभूत, **वृषचक्र धराः**= धर्म चक्र के धारक (तीर्थंकर), **भवन्ति** = होते हैं।

अर्थ :- जिन्होंने अनेकान्त दृष्टि से तत्त्व (अर्थ) का भलीभांति निश्चय किया है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव देवेन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती और गणधरों से पूजनीय हैं चरण कमल जिनके ऐसे तीनों लोकों के शरण भूत धर्मचक्र के धारक तीर्थंकर होते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव ही मोक्ष पद पाते हैं

शिव मजर मरुज मक्षय मव्याबाधं विशोक भय शङ्कम् ।
काष्ठागत सुख विद्या विभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥40॥

अजर अरुज शिव विमल अनुभूत, शुद्ध दृष्टि सुख विद्यापूत।
अक्षय अरुण बाधा से हीन, भय शंका अरु शोक विहीन॥

अन्वयार्थ :- **दर्शन शरणाः**= सम्यग्दर्शन की शरण लेने वाले जीव, **अजरं**= वृद्धावस्था रहित, **अरुजं**= रोग रहित, **अक्षयं**= विनाश रहित, **अव्याबाधं** = बाधारहित, **विशोक भय शंकम्** = शोक भय व शंका से रहित, **काष्ठा गत सुख विद्या-विभवं** = अनंतसुख व अनंतज्ञान के वैभव से युक्त, **विमलं**= कर्ममल रहित, **शिवं**= मोक्ष पद को, **भजन्ति** = प्राप्त होते हैं।

अर्थ :- सम्यग्दृष्टि जीव बुढ़ापा रहित, रोग रहित, क्षय रहित, बाधा रहित, शोक, भय और शंका से रहित, अनंत सुख तथा अनंत ज्ञान सहित और द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, रहित मोक्ष को भी प्राप्त करते हैं।

सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति के स्थानों पर उपसंहार

देवेन्द्रचक्र महिमान ममेय मानम् ,राजेन्द्र चक्र मवनीन्द्र शिरोर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्र चक्र मधरी कृतसर्वलोकम्, लब्ध्वा शिवं च जिनभक्ति रुपैति भव्यः ॥41॥

चक्री नृप देवेन्द्र सुश्रेष्ठ, धर्म चक्र के धारी ज्येष्ठ ।
जिनवर भक्त सभी के अग्र, शिवपद से हो जाय समग्र ॥

अन्वयार्थ :- **जिन भक्तिः**= जिनेन्द्र देव की भक्ति करने वाला, **भव्यः**= भव्य जीव, **अमेयमानं** = अपरिमित, **देवेन्द्र चक्र** = देवेन्द्र समूह की, **महिमान्** = महिमा को, **अवनीन्द्र** = राजाओं के, **शिरः**= मस्तक से, **अर्चनीयम्** =पूजनीय, **राजेन्द्र**= राजाओं के, इन्द्र चक्रवर्ती के, **चक्रम्**= चक्र को, **अधरीकृत**= नम्रीभूत किया है, **सर्वलोकं**= सर्वलोक को जिसने ऐसे, **धर्मेन्द्र** = धर्म के इन्द्र तीर्थंकर प्रभु के, **चक्रम्**= धर्म चक्र को, **लब्ध्वा**= प्राप्त कर, **च**= और, **शिवं** = मोक्ष को, **उपैति**= प्राप्त करता है।

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान में भक्ति रखने वाला भव्य सम्यग्दृष्टि जीव अपरिमित इन्द्र के ऐश्वर्य को और राजाओं के द्वारा मस्तक से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्न को और समस्त लोक को अपना उपासक बनाने वाले धर्मचक्र (तीर्थंकर पद) को प्राप्त कर मोक्ष को भी प्राप्त करता है।

द्वितीयोऽधिकारः

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

अन्यून मनतिरिक्तं, याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद, यदाहुस्तज्ज्ञान मागमिनः ॥42॥

हीनाधिक विपरीत न होय, निःसंदेह यथा जो कोय।
तत्त्व यथार्थ जाने मतिमान, जिनवर देव कहा सज्ज्ञान॥

अन्वयार्थ :- **यत्**= जो ज्ञान, **अन्यूनं**= न्यूनता रहित, **अनतिरिक्तं**= अधिकता रहित, **विपरीतात्**= विपरीतता, **विना**= रहित, **याथातथ्यं** = जैसा का तैसा, **निःसंदेह**= संदेह रहित, **वेद**=जानता है, **तत्**= उसको, **आगमिनः**= आगम के ज्ञाता पुरुष, **ज्ञानं**= सम्यग्ज्ञान, **आहुः**= कहते हैं ।

अर्थ :- जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित और संदेह रहित, जैसा का तैसा जानता है, उस ज्ञान को आगम के ज्ञाता (श्रुतकेवली) सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

प्रथमानुयोग का लक्षण

प्रथमानुयोग मर्थाख्यानं, चरितं पुराण मपि पुण्यम् ।
बोधि समाधिनिधानं, बोधति बोधः समीचीनः ॥43॥

परम प्रयोजक पुरुष पुराण, वोधि समाधि का चरित निधान
प्रथमानुपयोग जगत् विख्यात, सम्यक् बोध पुण्य दे भ्रात॥

अन्वयार्थ :- **समीचीनम्बोधः** = सम्यग्ज्ञान, **अर्थाख्यानं**= जिनमें धर्म, अर्थ आदि पुरुषार्थों के कथन है उन शास्त्रों को, **चरितं**= चरित्रों को, **पुराणमपि**= पुराण को भी, **प्रथमानुयोगम**= प्रथमानुयोग को, **बोधति**= जानता है (वह), **पुण्यम्**= पुण्य का कारण है, **बोधि समाधि**= बोधि समाधि की , **निधानं**= खानि है।

अर्थ :- जिस ग्रन्थ में चारों पुरुषार्थों का किसी एक महापुरूष के चारित्र और तिरेशठशलाका पुरूषों के चारित्र का वर्णन होता है उन कथा चारित्र और पुराण कहे जाने वाले ग्रंथों को प्रथमानुयोग कहते हैं । इनके पठन, पाठन आदि से पुण्य तथा बोधि और समाधि प्राप्त होती है। यह सम्यग्ज्ञान का विषय है।

करुणानुयोग का लक्षण

लोकालोक विभक्ते, र्युग परिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।
आदर्शमिव तथामति, रवैति करणानुयोगं च ॥44॥

लोकालोक का शुभ व्याख्यान, युगावर्त चउ गति का ज्ञान।
दर्पण सम दिखलाता शुद्ध, करण शास्त्र कहते हैं बुद्ध॥

अन्वयार्थ :- **तथा मतिः**= श्रुतज्ञान ही, **लोकालोक**= लोक अलोक के, **विभक्तेः**= विभाग को, **च**= और, **युगपरिवृत्तेः** = युग परिवर्तन को, **च**= और, **चतुर्गतीनां**= चारों गतियों को, **च**= भी, **करणानुयोगं**= करणानुयोग, **आदर्शइव**= दर्पण के समान, **अवैति**= जानता है।

अर्थ :- जो शास्त्र लोक और अलोक के विभाग को, युगों के परिवर्तन को और चारों गतियों को दर्पण के समान जैसा का तैसा जानता है, उसे करुणानुयोग कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान का विषय है।

चरणानुयोग का लक्षण

गृहमेध्य नगाराणां, चारित्रोत्पत्ति वृद्धिरक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोग समयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥45॥

गृहि अनगार चारित्रोत्पत्ति, यथा योग्य हो रक्षा वृद्धि।
चरणानुयोग का कथन विशिष्ट, ज्ञानी कहते भवि को इष्ट॥

अन्वयार्थ :- **सम्यग्ज्ञानं**= जो सम्यग्ज्ञान, **गृह मेध्यनगाराणां**= गृहस्थ व मुनियों के, **चारित्रोत्पत्ति**= चारित्र की उत्पत्ति, **वृद्धि रक्षाङ्गम्**= वृद्धि और रक्षा के साधनों को, **विजानाति**= जानता है (उसको), **चरणानुयोग समयं** = चरणानुयोग शास्त्र कहते हैं।

अर्थ :- जिस ग्रंथ में गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा का वर्णन है उसे चरणानुयोग कहते हैं। यह भी सम्यग्ज्ञान का विषय है।

द्रव्यानुयोग का लक्षण

जीवाजीवसुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः, श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥46॥

जीवाजीव सुतत्त्व सुजान, बन्ध मोक्ष पुन- पाप पिछान।
द्रव्यानुयोग लोकश्रुत ज्ञान, ज्यों प्रकाश दिनकर से जान॥

अन्वयार्थ :- द्रव्यानुयोग दीपः= द्रव्यानुयोग रूपी दीपक, **जीवाजीव**= जीव अजीव रूप, **सुतत्त्वे**= सुतत्वों को, **च**= और, **पुण्यापुण्ये**= पुण्य और पाप को, **बन्ध मोक्षौ**= बन्ध और मोक्ष को, **श्रुत विद्या लोक**= भाव श्रुत रूपी प्रकाश को, **आतनुते**= विस्तारता है।

अर्थ :- जो जीव और अजीव तत्त्वों को, पुण्य और पाप को, बंध और मोक्ष को, निरूपण करने वाला दीपक है, वह द्रव्यानुयोग है।

अथ तृतीयोऽधिकारः

चारित्र धारण करने की आवश्यकता

मोह तिमिराप हरणे, दर्शन लाभा दवाप्त संज्ञानः ।
रागद्वेष निवृत्यै, चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥47॥
मोह महातम नशता जान, दर्श लाभ से जागे ज्ञान।
राग-द्वेष का किया विनाश, सत् चारित्र का होय प्रकाश॥

अन्वयार्थ :- मोह तिमिर= मोह रूपी अंधकार के, **अपहरणे**= नाश होने पर, **दर्शन लाभात्**= सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से, **अवाप्त संज्ञानः**= प्राप्त हो गया है सम्यग्ज्ञान जिसको ऐसा, **साधुः**= भव्य जीव, **रागद्वेष** = राग द्वेष की, **निवृत्यै**= निवृत्ति के लिये, **चरणं**= सम्यग्चारित्र को , **प्रतिपद्यते** = धारण करता है।

अर्थ :- दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से जिसको सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसा भव्य जीव अपने राग-द्वेष को दूर करने के लिये सम्यक्चारित्र को धारण करता है।

राग-द्वेष की निवृत्ति से चारित्रोत्पत्ति

रागद्वेष निवृते, हिंसादिनिवर्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः, कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥48॥
रागद्वेष निवृत्ति कर पाय, हिंसादिक वृत्ती रुक जाय।
बिना प्रयोजन नर हो कोय, भूप की सेवा में रत होय॥

अन्वयार्थ :- राग द्वेष निवृत्तेः = राग द्वेष की निवृत्ति से, **हिंसादि**= हिंसादि, पाँच पापों के, **निवर्तना**= त्याग रूप चारित्र, **कृता**=उत्पन्न, **भवति**= होता है जैसे, **अनपेक्षितार्थवृत्तिः**= आजीविका की इच्छा न रखने वाला, **कः**- कौन,

पुरुषः= पुरूष, **नृपतीन्**= राजाओं की, **सेवते**= सेवा करता है अर्थात् कोई नहीं करता।

अर्थ :- राग-द्वेष आदि की निवृत्ति होने से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों का अभाव रूप चारित्र उत्पन्न होता है क्योंकि रूपया पैसा आदि की इच्छा नहीं करने वाला कौन पुरुष राजाओं की सेवा करता है? अर्थात् कोई नहीं ।

सम्यग्चारित्र का लक्षण

हिंसानृत चौर्य्येभ्यो, मैथुन सेवा परिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालि काभ्यो, विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥49॥
हिंसानृत चोरी में लीन, मैथुनादि परिग्रह तल्लीन।
पाँच पाप से जो है रिक्त, सद्ज्ञानी के होय चरित्र॥

अन्वयार्थ :- संज्ञस्य= सम्यग्ज्ञानियों का , **पापप्रणालिकाभ्यो**= पापास्रव के कारण भूत, **हिंसानृत**= हिंसा, झूठ, **चौर्येभ्यो** = चोरी से, **च**= और, **मैथुन सेवा**= कुशील, **परिग्रहाभ्यां**= परिग्रह से, **विरतिः**= विरक्त होना, **चारित्रम्**= चारित्र है।

अर्थ :- पाप के कारण भूत, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरक्त होना सम्यग्ज्ञानी का चारित्र है।

चारित्र के भेद और उपासक

सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसङ्ग विरतानाम् ।
अनगारणां विकलं, सागाराणां ससङ्गनाम् ॥50॥
सकल विकल चारित्र दो जान, पूर्ण विरत अनगारी मान।
सद् गृहस्थ के विकल चरित्र, लीन संग में जिसका चित्त॥

अन्वयार्थ :- तत् चरणं= वह चारित्र, **सकलं**= सकल और, **विकलं**= विकल दो प्रकार का है (उनमें से), **सर्वसंगविरतानाम्** = सर्व परिग्रह से रहित, **अनगाराणां**= मुनियों के, **सकलं**= सकल चारित्र (होता है) और, **ससंगानाम्**= परिग्रह सहित, **सागाराणां**= गृहस्थों के, **विकलं**= विकल चारित्र होता है।

अर्थ :- यह चारित्र सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का है, उनमें से समस्त परिग्रहों से विरक्त मुनियों के सकल चारित्र होता है और परिग्रह सहित

गृहस्थों के विकल चारित्र होता है ।

विकल चारित्र के भेद

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु-गुण शिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।
पच्च-त्रि-चतुर्भेदं, त्रयं यथासङ्.ख्य माख्यातम् ॥51॥

अणु गुण शिक्षा तीन प्रकार, सद्गृहस्थ का है आचार।
पंचतीन चउ क्रमशः भेद, होते द्वादश सर्व प्रभेद॥

अन्वयार्थ :- **गृहिणां**= गृहस्थों का, **चरणम्**= चारित्र, **अणु गुण शिक्षा व्रतात्मकं** = अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत रूप, **त्रेधा**= तीन प्रकार का , **तिष्ठति**= है (वह), **त्रयं**= तीन प्रकार का चारित्र, **यथा संख्यं**= क्रम से, **पंचत्रिचतुर्भेदं**= पाँच तीन और चार भेद रूप, **आख्यातम्** = कहा गया है।

अर्थ :- गृहस्थों का चारित्र अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप तीन प्रकार का है वह तीन प्रकार का चारित्र क्रम से पाँच, तीन और चार भेद रूप कहा गया है।

अणुव्रत का लक्षण

प्राणातिपात वितथ, व्यवहारस्तेय काममूर्च्छेभ्यः ।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो, व्युपरमण मणुव्रतं भवति ॥52॥

पंच पाप हिंसादिक जान, जो स्थूल विरक्त प्रधान।
अणुव्रत का यह कथन विशेष, परमेष्ठी शुभ कहे जिनेश॥

अन्वयार्थ :- **स्थूलेस्थः**= स्थूल रूप से, **प्राणाति पात**= हिंसा, **वितथव्याहार**= झूठ, **स्तेय**=चोरी, **काम**= कुशील, **मूर्च्छेभ्यः**= परिग्रह रूप, **पापेभ्यो**= पापों से, **व्युप रमणं**= विरक्त होना, **अणुव्रतं**= अणुव्रत, **भवति**= होता है।

अर्थ :- स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह रूप पापों से विरक्त होना अणुव्रत है।

अहिंसाणुव्रत का लक्षण

सङ्कल्पात्कृत कारित, मननाद्योग त्रयस्य चरसत्त्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः, स्थूलवधाद्विरमणं निपुणा ॥53॥

युत संकल्प त्रियोग लगाय, कृत कारित अनुमोदन पाय।
त्रस जीवों का करे न घात, अहिंसाणुव्रत में निष्णात॥

अन्वयार्थ :- **यत्**= जो, **योगत्रयस्य**= तीन योग के, **कृत कारितमननात्**= कृत कारित और अनुमोदन रूप, **संकल्पात्** = संकल्प से, **चर सत्वान्** = त्रस जीवों को, **न हिनस्ति**= नहीं मारता है, **तत्**= उसको, **निपुणाः**= गणधराचार्य, **स्थूल वधाद्**= स्थूल हिंसा से, **विरमणं**= विरक्त होना, (अहिंसाणुव्रत), **आहुः**= कहते हैं।

अर्थ :- जो मन, वचन, काय के कृत, कारित, अनुमोदना रूप संकल्प से त्रस जीवों को नहीं मारता है, उसकी उस क्रिया को गणधर आदिक स्थूल हिंसा से विरक्त होना अर्थात् अहिंसाणुव्रत कहते हैं ।

अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार

छेदन बंधन पीडन, मति भारारोपणं व्यतीचाराः ।
आहार वारणापि च, स्थूलवधाद्व्युपरतेः पञ्च ॥54॥

छेद बंध पीड़ा अति भार, भोजन रोके सर्व प्रकार।
अहिंसा अणुव्रत के अतिचार, वीर कहे हैं पञ्च प्रकार॥

अन्वयार्थ :- **छेदन**=छेदना, **बंधन**=बांधना, **पीडनम्**=पीड़ा देना, **च**=और, **अतिभारारोपणं**=शक्ति से अधिक भार लादना, **अपि**=और, **आहारवारणा**= आहार देने में कमी करना, **पंच**=ये पाँच, **स्थूल वधाद्**= स्थूल हिंसा से, **व्युपरतेः**=विरक्त होने के (अहिंसाणुव्रत के), **व्यतीचाराः**= अतिचार हैं ।

अर्थ :- अंगों का छेदना, इच्छित स्थानों में जाने से रोकना, डंडा आदि से मारना (पीड़ा देना), शक्ति से अधिक भार लादना और आहार देने में कमी करना ये पांच स्थूल हिंसा से विरक्त होने के अर्थात् अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

सत्याणुव्रत का लक्षण

स्थूलमलीकं न वदति, न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः, स्थूल मृषावाद् वैरमणम् ॥55॥

जो स्थूल ना कहें असत्य, वधकारी ना बोले सत्य।
पर से झूठ नहीं बुलबाय, सत्य अणुव्रत जाना जाय॥

अन्वयार्थ :- **यत्**= जो, **स्थूलम्**= स्थूल, **अलीकं**= झूठ को, **न वदति**= न बोलता है, **न परान्**= न ही दूसरों से, **वादयति**= बुलवाता है (तथा), **विपदे**= विपत्ति में कारणभूत, **सत्यमपि**= सत्य भी नहीं बोलता है, **तत्**=उसे, **सन्तः**=

सज्जन पुरुष, **स्थूलमृषावादवैरमणम्**= स्थूल असत्य का त्याग (सत्याणुव्रत), **वदन्ति** = कहते हैं ।

अर्थ :- जो स्थूल झूठ न तो स्वयं बोलता है और न दूसरों से बुलवाता है तथा दूसरों की आपत्ति के लिये सत्य भी न स्वयं बोलता है न दूसरों से बुलवाता है, उनको गणधर महापुरूष स्थूल असत्य का त्याग अर्थात् सत्याणुव्रत कहते हैं।

सत्याणुव्रत के अतिचार

परिवाद रहोभ्याख्या, पैशून्यं कूटलेखकरणं च ।
न्यासापहारितापि च, व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य ॥56॥
मिथ्योपदेश रहस प्रगटाय, चुगली झूठा लेख लिखाय।
पर का द्रव्य हरण कर लेय, पंच दोष यह सत्य के हेय॥

अन्वयार्थः- **परिवाद**= झूठा उपदेश देना, **रहोभ्याख्या**= दूसरों की गुप्त बातों को प्रगट करना, **पैशून्यं**= चुगली करना, **कूटलेखकरणं**= झूठा लेख लिखना, **अपि च** = और, **न्यासापहारिता**=किसी की धरोहर को हड़पना, **पंच**= ये पाँच, **सत्यस्य**= सत्याणुव्रत के, **व्यतिक्रमाः**= अतिचार हैं।

अर्थ :- झूठा उपदेश देना, गोपनीय कार्य को प्रकट करना, चुगली करना, झूठे दस्तावेज बनाना, दूसरों की धरोहर का अपहरण करना ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ।

अचौर्याणुव्रत का लक्षण

निहितं वा पतितं वा, सुविस्मृतं वा परस्व मविसृष्टं ।
न हरति यन्न च दत्ते, तदकृशचौर्य्यादुपारमणम् ॥57॥
निहित पतित विस्मृत पर द्रव्य, कण कांचन कुछ भी हो सव्व।
हरे नहीं ना किसी को देय, अचौर्य अणुव्रत जानो ऐह॥

अन्वयार्थ :- **यत्**= जो, **निहितं**= रखी हुई, **वा**= और, **पतितं**= गिरी हुई, **वा**= और, **सुविस्मृतं**= भूली हुई, **परस्वम्**= अन्य की वस्तु को, **अविसृष्टम्**= बिना दिये, **न हरति**= नहीं हरता है, **च**= और (दूसरों को भी), **न दत्ते**= नहीं देता है, **तत्**= उसको, अ**कृश चौर्यात्**= स्थूल चोरी से, **उपारमणम्** = विरक्त होना अचौर्याणु व्रत कहते हैं।

अर्थ :- जो रखी हुई, गिरी हुई और भूली हुई अन्य की वस्तु को बिना दिये

नहीं लेता और दूसरों को भी नहीं देता है उसको स्थूल चोरी से विरक्त अर्थात् अचौर्याणुव्रती कहते हैं।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार

चौरप्रयोग चौरार्थादान, विलोप सदृशसन्मिश्रा ।
हीनाधिक विनिमानं, पञ्चास्तेये व्यतीपाताः ॥58॥
चौर्य-प्रयोग चौर्य धन लेय, सन्मिश्रा हीनाधिक देय।
नियम विलोप पञ्चव्यतिचार,यह अचौर्य अणुव्रत व्यवहार॥

अन्वयार्थ :- **चौर प्रयोग**= चोरी की प्रेरणा या अनुमोदना करना, **चौरार्थादान**= चोरी की वस्तु खरीदना, **विलोप**= राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना, **सदृश सन्मिश्राः**= समान वस्तुओं को मिलाना और, **हीनाधिक विनिमानं**= नाप-तौल के बांट कम-बढ़ रखना, **ये पंच**- पाँच, **अस्तेये**= अचौर्याणुव्रत के, **व्यतीपाताः**= अतिचार हैं ।

अर्थ :- चोरी की प्रेरणा करना, चोरी की वस्तु खरीदना, राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना, अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की वस्तु का मिश्रण करके देना, नापने-तौलने के बांट वगैरह कम-बढ़ रखना, ये अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण

न तु परदारान् गच्छति, न परान् गमयति च पाप भीतेर्यत्।
सा परदार निवृत्तिः, स्वदार सन्तोषनामापि ॥59॥
पर स्त्री का करे ना भोग, पर से ना करवाए उपभोग।
पाप भीरू निवृत्त पर दार, स्वनारी संतोष विचार॥

अन्वयार्थ :- **यत्**=जो, **पापभीतेः**= पाप के भय से, **न तु**= न तो स्वयं, **परदारान्**= पर स्त्री के प्रति, **गच्छति**= गमन करता है, **च**= और, **न परान्**= न दूसरों को, **गमयति**= गमन कराता है, **सा**= वह, **परदार निवृत्तिः**= पर स्त्री त्याग (ब्रह्मचर्याणुव्रत), **अपि**= अथवा, **स्वदार संतोषनाम**= स्वदार संतोष नामक अणुव्रत कहलाता है।

अर्थ :- जो पाप के भय से पर स्त्री का न तो स्वयं सेवन करता है और न दूसरों को सेवन करने के लिये प्रेरित करता है, वह परस्त्री त्याग अथवा स्वदार संतोष नामक अणुव्रती कहलाता है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार

अन्यविवाहा करणानङ्ग-क्रीडा विटत्व विपुलतृषाः ।
इत्वरिकागमनं, चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥60॥

पर विवाह अति काम विटत्व, क्रीड़ानंग इत्वरी गमनत्व।
ब्रह्मचर्य व्रत के पन दोष, ब्रह्म व्रती रहता निर्दोष॥

अन्वयार्थ :- **अन्य विवाहः**= दूसरों का विवाह, **करण** = करने में पूर्ण सहयोग करना, **अनङ्ग क्रीड़ा**= काम सेवन से भिन्न अंगों से काम क्रीड़ा करना, **विटत्व**= खोटे वचन बोलना, **विपुल तृषः**= काम की तीव्र इच्छा रखना, **च**= और, **इत्वरिका गमनं**= व्यभिचारिणी स्त्रियों से संबंध रखना, **पंच**= ये पांच, **अस्मरस्य**= ब्रह्मचर्याणुव्रत के , **व्यतीचाराः**= अतिचार हैं।

अर्थः- दूसरों का विवाह करना, काम सेवन के अंगों के अलावा भिन्न अंगों से काम सेवन करना शरीर आदि से कुचेष्टा करना, कामसेवन की तीव्र लालसा (इच्छा) रखना, व्यभिचारिणी स्त्री के घर आना जाना, ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

परिग्रह परिमाणाणुव्रत का लक्षण

धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय, ततोऽधिकेषु निःस्पृहता ।
परिमितपरिगृहः स्या, दिच्छापरिमाण नामापि ॥61॥

धन धान्यादि ग्रन्थ महान्, मर्यादा से अधिक की हान।
परिमित परिग्रह है यह जान, परिमाणेच्छा नाम भी मान॥

अन्वयार्थ :- **धन धान्यादि**= धन धान्य (10 प्रकार के), **ग्रन्थं**=परिग्रह का, **परिमाय**=परिमाण करके, **ततः**= उससे, **अधिकेषु**= अधिक में, **निःस्पृहता**=इच्छा नहीं रखना, **परिमिति परिग्रहः**= परिग्रह परिमाण व्रत, **अपि**=अथवा , **इच्छा परिमाण नाम्**= इच्छा परिमाण नामक व्रत, **स्यात्**= है।

अर्थ :- क्षेत्र, वस्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भाण्ड इन दसों परिग्रहों का परिमाण रख कर उससे अधिक में इच्छा नहीं रखना परिग्रह परिमाणाणुव्रत अथवा इच्छा परिमाण नामक अणुव्रत कहलाता है।

परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचार

अतिवाहनाति संग्रह, विस्मय लोभाति भार वहनानि ।
परिमितपरिग्रहस्य च, विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥62॥

अति वहन संग्रह अति धार, विस्मय लोभ वहन अति भार।
परिग्रह परिमित व्रतातिचार, अर्हत् भासे पञ्च प्रकार॥

अन्वयार्थ :- **अति वाहनाति**= प्रमाण से अधिक वाहन रखना, **अति संग्रह**= अधिक संग्रह करना, **अति विस्मय**= अति आश्चर्य करना, **अतिलोभ**= अधिक लोभ करना, **अतिभारवहनानि**= अधिक भार लादना, **पंच**= ये पांच, **परिमित परिग्रहस्य**= परिग्रह परिमाण व्रत के, **विक्षेपाः**= अतिचार, **लक्ष्यन्ते**= कहे गये है।

अर्थ :- अधिक वाहन रखना, अति संग्रह करना, दूसरों का वैभव देखकर अति विस्मय करना, तीव्र लोभ करना और क्षमता से अधिक भार लादना ये पांच परिग्रह परिमाणाणुव्रत के अतिचार कहे गये हैं।

निरतिचार व्रतों के पालन करने का फल

पञ्चाणु व्रतनिधयो, निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकं।
यत्रावधि रष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥63॥

निरतिचार अणुव्रत जो धार, फले स्वर्ग वसु ऋद्धि सम्हार।
अवधि ज्ञान बहु वैभव पाय, दिव्य देह में हो अवगाह॥

अन्वयार्थ :- **निरति क्रमणाः**= निरतिचार, **पंचाणु व्रत**= पांच अणुव्रत रूप, **निधयः**= निधियां, **सुरलोकं** = स्वर्ग लोक को, **फलन्ति**= फलती हैं, **यत्र**=जहां, **अवधिः**=अवधिज्ञान, **अष्टगुणाः**= आठ अणिमा आदि गुण (ऋद्धियां), **च**=और, **दिव्य शरीरं**= दिव्य परम शरीर, **लभ्यन्ते**=प्राप्त होते हैं।

अर्थ :- अतिचार रहित पांच अणुव्रत रूपी निधियां स्वर्ग लोक में फलती हैं, स्वर्ग लोक में अवधिज्ञान है, अणिमा आदि आठ ऋद्धियां और सप्तधातु रहित सुंदर वैक्रियक शरीर प्राप्त होते हैं।।

पाँच अणुव्रतों में प्रसिद्ध होने वालों के नाम

मातंगो धनदेवश्च, वारिषेणस्ततः परः ।
नीली जयश्च संप्राप्ताः, पूजातिशय मुत्तमम् ॥64॥

है मातङ्ग और धनदेव, वारिषेण नीली जयदेव।
क्रमशः पंच व्रतों में ख्यात, अतिशय पूजा में विख्यात॥

अन्वयार्थ :- **मातङ्गोः**= चाण्डाल, **च**= और, **धनदेवः**= धनदेव (सेठ),

ततः परः:= उसके आगे **वारिषेणः**:= वारिषेण, **नीली**= नीली, **च**= और, **जयः**:= जय, **उत्तम्**= उत्तमं, **पूजातिशयं**= पूजा के अतिशय को, **सम्प्राप्ताः**:= प्राप्त हुए हैं।

अर्थ :- यमपाल चाण्डाल, धनदेव सेठ, वारिषेण, वणिक पुत्री नीली, और राज पुत्र जयकुमार क्रम से पांचों व्रतों में उत्तम पूजा के अतिशय (प्रसिद्धि) को प्राप्त हुए ।

पांचों पापों में कुख्यात व्यक्ति

धनश्री सत्यघोषौ च, तापसा रक्षकावपि ।
उपाख्येयास्तथा, श्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥65॥
धन श्री सत्यघोष भी जान, तापस कोतवाल पहिचान।
ख्यात हुए श्मश्रु नवनीत, इनकी पंच पाप से प्रीति॥

अन्वयार्थ :- **धनश्री**= धनश्री, **सत्यघोषौ**= सत्यघौष, **च**= और **तापसारक्षकौ**= तपस्वी, यमदण्ड नामक कोतवाल, **अपि**= तथा, **श्मश्रु नवनीतो**= श्मश्रुनवनीत, **यथाक्रमम्**= क्रमशः (पांचों पापों में), **उपाख्येया**= कुख्यात हुए (प्रसिद्ध हुए) ।

अर्थ :- धनश्री नामक सेठानी, सत्यघोष नामक पुरोहित, एक तपस्वी, यमदण्ड नामक कोतवाल और श्मश्रु नवनीत नामक वैश्य क्रम से पांचों पापों में कुख्यात हुए हैं (प्रसिद्ध हुए) ।

श्रावक के आठ मूलगुण

मद्य मांस मधुत्यागैः, सहाणु व्रत पञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणा नाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥66॥
मद्य मांस मधु त्यागी जान, पञ्च अणुव्रत धार महान।
अष्ट मूलगुण श्रावक पाय, श्रमणोत्तम यह दिए बताय॥

अन्वयार्थ :- **मद्य मांस**=मद्य, मांस, **मधुत्यागैः सह**= मधु त्याग सहित, **अणुव्रत पंचकम्**= पांच अणुव्रतों को, **श्रमणोत्तमाः**= गणधरादि आचार्य, **गृहिणां**=गृहस्थों के, **अष्टौ मूल गुणान्** = आठ मूल गुण, **आहुः** =कहते हैं।

अर्थ :- भगवान जिनेन्द्रदेव मद्य त्याग, मधु त्याग, मांस त्याग के साथ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को गृहस्थों के आठ मूलगुण कहते हैं।

अथ चतुर्थोऽधिकारः

गुणव्रतों के नाम

दिग्व्रत मनर्थ दण्डव्रतं च, भोगोपभोग परिमाणम् ।
अनुबृंहणाद् गुणाना, माख्यान्ति गुण व्रतान्यार्याः ॥67॥
दिग्वत अनर्थदण्ड व्रत जान, तीजा भोगोपभोग प्रमाण।
मूलगुणों की वृद्धि के हेत, अर्हत् भासे गुणव्रत भेद॥

अन्वयार्थ :- **आर्याः**= गणधरादि देव, **गुणानां**= आठ मूलगुणों को, **अनुबृहंणात्**= बढ़ाने से, **दिग्व्रतं**= दिग्वत, **अनर्थदण्डव्रतं**= अनर्थदण्ड व्रत, **च**= और, **भोगोपभोग परिमाणम्**= भोगोपभोग परिमाण को, **गुण व्रतानि**= गुणव्रत, **आख्यान्ति**= कहते हैं।

अर्थ :- तीर्थंकर भगवान दिग्व्रत को, अनर्थदण्डव्रत को और भोगोपभोग परिमाण व्रत को मूलगुणों के बढ़ाने या दृढ़ करने वाले होने से गुणव्रत कहते हैं।

दिग्व्रत का लक्षण

दिग्वलयं परिगणितं, कृत्वातोऽहं बहि र्न यास्यामि ।
इति सङ्कल्पो दिग्व्रत, मामृत्यणु पाप विनिवृत्यै ॥68॥
दस दिश सीम बाँधता जोय, सूक्ष्म पाप से निवृत्त होय।
मरण पर्यन्त नियम कर लेय, बाह्य वस्तु दिग्व्रत में हेय॥

अन्वयार्थ :- **अणुपाप**= सूक्ष्म पापों की भी, **विनिवृत्यै**= निर्वृत्ति के लिये, **दिग्वलयं**= दसों दिशाओं का, **परिगणितं**= परिमाण, **कृत्वा**= करके, **अतः**= इससे, **बहिः**= बाहर, **अहं**= मैं, **आमृति**= जीवन पर्यन्त, **न**= नहीं, **यास्यामि**= जाऊँगा, **इति**= इस प्रकार, **संकल्पः**= संकल्प करना, **दिग्व्रतं**= दिग्व्रत है।

अर्थः= सूक्ष्म पापों से भी मुक्त होने के लिये दसों दिशाओं को सीमित करके इससे बाहर मै जीवन पर्यन्त नहीं जाऊँगा इस प्रकार संकल्प या प्रतिज्ञा करना दिग्व्रत है।

दिग्व्रत की सीमा

मकराकर सरि-दटवी, गिरि जनपद योजनानि मर्य्यादाः ।
प्राहुर्दिशां दशानां, प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥69॥

सागर सरिता अटवी कोय, जनपद देश योजनो होय।
मर्यादा के साधन जान, दश दिश दिग्व्रत के पहिचान॥

अन्वयार्थ :- दशानां= दशों, **दिशाम्**= दिशाओं के, **प्रति संहारे**= परिमाण में, **प्रसिद्धानि**= **प्रसिद्ध**= प्रसिद्ध, **मकराकर**= समुद्र, **सरित्**= नदी, **अटवी**= जंगल, **गिरि**= पर्वत, **जनपद**= शहर (देश) और, **योजनानि**= योजनों की, **मर्यादा:**= सीमा, **प्राहु:**= कहते हैं ।

अर्थ :- गणधरादि देव दसों दिशाओं के परिमाण में प्रसिद्ध=प्रसिद्ध समुद्र, नदी, पहाड़ी (जंगल) पर्वत, शहर और योजनों की मर्यादा (सीमा) कहते हैं ।

अणुव्रत में भी महाव्रतपना

अवधे र्बहिरणु पाप, प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पञ्चमहाव्रत परिणति, मणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥70॥

सूक्ष्म पाप से निवृत्त पाय, दशदिश सीमा के हो बाह्य।
परिणति अणुव्रतन की जान, महाव्रती सम ताको मान॥

अन्वयार्थ :- अवधे:= मर्यादा के, **बहि:**= बाहर, **अणु पापप्रति विरते:**= सूक्ष्म पापों के भी त्याग से, **दिग्व्रतानि**= दिग्व्रतों को, **धारयताम्**= धारण करने वालों के, **अणु व्रतानि**= अणुव्रत, **पंच महाव्रत परिणतिम्**= पांच महाव्रतों की सदृशता को, **प्रपद्यन्ते**= प्राप्त होते हैं ।

अर्थ :- मर्यादा के बाहर सूक्ष्म पापों के भी त्याग से दिग्व्रतों को धारण करने वालों के अणुव्रत पांच महाव्रतों की सदृशता को प्राप्त होते हैं ।

दिग्व्रती के महाव्रत की कल्पना

प्रत्याख्यान तनुत्वान्-मन्द तराश्चरण मोह परिणामा: ।
सत्त्वेन दुरवधारा, महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥71॥

तनुतर प्रत्याख्यान कषाय, चारित मोह मंदता पाय।
कठिन सत्त्व निर्धारण पाय, कल्पित महाव्रती कहलाय॥

अन्वयार्थ :- प्रत्याख्यान=प्रत्याख्यान कषाय से, **तनुत्वात्**= मन्द होने से, **मन्दतरा:**= अत्यंत मंद अतएव, **सत्त्वेन**=सत्ता से, **दुरवधारा**= बड़ी कठिनता से जानने योग्य, **चरण मोह परिणामा:**= चारित्र मोहनीय के परिणाम, **महाव्रताय**=महाव्रतपने के लिये, **प्रकल्प्यन्ते**= कल्पना किये जाते हैं ।

अर्थ :- प्रथ्याख्यानावरण कषाय के मंद होने से अत्यंत मंद अतएव सत्ता से बड़ी कठिनता से जानने योग्य चारित्र मोहनीय के परिणाम महाव्रतपने के लिए कल्पना किये जाते हैं।

महाव्रत का लक्षण

पञ्चानां पापानां, हिंसादीनां मनोवच:कायै: ।
कृतकारितानु मोदैस्-त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥72॥

हिंसादिक पन पाप का योग, कृत कारित अनुमत संयोग।
लक्षण महाव्रती का जान, होता जग में बड़ा महान॥

अन्वयार्थ :- हिंसादीनां= हिंसादिक, **पंचानां**= पांचों, **पापानां**= पापों का, **मनो वच:कायै:**= मन,वचन, काय से तथा, **कृत कारितानु मोदै:**= कृतकारित अनुमोदना से, **त्याग:**= त्याग करना, **महताम्**= महापुरूषों का, **महाव्रतं**= महाव्रत है ।

अर्थ :- हिंसादिक पांचों पापों का मन, वचन, काय, से तथा कृत कारित अनुमोदना से त्याग करना महापुरूषों का महाव्रत कहलाता है।

दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यगव्यतिपाता:, क्षेत्र वृद्धि रवधीनाम् ।
विस्मरणं दिग्विरते, रत्याशा: पञ्च मन्यते ॥73॥

उर्ध्व अध: तिर्यग व्यतिपात, क्षेत्र वृद्धि विस्मत हो जात।
मर्यादा जाता है भूल, पन दिग्व्रत के व्यतिक्रम मूल॥

अन्वयार्थ :- अज्ञान और प्रमाद से, **ऊर्ध्वाधस्ता**= ऊपर-नीचे तथा, **तिर्यग्व्यतिपाता:**= विदिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन करना, **क्षेत्र वृद्धि:**= क्षेत्र की मर्यादा बढ़ा लेना और, **अवधीनाम्**= की हुई मर्यादाओं का, **विस्मरणं**=भूल जाना, **ये पंच**= पांच, **दिग्विरते:**= दिग्व्रत के, **अत्याशा:**= अतिचार, **मन्यते**= माने जाते हैं ।

अर्थ:- ऊपर-नीचे तथा विदिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन करना, क्षेत्र की मर्यादा बढ़ा लेना, की हुई मर्यादा को भूल जाना ये पांच दिग्व्रत के अतिचार हैं।

अनर्थदण्ड व्रत का लक्षण

अभ्यन्तरं दिग्वधे, रपार्थकेभ्यः सपाप योगेभ्यः ।
विरमण मनर्थ दण्डव्रतं, विदु र्व्रत धराग्रण्यः ॥74॥
दिशा की मर्यादा में जान, रहित प्रयोजन पाप प्रधान।
व्रत अनर्थदण्ड होय विशेष, त्यागी के यह कहे जिनेश॥

अन्वयार्थः= **व्रत धरा ग्रण्यः**= व्रत धारियों में श्रेष्ठ तीर्थंकर देव, **दिगवधेः**= दिशाओं की मर्यादा के, **अभ्यन्तरं**= भीतर, **अपार्थिकेभ्यः**= प्रयोजन रहित, **सपाप योगेभ्यः**= पाप बंध के कारण मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से, **विरमणं**= विरक्त होने को, **अनर्थ दण्डव्रतं**= अनर्थदण्डव्रत, **विदुः**= कहते हैं।

अर्थ :- व्रतों को धारण करने में श्रेष्ठ तीर्थंकर देव दिशाओं की मर्यादा के भीतर प्रयोजन रहित पाप बंध के कारणों से विरक्त होने को अनर्थ दण्डव्रत कहते हैं ।

अनर्थ दण्ड के भेद

पापोदेश हिंसादानाप, ध्यान दुःश्रुतीः पञ्च ।
प्राहुः प्रमाद चर्य्या, मनर्थदण्डान दण्डधराः ॥75॥
पापोदेश दुःश्रुति अपध्यान, प्रमाद चर्या अरु हिंसादान।
अनर्थदण्ड के हैं पन भेद, गणधर देव कहे हैं एव॥

अन्वयार्थ :-**अदण्ड धराः**= दण्डों को नहीं धारण करने वाले गणधरादि देव, **पापोपदेश हिंसा दान**= पापोपदेश हिंसादान, **अपध्यान दुःश्रुतीः**= अपध्यान, दुःश्रुति को और, **प्रमादचर्याम्**= प्रमादचर्या को, **पंच**=पांच, **अनर्थ दण्डान**= अनर्थ दण्ड, **प्राहुः**= कहते हैं ।

अर्थ :- योगों की अशुभ प्रवृत्ति रूप दण्ड रहित गणधरादिक पापेपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या इन पांच को अनर्थ दण्ड कहते हैं।

पापोपदेश अनर्थदण्ड का लक्षण

तिर्यक्क्लेश वणिज्या, हिंसारम्भ प्रलम्भना दीनाम्।
कथाप्रसङ्ग प्रसवः, स्मर्त्तव्यः पाप उपदेशः ॥76॥
पशु क्लेश कारी व्यापार, हिंसारंभ छलादिक कार्य।
की उत्पादक कथा विशेष, अनर्थ दण्ड है पापोदेश॥

अन्वयार्थ :- **तिर्यक् क्लेश वणिज्या**= तिर्यंचों को कष्ट हो ऐसा व्यापार करना, **हिंसाऽरम्भ**= हिंसा, आरंभ और, **प्रलंभनादीनाम्**= छल आदि का, **प्रसवः**= उत्पादक, **कथा प्रसंग**= कथाओं का बार-बार करना, **पाप उपदेशः**= पापोपदेश नामक अनर्थ दण्ड, **स्मर्तव्यः**= जानना चाहिये ।

अर्थ := तिर्यंचों का तथा क्लेश का व्यापार, हिंसा, आरंभ, और छल आदि के उत्पादक कथा प्रसंगों का बार-बार कथन, पापोपदेश अनर्थदण्ड जानना चाहिये।

हिंसादान अनर्थदण्ड का लक्षण

परशु कृपाण खनित्र, ज्वलनायुध श्रृङ्गश्रृंखलादीनाम् ।
वधहेतूनां दानं, हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥77॥
फरसा अग्नि खनित्र हलाहल, वध हेतु आयुध असि सांकल।
हिंसारम्भ के हेतुक दान, बुधजन कहते हिंसादान॥

अन्वयार्थ :- **बुधाः**= गणधरादि देव, **परशु**= फरसा, **कृपाण**= तलवार, **खनित्र**=कुदाली, फावड़ा, **ज्वलनायुध**= अग्निमय शस्त्र (बन्दूक, तोप आदि), **श्रृंगि**= सींगी या विष और , **श्रृंखला दीनाम्**= सांकल आदि, **वधहेतुनां**= हिंसा के कारणों के, **दानं**= दान देने को, **हिंसा दानं**= हिंसादान नामक अनर्थदण्ड, **ब्रुवन्ति**= कहते हैं ।

अर्थ :- गणधरादिक फरसा, तलवार, कुदाली, फावड़ा, अग्नि, छुरी, कटार आदि हथियार, विष और सांकल आदि हिंसा के उपकरणों के देने को हिंसादान अनर्थदण्ड कहते हैं ।

अपध्यान अनर्थदण्ड का लक्षण

वधबन्धच्छेदादे, र्द्वेषा द्रागाच्च पर कलत्रादेः ।
आध्यान मपध्यानं, शासति जिनशासने विशदाः ॥78॥
वध बंधन छेदादिक भार, रागद्वेष वश परधन नार।
खोटा चिन्तन होअपध्यान, विशद ज्ञान से किया बखान॥

अन्वयार्थ :- **जिन शासने** = जैन धर्म में, **विशदाः**= प्रवीणजन, **द्वेषात्**= द्वेष के कारण, (किसी के) **वध बन्धच्छेदादेः**= नाश होने, बांधे जाने, कट जाने आदि का, **च**= और, **रागात्**= राग के कारण, **पर कलत्राद्रेः**= पर स्त्री आदि का, **आध्यानं**= चिंतवन करने को, **अपध्यानं**= अपध्यान नामक अनर्थदण्ड,

शासति= कहते हैं ।

अर्थ :- जैनधर्म में प्रवीणजन द्वेष के कारण किसी के नाश होने, बांधे जाने, कट जाने आदि का और राग के कारण परस्त्री आदि का चिंतवन करने को अपध्यान अनर्थदण्ड कहते हैं ।

दुःश्रुति अनर्थदण्ड का लक्षण

आरम्भ सङ्गसाहस, मिथ्यात्व द्वेषराग मदमदनैः ।
चेतःकलुषयतां, श्रुति रवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥79॥
रागद्वेष मिथ्यामद काम, संगारम्भ दुःश्रुति का नाम।
दुःश्रुति से हो चित्त मलीन, धर्म से होता मानव हीन॥

अन्वयार्थ :- **आरम्भ**= आरंभ, **सङ्ग**=परिग्रह, **साहस**= साहस, **मिथ्यात्व**= मिथ्यात्व, द्वेष=द्वेष, **राग**= राग और , **मद मदनैः**= विषय भोग से, **चेतः**= चित्त को, **कलुषयतां** = मलीन करने वाले, **अवधीनां**= शास्त्रों का, **श्रुति**= सुनना, **दुःश्रुति**= दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड, **भवति**= होता है ।

अर्थ :- आंरभ, परिग्रह ,साहस, मिथ्यात्व, द्वेष-राग, और विषयभोग से चित्त को मलीन करने वाले शास्त्रों का सुनना दुःश्रुति अनर्थदण्ड होता है ।

प्रमादचर्या अनर्थदण्ड का लक्षण

क्षिति सलिल दहन पवना, रम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदं।
सरणं सारणमपि च, प्रमदचर्यां प्रभाषन्ते ॥80॥
क्षिति जल पावक पवन विशेष, रहित प्रयोजन सर्व अशेष।
सारण सरणा वनस्पति छेद, प्रमादचर्या सो कहे जिनेश॥

अन्वयार्थ :- **आचार्य परमेष्ठी** = आचार्य परमेष्ठी **विफलं**= बिना मतलब (निष्प्रयोजन), **क्षिति सलिल दहन पवनारम्भं**= जमीन खोदने, जल बहाने, अग्नि जलाने, हवा करने के आरंभ को, **वनस्पतिच्छेदम्**= वनस्पति छेदने को, **सरणं**= घूमने को, **च**= और, **सारण**= घुमाने को, **प्रमाद चर्यां**= प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड कहते हैं ।

अर्थ :- आचार्य परमेष्ठी बिना प्रयोजन के जमीन खोदने, जल बहाने, अग्नि जलाने, हवा करने, वनस्पति छेदने, घूमने और घुमाने को प्रमादचर्या अनर्थदण्ड कहते है ।

अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार

कन्दर्प कौत्कुच्यं, मौखर्य मतिप्रसाधनं पञ्च ।
असमीक्ष्य चाधिकरणं, व्यतीतयोऽनर्थ दण्डकृद्विरतेः ॥81॥
कन्दर्प कौत्कुच्य मौखर्य जान, अति प्रसाधन भी पहचान।
असमीक्ष्य अधिकरण विचार, अनर्थदण्ड के पञ्चातिचार॥

अन्वयार्थ :- **कन्दर्पं**= हंसी करते हुए अशिष्ट वचन कहना, **कौत्कुच्यं**= शरीर की कुचेष्टा करते हुए अशिष्ट वचन कहना, **मौखर्यम्**= वृथा बहुत बकवास करना, **अतिप्रसाधनं**= भोगोपभोग की सामग्री आवश्यकता से अधिक रखना, **च**= और, **असमीक्ष्य अधिकरणं**= बिना विचारे किसी वस्तु पर अधिकार करना ये, **अनर्थदण्ड कृद्विरतेः**= अनर्थदण्ड व्रत के, **पंच**=पांच, **व्यतीतयः**= अतिचार हैं।

अर्थ :- हंसी करते हुए अशिष्ट वचन कहना, शरीर की कुचेष्टा करते हुए अशिष्ट वचन कहना, बहुत बकवास करना, आवश्यकता से ज्यादा भोगोपभोग की सामग्री एकत्रित करना, बिना प्रयोजन कार्य करना, ये पांच अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार हैं।

भोगोपभोग परिमाणव्रत का लक्षण

अक्षार्थानां परिसंख्यानं, भोगोपभोगपरिमाणम् ।
अर्थवतामप्यवधौ, रागरतीनां तनूकृतये ॥82॥
इन्द्रिय विषयों का संख्यान, राग घटाने को पहिचान।
परिग्रह का करना परिमाण, भोगोपभोग व्रत रहा प्रधान॥

अन्वयार्थ :- **राग रतीनां**= राग से होने वाली विषयों की लालसा के, **तनू कृतये**= घटाने के लिए, **अवधौ**=परिग्रह, परिणामव्रत की मर्यादा में, **अपि**=भी, **अर्थवताम्**= प्रयोजन भूत, **अक्षार्थानां**= इंन्द्रियों के विषयों का, **परिसंख्यानं**= परिमाण करना, **भोगोपभोग परिमाणम्**= भोगोपभोग परिमाण नामक व्रत कहलाता है ।

अर्थ :- राग से होने वाली विषयों की लालसा को घटाने के लिए परिग्रह परिमाणव्रत में की हुई परिग्रह की मर्यादा में भी प्रयोजनभूत इन्द्रियों के विषयों का परिमाण करना भोगोपभोग परिमाणव्रत कहलाता है ।

भोग व उपभोग का लक्षण

भुक्त्वा परिहातव्यो, भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः, पाञ्चेन्द्रियो विषयः ॥83॥

एक भुक्त को कहते भोग, बार-बार भुक्ते उपभोग।
असन वसन क्रमशः पहिचान, पंचेन्द्रिय विषयों को मान॥

अन्वयार्थ :-**अशन वसन प्रभृतिः**= भोजन वस्त्रादिक, **पांचेन्द्रियः**= पांचो इन्द्रिय संबंधी जो, **विषयः**= विषय, **भुक्त्वा**= भोग करके, **परि हातव्यः**= छोड़ दिया जाता है तो, **भोगः**= भोग है, **च**= और, **भुक्त्वा**= भोग करके, **पुनः** = फिर, **भोक्तव्यः**= भोगने योग्य वस्तु, **उपभोगः**= उपभोग है।

अर्थ :- भोजन, वस्त्र आदिक पांचों इन्द्रिय संबंधी जो विषय एक बार भोग करके छोड़ दिया जाता है वह तो भोग है और भोग करके फिर भोगने योग्य वस्तु उपभोग है ।

मकारों के त्याग का उद्देश्य

त्रस हति परिहरणार्थं, क्षौद्रं पिशितं प्रमाद परिहृतये ।
मद्यं च वर्जनीयं, जिनचरणौ शरण मुपयातैः ॥84॥

त्रस जीवों पर दया विचार, अरु प्रमाद का हो परिहार।
मद्य-मांस अरु मधु को त्याग, जिनवर पद की सरणा लाग॥

अन्वयार्थ :- **जिन चरणौ**= जिनेन्द्र देव के चरण की, **शरणम्**= शरण को, **उपयातैः**= प्राप्त हुए श्रावकों के द्वारा, **त्रस हति परि हरणार्थं**= त्रस जीवों की हिंसा को दूर करने के लिए, **क्षौद्रं**=मधु, **पिशितं**= मांस, **च**= और, **प्रमाद परिहृतये**= प्रमाद को दूर करने के लिये, **मद्यं**=मदिरा, **वर्जनीयं**= त्याग देना चाहिये ।

अर्थ :- जिनेन्द्र देव के चरणों की शरण को प्राप्त हुए श्रावकों के द्वारा त्रस जीवों की हिंसा को दूर करने के लिए मधु, मांस, और प्रमाद को दूर करने के लिए मदिरा त्याग देना चाहिये ।

भोगोपभोग परिमाणव्रत में त्याज्य वस्तुएँ

अल्प फल बहुविघातान्, मूलक-मार्द्राणि श्रृङ्गवेराणि ।
नवनीत निम्ब कुसुमं, कैतक मित्येव मवहेयम् ॥85॥

कुसुम केतकी अदरक नीम, मक्खन मूलि में जीव असीम।
बहु विघात फल अल्प जो देय, श्रावक को वस्तु सब हेय॥

अन्वयार्थ :- **अल्प फल बहु विघातान्**= फल थोड़ा बहुत जीव हिंसा होने से, **आर्द्राणि**=गीला, **श्रृङ्गवेराणि**=अदरक, **मूलकं**=मूली गाजर आदि, **नवनीत**=मक्खन, **निम्ब कुसुमं**= नीम के फूल, **कैतकं**= केवड़े के फूल, **इति**=इस प्रकार, **एवं**=ऐसी और वस्तुएँ, **अवहेयम्**= छोड़ देना चाहिये ।

अर्थ :- फल थोड़ा और हिंसा अधिक होने से गीला अदरक, मूली, गाजर आदि जमीकंद और मक्खन, नीम के फूल, केतकी के फूल इत्यादि ऐसी और वस्तुएँ छोड़ देना चाहिये ।

व्रत का लक्षण

यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुप-सेव्यमेतदपि जह्यात् ।
अभिसन्धिकृता विरति, र्विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति॥86॥

अनिष्ट और अनुसेव्य का त्याग, तन करता विषयों से राग।
विषय रहित अभिप्राय से होय, लक्षण व्रत का जानो सोय॥

अन्वयार्थ :- **यत्**= जो, **अनिष्टं**= प्रकृति विरुद्ध है, **तत्**= उसको, **व्रतयेत**= छोड़ें, **च**= और, **यत्**= जो, **अनुपसेव्यं**= सेवन करने योग्य नहीं है, **तत्अपि**= उसको भी, **जह्यात्**= छोड़ें, **यतः**= क्योंकि, **योग्यात्**= सेवन करने योग्य, **विषयात्**= पांचों इन्द्रियों के विषयों से, **अभिसंधि कृता**= प्रतिज्ञापूर्वक किया गया, **विरतिः**= त्याग, **व्रतं**= व्रत, **भवति**= होता है।

अर्थ :- (इस व्रत में) जो अनिष्ट हो उसको छोड़ें और जो सेवन करने के अयोग्य है उसकों भी छोड़ें क्योंकि सेवन करने योग्य पांचों इन्द्रियों के विषयों से प्रतिज्ञापूर्वक किया गया त्याग व्रत कहलाता है ।

यम और नियम का लक्षण

नियमो यमश्च विहितौ, द्वेधा भोगोपभोग संहारात् ।
नियमः परिमित कालो, यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥87॥

यम और नियम हैं दोय प्रकार, व्रत भोगोपभोग व्यवहार।
कालावधि को नियम बखान, आजीवन व्रत यम पहिचान॥

अन्वयार्थ :- **भोगोपभोग संहारे**= भोगोपभोग परिमाणव्रत में, **नियमःयमः**

च = नियम और यम, **द्वेधा विहितौ**= दो प्रकार का कहा गया है, **परिमित कालः**= निश्चित काल या मर्यादा पूर्वक होना, **सः नियमः**= वह नियम है, तथा, **यावज्जीवं** = जीवन पर्यंत को, **ध्रियते**= धारण किया जाता है, **सः यमः**= वह यम है ।

अर्थ :- भोगोपभोग के त्याग के विषय से नियम और यम दो प्रकार के माने गये हैं नियतकाल की मर्यादा पूर्वक किया गया त्याग नियम कहलाता है,और जो जीवन पर्यन्त के लिये धारण किया जाता है, वह यम कहलाता है ।

भोगोपभोग परिमाण व्रत में नियम की विधि

भोजन वाहन शयन, स्नान पवित्राङ्ग राग कुसुमेषु ।
ताम्बूल वसन भूषण, मन्मथ संगीत गीतेषु ॥88॥
भोजनवाहन शयन स्नान, अंग विलेपन पुष्प अरु पान।
वसनाभूषण गीत संगीत, काम वासना में रत चीत॥
अद्य दिवा रजनी वा, पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा ।
इति काल परिच्छित्त्या, प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥89॥
आज दिवस रजनी पक्षैक, एक मास ऋतु अयन वर्षैक।
नियम त्याग यह काल की सीम, निश्चित होती नहीं असीम॥

अन्वयार्थ :- भोजन वाहन शयन = भोजन, सवारी, बिस्तर, **स्नान**=स्नान, **पवित्राङ्ग**=पवित्र अंग में, **राग कुसुमेषु**= सुगंध पुष्पादिक धारण करने में तथा, **ताम्बूल**=पान, **वसन**=वस्त्र, **भूषण** = अलंकार, **मन्मथ**= विषयभोग, **सङ्गीत**=संगीत, **गीतेषु**=गीत के विषय में **अद्य** = आज (घड़ी पहर आदि), **दिवा**= एक दिन, **रजनी**= एक रात्रि, **पक्षः**= एक पक्ष, **मासः**= एक मास, **ऋतु**= दो मास, **वा**= अथवा, **अयनं**= छःमास, **इति**= इस प्रकार, **काल परिच्छित्या**= काल के नियम से, **प्रत्याख्यानं**= त्याग करना (भोगोपभोग परिमाण व्रत में), **नियमः**= नियम, **भवेत्**= होता है ।

अर्थ :- भोजन, सवारी, शैया (बिस्तर), स्नान, पवित्र अंग में पुष्पादिक धारण, पान, वस्त्र अलंकार, कामभोग, संगीत और गीत के विषय में एक घड़ी, पहर , एक दिन, एक रात्रि, एक मास, दो मास, अथवा छः मास इस प्रकार काल के नियम से त्याग करना भोगोपभोग परिमाण व्रत में नियम होता है ।

भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार

विषय विषतोऽनुपेक्षा, नुस्मृति रतिलौल्य मति तृषाऽनुभवो।
भोगोपभोग परिमा, व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥90॥
विषयों से ना होय उदास, अनुस्मृति अति विषय की आस।
भावी भोग आशक्ती वान, अतिचार यह पञ्च सुजान॥

अन्वयार्थ :- विषय विषतः = विषय रूपी विष से, **अनुपेक्षा**= उपेक्षा नहीं करना (आदर करना), **अनुस्मृति**=भोगो हुए विषयों का बार-बार स्मरण करना, **अतिलौल्यं**= वर्तमान के विषय भोगों में अतिलालसा रखना, **अति तृषा** = विषय भोगों की प्राप्ति में अत्यंत तृष्णा रखना, **अनुभवो**= विषयानुभव में अत्यधिक आसक्त होना ये, **पंच**= पांच, **भोगोपभोग परिमाण व्यतिक्रमाः**= भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार, **कथ्यन्ते**= कहे गये हैं ।

अर्थ :- विषय रूपी विष से उपेक्षा नहीं करना, भोगे हुए विषयों का बार-बार स्मरण करना, भोग भोगने पर भी पुनः-पुनः उनके भोगने की इच्छा करना, भविष्यत कालीन भोगों की प्राप्ति के लिये अत्यंत इच्छा रखना, भोग भोगते हुए भी अत्यंत आसक्ति से भोगना ये पांच भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार कहे गये हैं।

अथ पंचमोऽधिकारः

शिक्षा व्रत के भेद

देशावकाशिकं वा, सामयिकं प्रोषधोपवासो वा ।
वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि, चत्त्वारि शिष्टानि ॥91॥
सामयिक अरु प्रौषधोपवास, वैयावृत्ति देश अवकाश।
चउ शिक्षाव्रत व्रती को इष्ट, गणधर प्रभु द्वारा उपदिष्ट॥

अन्वयार्थ :-देशावकाशिकं = देशावकाशिक, वा= तथा, **सामायिकं**= सामायिक, **प्रोषधोपवासः**= प्रोषधोपवास, **वा**= और, **वैय्या वृत्यं**= वैयाव्रत ये, **चत्वारि**= चार, **शिक्षव्रतानि**= शिक्षाव्रत, **शिष्टानि**= कहे गये हैं।

अर्थ :- देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, और वैयावृत्ति ये चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं।

देशावकाशिक शिक्षाव्रत का लक्षण :

देशावकाशिकं स्यात्-कालपरिच्छेदनेन देशस्य ।
प्रत्यहमणुव्रतानां, प्रतिसंहारो विशालस्य ॥92॥
जो मर्यादा बड़ी असीम, अणुव्रति करता प्रतिदिन सीम।
वृहत् सीम का करता ह्रास, देव कहे यह देशावकाश॥

अन्वयार्थ :- **विशालस्य**= दिग्व्रत में की हुई लंबी-चौड़ी, **देशस्य**= क्षेत्र की मर्यादा का, **काल परिच्छेदनेन**= काल के विभाग से, **प्रत्यहम्**= प्रतिदिन, **प्रतिसंहारः**= त्याग करना, **अणुव्रतानां**= अणुव्रत पालक श्रावकों का, **देशाव काशिकं**= देशावकाशिक व्रत, **स्यात्** = होता है।

अर्थ :- दिग्व्रत में की हुई विस्तृत क्षेत्र की मर्यादा का काल के विभाग से प्रतिदिन त्याग करना अणुव्रती श्रावकों का देशावकाशिक व्रत होता है।

गृहहारि ग्रामाणां, क्षेत्र नदी दाव योजनानां च ।
देशावकाशिकस्य, स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥93॥
गृह गोपुर अरु योजन ग्राम, नदी खेत पुर वन उद्यान।
देशावकाश की सीमा जान, तपोवृद्ध कहते भगवान॥

अन्वयार्थ :- **तपो वृद्धाः** = गणधर देवादि, **देशावकाशिकस्य** = देवावकाशिक शिक्षाव्रत के क्षेत्र की, **गृह हारि ग्रामाणां**= प्रसिद्ध, घर, गली, गांव, **च**= और, क्षेत्र, नदी, **दाव योजनानां**= खेत, नदी, जंगल और योजन की, **सीम्नां**= मर्यादा, **स्मरन्ति**= कहते हैं।

अर्थ :- गणधर देव आदि देशावकाशिक शिक्षाव्रत के क्षेत्र की प्रसिद्ध घर, गली, गांव और खेत, नदी, जंगल और योजनाओं की मर्यादा कहते हैं।

देशव्रत में काल की मर्यादा की रीति

संवत्सर मृतु रयनं, मास चतुर्मास पक्ष मृक्षं च ।
देशावकाशिकस्य, प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥94॥
पक्ष माह नक्षत्र ऋतु एक, माह चार छह वर्ष अनेक।
देशावकाश की सीमा जान, कालावधि कहते भगवान॥

अन्वयार्थः- **प्राज्ञाः**= गणधर देव, **देशाव काशिकस्य**= देशावकाशिक व्रत में, **कालाविधं**= काल की मर्यादा, **संवत्सरम्**= एक वर्ष, **अयनं**= छः मास,

ऋतु= दो माह, **मास**= एक मास, **चतुर्मासपक्ष मृक्षं च**= चार मास एक पक्ष और एक नक्षत्र तक, **प्राहुः**= कहते हैं।

अर्थ :- गणधर देव देशावकाशिक व्रत के काल की मर्यादा, एक वर्ष, छः मास, दो माह, एक मास, चार मास, पंद्रह दिन, और एक दिन या एक नक्षत्र तक कहते हैं ।

देशव्रती के उपचार से महाव्रत

सीमान्तानां परतः, स्थूलेतर पञ्चपाप संत्यागात् ।
देशावकाशिकेन च, महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥95॥
सूक्ष्म स्थूल पाप पन त्याग, सीमापार घटावे राग।
देशावकाशिक व्रत को पाय, अणुव्रती सम व्रती कहाय॥

अन्वयार्थ :- **सीमान्तानां**= देशावकाशिक व्रत में की गई सीमा के, **परतः**= बाहर, **स्थूलेतर**= स्थूल और इतर (सूक्ष्म) दोनों प्रकार के , **पंच पाप सन्त्यागात्**= पांचों पापों का त्याग होने से, **देशावकाशिकेन**= देशावकाशिक व्रत धारी के द्वारा, **महाव्रतानि**= महाव्रत, **प्रसाध्यन्ते** = साधे जाते हैं।

अर्थ :- देशावकाशिक व्रत में की गई सीमा के बाहर स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के पांचों पापों का त्याग होने से देशावकाशिक व्रतधारी के द्वारा महाव्रत साधे जाते हैं।

देशावकाशिक शिक्षाव्रत के अतिचार

प्रेषण शब्दानयनं, रूपाभि व्यक्ति पुद्गलक्षेपौ ।
देशावकाशिकस्य, व्यपदिश्यन्तेऽत्यया: पञ्च ॥96॥
रूप व्यक्त आनयन और प्रेषण, शब्द कथन पुद्गल का क्षेपण।
देशावकाशिक व्रत के पाँच, अतीचार होते हैं सांच ॥96॥

अन्वयार्थ :- मर्यादा के बाहर किसी को, **प्रेषण**= भेजना, **शब्द**= शब्द करना, **अनयनं**= किसी वस्तु को मंगवाना, **रूपाभि व्यक्ति**= शरीर दिखाना और, **पुद्गल क्षेपौ**= पत्थर आदि फेंकना ये, **पंच**= पांच, **देशावकाशिकस्य**= देशावकाशिक शिक्षाव्रत के, **अत्ययः**= अतिचार, **व्यपदिश्यन्ते**= कहे जाते हैं।

अर्थ :- देशावकाशिक व्रत में की हुई मर्यादा के बाहर भेजना, शब्द करना, वस्तु को मंगवाना शरीर दिखाना और पत्थर आदि फेंकना ये पांच देशावकाशिक

शिक्षाव्रत के अतिचार कहे जाते हैं।

सामायिक शिक्षाव्रत के लक्षण

आसमयमुक्ति मुक्तं, पञ्चाघाना मशेष भावेन ।
सर्वत्र च सामयिकाः, सामयिकं नाम शंसन्ति ॥97॥

बाह्याभ्यंतर से पन पाप, पूर्ण रूप से त्यागें आप।
निश्चित काल को त्यागे जान, सामायिक ताको पहिचान ॥97॥

अन्वयार्थ :- **असमय मुक्ति**= किसी नियत समय की समाप्ति पर्यन्त, **सर्वत्र**= सभी जगह, **पंचाघानाम्**= पांचों पापों के, **अशेष भावेन**= पूर्ण रूपेण, **मुक्तं** = त्याग करने को, **च सामयिकाः**= आगम के ज्ञाता, **सामयिकं नाम** = सामायिक नामक शिक्षाव्रत, **शंसन्ति**= कहते हैं।

अर्थ :- गणधर आदि देव मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से सब जगह सामायिक के लिए निश्चित समय तक पांचों पापों के त्याग करने को सामायिक नामक शिक्षाव्रत कहते है।

सामायिक के योग्य समय

मूर्ध रुह मुष्टि वासो, बन्धं पर्य्यङ्क बन्धनं चापि ।
स्थान-मुपवेशनं वा, समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥98॥

केश वस्त्र मुष्टिका का बंधन, उपवेशन अरु पर्यङ्कासन।
सामायिक का काल विशेष, जैनागम में कहे जिनेश ॥98॥

अन्वयार्थ :- **समयज्ञाः**= आगम के ज्ञाता पुरुष, **मूर्ध रुह मुष्टि वासो बन्धं**= केशबंध, मुष्टिबंध, वस्त्र बंध के काल में, **पर्य्यङ्कबन्धनं**= पद्मासन के काल को, **च अपि**= और भी, **स्थानं**= खड्गासन, **वा**= अथवा, **उपवेशनं**= सामान्य आसन के काल को, **समयं**= सामायिक के योग्य समय, **जानन्ति**= जानते हैं (कहते हैं) ।

अर्थ :- ज्ञानी पुरुष, केशबन्ध, मुष्टिबन्ध, वस्त्रबन्ध, पर्यन्त काल को, पद्मासन, कायोत्सर्ग और सामान्य आसन के काल को सामायिक के योग्य समय कहते हैं।

सामायिक करने का स्थान

एकान्ते सामयिकं, निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च ।
चैत्यालयेषु वापि च, परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥99॥

चैत्यालय गृह वन उद्यान, शांत प्रांत एकान्त स्थान।
प्रमुदित धी करता है ध्यान, क्षेत्र योग्य सामायिक ज्ञान ॥99॥

अन्वयार्थ :- **निर्व्याक्षेपे**= उपद्रव रहित, **एकान्ते**= एकान्त में, **वनेषु**= वन में, **वास्तुषु**= मकान में या धर्मशाला में, **च**= और, **चैत्यालयेषु**= चैत्यालयों में, **अपि**= तथा पर्वत आदि में भी (श्रावकों को) , **प्रसन्नधिया**= प्रसन्न चित्त से, **सामयिकं**= सामायिक, **परिचेतव्यं**= बढ़ाना चाहिये ।

अर्थ :- उपद्रव रहित (निराकुल) एकान्त स्थान में, वन में, एकान्त घर या धर्मशाला में और चैत्यालयों में और पर्वत की गुफा आदि में प्रसन्नचित से सामायिक बढ़ाना चाहिए ।

सामायिक बढ़ाने का समय

व्यापार वैमनस्याद्वि, निवृत्त्या मन्तरात्मविनिवृत्त्या ।
सामयिकं बध्नीया, दुपवासे चैकभुक्ते वा ॥100॥

कायिक चेष्टा कर अवरुद्ध, अंतर मन को करके शुद्ध।
एकाशन उपवास को धार, सामायिक हो वृद्धीकार ॥100॥

अन्वयार्थ :- श्रावक, **उपवासे**= उपवास के दिन, **च**= और, **एक भुक्ते वा**= एकासन के दिन भी, **व्यापार वैमनस्यात्**= शरीर आदि की कुचेष्टा तथा चित्त की कलुषिता से, **विनिवृत्तया**= निर्वृत्य होकर, **अन्तरात्मा विनिवृत्त्या**= मन के विकल्पों की विशेष निर्वृत्ति के द्वारा, **सामायिकं**= सामयिक को, **बध्नीयात्**= बढ़ावें ।

अर्थ :- व्यापार, कायादि की चेष्टा और मनोव्यग्रता से निर्वृत्त होने पर अन्तर्जल्पादि विकल्पों की निवृत्ति से उपवास के दिन और एकाशन के दिन सामायिक को बढ़ाना चाहिये ।

प्रतिदिन सामायिक करने का उपदेश

सामयिकं प्रतिदिवसं, यथावदप्यनलसेन चेतव्यं ।
व्रतपञ्चक परिपूरण, कारणमवधानयुक्तेन ॥101॥

हो एकाग्र आलस कर त्याग, प्रतिदिन सामायिक में लाग।
व्रत पंचक परिपूरण हेत, प्रतिदिन वृद्धी में चित् देत ॥101॥

अन्वयार्थ :- **अनलसेन**= आलस्य रहित, **अपि**=और, **अवधानयुक्तेन**= एकाग्रचित्त वाले श्रावकों को, **प्रति दिवसं**= प्रतिदिन, **यथावत्**=विधिपूर्वक, **व्रत पंचक**= पांचों अणुव्रतों की, **परिपूरण कारणं**= परिपूर्णता का कारण भूत, **सामायिकं**= सामायिक शिक्षाव्रत, **चेतव्यम्**= बढ़ानाा चाहिये ।

अर्थ :- पांचों व्रतों की पूर्ति का कारण सामायिक आलस्य रहित एकाग्रचित्त सहित श्रावक के द्वारा प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधि से बढ़ाया जाना चाहिये ।

सामायिक के समय मुनि तुल्य

सामयिके सारम्भाः, परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि ।
चेलोप सृष्ट मुनिरिव, गृही तदा याति यतिभावं ॥102॥

सामायिक में संगारम्भ, त्यागी करे ध्यान प्रारम्भ।
चेलोपसृष्ट मुनि कहलाय, गृहीभाव मुनि जैसा पाय ॥102॥

अन्वयार्थ :- **सामयिके**= सामायिक काल में, **सारम्भाः**= आरंभ रहित, **सर्वे अपि**=सभी, **परिग्रहा**=परिग्रह, **न एव सन्ति**= नहीं होते हैं, **तदा**= उस समय, **गृही**=गृहस्थ, **चेलोप सृष्ट मुनिरिव**= उपसर्ग के कारण वस्त्र से ढके हुए मुनि के समान, **यति भावं**= मुनिपने को, **याति**=प्राप्त होता है।

अर्थ :- जब सामायिक के समय में कृषि आदि आरंभ सहित सब अंतरंग बहिरंग परिग्रह नहीं होते हैं। उस समय गृहस्थ उपसर्ग के कारण वस्त्र से ढके हुए मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होते हैं।

सामायिक में परीषह आदि सहन करें

शीतोष्ण दंशमशक, परीषह मुपसर्ग मपि च मौनधराः ।
सामयिकं प्रतिपन्ना, अधि कुर्वीरन्-नचल योगाः ॥103॥

शीत उष्ण मच्छर अरु डांस, मौन धार सामायिक वास।
उपसर्ग परीषह में थिर योग, समता धर गृहि के संयोग ॥103॥

अन्वयार्थ :- **सामयिकं**= सामायिक को, **प्रतिपन्नाः**= धारण करने वाले, **मौनधराः**= मौन धारी, **च**= और, **अचल योगाः**= योगों की चंचलता रहित व्यक्ति, **शीतोष्ण दंश मशक**= शीत,ऊष्ण और दंशमशक, **परीषहम्**= परिषहों

को और, **उपसर्गम्**= उपसर्गों को, **अपि**= भी, **अधि कुर्वीरन्**= सहन करें।

अर्थ :- सामायिक में लीन व्यक्ति मौन धारणकर योगों की चंचलता रहित शीत, ऊष्ण, डाँस, मच्छर आदि परिषहों को और देव, मनुष्य, तिर्यंच कृत उपसर्गों को भी सहन करें ।

सामायिक के समय करने योग्य चिन्तवन

अशरण मशुभ मनित्यं, दुःख मनात्मान मावसामि भवम् ।
मोक्षस्तद्विपरीतात्, मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥104॥

अशरण अशुभ अनित्य विचार, जग अनात्म जानो दुखकार।
मोक्ष सदा विपरीत सुजान, सामायिक में करता ध्यान ॥104॥

अन्वयार्थ :- (श्रावक) **सामयिके**= सामायिक में, **इतिध्यान्तु**= इस प्रकार चिन्तवन करें कि मैं, **अशरणं**= अशरण रूप, **अशुभम्**= अशुभ रूप, **अनित्यं**= अनित्य रूप, **दुःखं**= दुःख रूप, **अनात्मानं**= आत्मा से भिन्न (पररूप), **भवम्**= संसार में , **आवसामि**= निवास करता हूँ और, **मोक्षः**= मोक्ष, **तद्विपरीतात्म**= इससे विपरीत आत्म स्वरूप वाला है।

अर्थ :- सामायिक करने वाले व्यक्ति सामायिक में अशरण रूप, अशुभ रूप, अनित्य रूप, दुःख रूप और पर रूप संसार में मैं निवास करता हूँ और मोक्ष इस संसार से विपरीत है इस प्रकार ध्यान (चिन्तवन) करें ।

सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार

वाक्कायमानसानां, दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे ।
सामयिकस्यातिगमा, व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥105॥

मन वच काय का दुष्प्रणिधान, अनुत्साह अस्मरण पहिचान।
सामायिक के व्यतिक्रम जान, परमेष्ठी यह कहे सुजान ॥105॥

अन्वयार्थ :- **वाक्काय मानसानां**= वचन, काय और मन का, **दुःप्राणि धानानि**= चालायमान करना, **अनादर अस्मरणे**= अनादर एवं अस्मरण करना, (सामायिक का काल व पाठ भूल जाना), **भावेन**= निश्चय से ये, **सामायिकस्य**= सामायिक के, **पंच अतिगमाः**= पाँच अतिचार, **व्यज्यन्ते**= प्रकट किये जाते है।

अर्थ :- वचन, काय, मन का चलायमान करना, अनादर करना, सामायिक का

काल व पाठ भूल जाना ये पांच निश्चय से सामायिक के अतिचार कहे गये हैं ।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत का लक्षण

पर्वण्यष्टम्यां च, ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु ।
चतुरभ्य वहार्य्याणां, प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः ॥106॥

अष्टमी और चतुर्दशि वार, चातुर्विधि त्यागें आहार।
धर इच्छा करते उपवास, यही कहा प्रोषध उपवास ॥106॥

अन्वयार्थ :- **पर्वणि**= चतुर्दशी, **च**= और, **अष्टम्यां**= अष्टमी के दिन, **तु**= और, **सदा**=हमेशा, (पूर्व के दिन के अलावा भी), **इच्छाभिः**= अपनी आंतरिक इच्छाओं से, **चतुरभ्य वहार्य्याणां**= चारों प्रकार के आहारों का, **प्रत्याख्यानं** = त्याग करना, **प्रोषधोपवासः**= प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत, **ज्ञातव्यः**= जानना चाहिये ।

अर्थ :- सदैव प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी के दिन अपनी आंतरिक इच्छाओं से खाद्य (दाल, रोटी आदि) स्वाद (लड्डू, पेड़ा आदि), लेह्य (रबड़ी आदि), पेय (दूध पानी आदि) रूप चारों प्रकार के आहारों का त्याग करना प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत जानना चाहिये ।

उपवास के दिन त्याज्य कार्य

पञ्चानां पापाना, मलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।
स्नानाञ्जन-नस्याना, मुपवासे परिहृतिं कुर्य्यात् ॥107॥

पुष्प गंध आरंभ पन पाप, त्याग न्हवन भी करता आप।
नस्याञ्जन करना श्रृंगार, व्रत के दिन करता परिहार ॥107॥

अन्वयार्थ :- **उपवासे** = उपवास के दिन, **पंचानां पापानां**= हिंसादि पांचों पापों का, **अलङ्क्रिया**= शरीर का वस्त्रादिक से अलंकार करना, **आरंभ गंध पुष्पाणाम्**= आरंभ का, सुगंधित इत्रादि का, विविध पुष्पों का (सूंघने या धारण करने का), **स्नानाञ्जन**= स्नान का, अंजन (काजल) लगाने का, **नस्यानां**= नाक में दवाई आदि डालने का अथवा सूंघने का, **परिहृतिं**= त्याग, **कुर्य्यात्**= करना चाहिये।

अर्थ :- उपवास के दिन पांचों पापों का और स्नान, अंजन और पुष्प आदि सूंघने का वस्त्रालंकारों से सज्जित होने का, कृषि आदि आरंभों का, चन्दन इत्र

आदि गंध द्रव्यों के उपयोग का त्याग करना चाहिये ।

उपवास के दिन का कर्त्तव्य

धर्मामृतं सतृष्णः, श्रवणाभ्यां पिवतु पाययेद्-वेन्यान् ।
ज्ञानध्यान परो वा, भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥108॥

धर्मामृत तृष्णा को धार, पिये पिलायें कर्ण के द्वार।
ज्ञान ध्यान में हो लवलीन, निज आलस्य को करता छीण ॥108॥

अन्वयार्थ :- **उपवसन्**= उपवास करने वाला श्रावक, **अतन्द्रालु**= आलस्य रहित और, **सतृष्णः**= उत्कंठित (सन्) (होता हुआ), **श्रवणाभ्यां**= अपने कानों से, **धमामृतं**= धर्मारूपी अमृत को, **पिबतु**= पीवे (पान करे) **वा**= तथा, **अन्यान्**= दूसरों को, **पाययेत्**= पान करावे तथा, **ज्ञान ध्यान परः**= ज्ञान ध्यान में लीन, **भवतु**= होवे ।

अर्थ :- उपवास करने वाला व्यक्ति आलस्य रहित और उत्कण्ठित होता हुआ धर्म रूपी अमृत को अपने कानों से पीवे तथा दूसरों को पिलावे और ज्ञान ध्यान में लवलीन रहे ।

प्रोषध, उपवास और प्रोषधोपवास का लक्षण

चतुराहार विसर्जन, मुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः ।
स प्रोषधोपवासो, यदुपोष्या रम्भमाचरति ॥109॥

चउ विधि भोज त्याग उपवास, एक भुक्त है प्रोषधोवास।
पारणा दिन करता आरम्भ, होय प्रोषधोपवास प्रारम्भ ॥109॥

अन्वयार्थ :- **चतुराहार विसर्जन**= चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, **उपवासः**= उपवास और, **सकृद्**= एकबार, **भुक्तिः**= भोजन करना, **प्रोषधः**= प्रोषध (एकाशन) होता है, **यत्**= जो, **उपोष्य**= उपवास करके, **आरंभं** = पारणा के दिन एक बार भोजन करना, **स**= वह, **प्रोषधोपवासः**= प्रोषधोपवास है।

अर्थ :- चार प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग करना उपवास, एक बार भोजन करना प्रोषध (एकाशन), उपवास करके एकाशन करना प्रोषधोपवास कहलाता है ।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार

ग्रहण विसर्गास्तरणान्य, दृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे ।
यत्प्रोषधोपवास व्यतिलङ्घन, पञ्चकं तदिदम् ॥110॥

बिन देखे बिन सोधे कोय, ग्रहण विसर्ग बिछावन सोय।
अस्मरण और अनादर पाँच, व्यतीचार प्रोषध के साँच ॥110॥

अन्वयार्थ :- **यत्**= जो, **अदृष्ट मृष्टानि**= बिना देखे, बिना शोधे हुए, **ग्रहण**= ग्रहण करना, **विसर्गः**= छोड़ना, **तरणानि**= बिस्तर बिछाना, और **अनादरास्मरणे** = अनादर करना, भूल जाना, **इदम्**= यह, **प्रोषधोपवास**= प्रोषधोपवास के, **पंचकं**= पांच, **व्यतिलङ्घन**= अतिचार हैं।

अर्थ :- बिना देखे और बिना शोधे हुए पूजा के उपकरणों को ग्रहण करना, मल-मूत्र आदि का त्याग करना, बिस्तर बिछाना, आवश्यक क्रियाओं में अनादर करना, योग्य क्रियाओं को भूल जाना यह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पांच अतिचार हैं।

वैयावृत्य शिक्षाव्रत का लक्षण

दानं वैयावृत्यं, धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।
अनपेक्षितोपचारोप, क्रिय मगृहाय विभवेन ॥111॥

गुण निधान गृह त्यागी जान, धर्म निमित्त विधि से कर दान।
तपोधनी की हो निरपेक्ष, वैयावत्ती है यह स्वेच्छ ॥111॥

अन्वयार्थ :- **अगृहाय** = गृहत्यागी, **गुण निधये** = गुणों के निधान, **तपोधनाय** = तपस्वियों को, **विभवेन**= विधि द्रव्यादि सम्पदा से, **धर्माय**= धर्म के लिए, **अनपेक्षितोचारोपक्रियं** = उपकार की इच्छा से रहित होकर, **दानं** = दान देना, **वैयावृत्त्यं** = वैयावृत्त्य है।

अर्थ :-गुणों के निधान गृह त्यागी मुनिराज के लिए, स्व-पर के धर्म की वृद्धि के लिए मंत्र, लाभ आदि प्रत्युप्कार की अपेक्षा से रहित यथाशक्ति दान देना वैयावृत्त्य शिक्षावृत्त्य कहलाता है।

वैयावृत्य शिक्षाव्रत का दूसरा लक्षण

व्यापत्तिव्यपनोदः, पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्यं यावानुप, ग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥112॥

गुण में प्रीति धारता होय, ऋषि के पैर दाबता सोय।
विपद हरण करता उपकार, वैयावृत कुछ अन्य प्रकार ॥112॥

अन्वयार्थ :- **गुणरागात्**= गुणों में अनुराग से, **संयमिनाम्**= संयमीजनों के, **व्यापत्ति व्यपनोदः**= दुःख को दूर करना, **पदयोः**= पैरों का, **संवाहनं**= दबाना, **च अपि**= और भी, **अन्यः**= अन्य, **यावान्**= जितना, **उपग्रहः**= उपकार है वह, **वैयावृत्त्यं**= वैयावृत्त्य है ।

अर्थ :-गुणों में प्रेम होने से संयमीजनों के दुःखों को दूर करना, पैरों को दबाना तथा अन्य भी जितना उपकार है, वह वैयावृत्त्य कहलाता है।

दान का लक्षण

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः, सप्तगुण समाहितेन शुद्धेन ।
अपसूनारम्भाणा, मार्याणा मिष्यते दानम् ॥113॥

सप्त गुणों नव भक्ती शुद्ध, सूनारंभ से हो अवरुद्ध।
आदर करे मिले जो आर्य, उत्तम दान कहा आचार्य ॥113॥

अन्वयार्थ :- **सप्तगुण समाहितेन**= सात गुण सहित, **शुद्धेन**= शुद्धि से सहित, **नव पुण्यैः**= नवधा भक्ति पूर्वक, **अपसूनारम्भाणां**= पाँच सूना और आरंभ रहित, **आर्याणाम्**= मुनीश्वरों को, **प्रति पत्तिः**= आहार आदि देना, **दानम्**= दान **इष्यते**= कहलाता है।

अर्थ :- सात गुण सहित, भद्र श्रावक के द्वारा, नवधा भक्ति सहित एवं पाँच सूना और आरंभ रहित मुनि को आहार आदि देना दान कहलाता है।

दान का फल

गृह कर्मणापि निचितं, कर्म विमार्ष्टि खलु गृह विमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा, रुधिरमलं धावते वारि ॥114॥

गृह कार्यों से अर्जित कर्म, साधु दान से होते नमं।
रुधिर होय जल से ज्यों साफ, कर्म झरे त्यों अपने आप ॥114॥

अन्वयार्थ :- (जैसे) जिस प्रकार, **वारि**= जल, **अलम्**= अच्छी तरह से, **रुधिरम्**= खून को, **धावते**= धो देता है उसी प्रकार से, **गृहविमुक्तानाम्**= गृह त्यागी, **अतिथीनां**= अतिथिजनों को, **प्रति पूजा**= यथा योग्य आहारादि दान, **अपि**= भी, **खलु**= निश्चय से, **गृह कर्मणां** = गृह के कार्यों से, **निचितं**=

संचित, **कर्म**= पापों को, **विमार्ष्टि**= नष्ट कर देता है।

अर्थ :- जैसे जल खून को धो देता है वैसे ही गृह त्यागी अतिथि जनों को यथायोग्य आहार आदि देने से घर गृहस्थी के काम में संचित पाप भी निश्चय से नष्ट हो जाते है ।

नवधा भक्ति का फल

उच्चैर्गोत्रं प्रणते, र्भोगो दाना दुपासनात्पूजा ।
भक्तेः सुन्दररूपं, स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥115॥
उच्च गोत्र पूजा अरु भोग, सुन्दर रूप कीर्ति संयोग।
प्रणति उपासन दान अरु भक्ति, स्तवन से मुनि के हो प्राप्ति॥115॥

अन्वयार्थ :- **तपोनिधिषु**:= तपस्वी मुनियों को, **प्रणते**: = नमस्कार करने से, **उच्चैर्गोत्रं**= उच्च गोत्र, **दानात्**= दान से, **भोग**:= भोग, **उपासनात्**= सेवा उपासना करने से, **पूजा**= पूजा (सम्मान), **भक्त**:= भक्ति करने से, **सुंदर रूपं** = सुंदर रूप और, **स्तवनात्**= स्तुति करने से, **कीर्ति**:= कीर्ति होती है।

अर्थ :- मुनिराजों को नमस्कार करने से उच्च गोत्र की, दान देने से भोग की, सेवा (उपासना), करने से सम्मान (पूजा) की, भक्ति करने से सुन्दर रूप की, स्तुति करने से कीर्ति की प्राप्ति होती है।

अल्पदान से महाफल

क्षिति गत मिव वटबीजं, पात्रगतं दान मल्प मपि काले ।
फलति च्छाया विभवं, बहुफलमिष्टं शरीर भृताम् ॥116॥
योग्य काल में पात्र लहाय, अल्प दान से बहु फल पाय।
बीज भूमिगत बरगद होय, बनकर वृक्ष फले त्यों सोय॥116॥

अन्वयार्थ :- **इव**= जैसे, **क्षिति गतं**= पृथ्वी में बोया हुआ, **अल्पमपि**= छोटा भी, **वट बीजं**= वट का बीज, **काले**= समय पर, **छाया विभवं**= बड़ी भारी छाया को और, **बहुफलं** = बहुत फलों को, **फलति**= फलता है (देता है) उसी प्रकार, **पात्र गतं**= पात्र को दिया गया, **अल्पं दान**= थोड़ा भी दान, **शरीर भृताम्**= शरीर धारियों को, **इष्टं**= इच्छा अनुसार, **फलं**= बहुत फलों को , **फलति**= फलता है ।

अर्थ :- जैसे अच्छी उपजाऊ जमीन में बोया हुआ बट का बीज अपने समय पर बड़ी भारी छाया को और बहुत से फलों को फलता है उसी प्रकार योग्य समय में सत्पात्र को दिया गया थोड़ा भी दान जीवों के उत्तम ऐश्वर्य और विभूति सहित इच्छानुसार भोगोपभोग आदि अनेक फलों को फलता है (देता है)।

दान के भेद

आहारौषधयो ,रप्युप करणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्यं ब्रुवते, चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥117॥
आहारौषधि आवास दान, और उपकरण करें प्रदान।
वैयावृत्ति के ये चउ भेद, कहे दान अर्हत् और वेद॥117॥

अन्वयार्थ :- **चतुरस्राः**= चार ज्ञान के धारी गणधर देव, **आहारौषधयो**:= आहार दान, औषधि दान, **अपि**= तथा, **उपकरणावासयो**:= उपकरण और आवास के, **दानेन्**= दान से, **चतुरात्मत्वेन**= चार प्रकार का, **वैयावृत्त्यं**= वैयावृत्त्य, **ब्रुवते**= कहते हैं।

अर्थ :- चार ज्ञान के धारक गणधर देव आहार, औषध, उपकरण (शास्त्र, पिच्छी, कमण्डलु आदि), तथा आवास (वसतिका) आदि इन चारों दानों के भेद से वैयावृत्य भी चार प्रकार के कहते हैं।

दानों में प्रसिद्ध होने वालों के नाम

श्रीषेण वृषभसेने, कौण्डेशः सूकरश्च दृष्टान्ताः ।
वैयावृत्यस्यैते, चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥118॥
श्रीषेण वृषभसेना कौण्डेश, सूकर जानो यहाँ विशेष।
क्रमशः दान में हुये प्रसिद्ध, जिनवाणी यह करती सिद्ध॥118॥

अन्वयार्थ :- **श्रीषेण वृषभसेने**= श्रीषेण राजा और वृषभ सेना पुत्री (आहार दान और औषधि दान में), **कौण्डेश**:= कौण्डेश नामक ग्वाला (उपकरण दान में), **च**= और, **सूकर**:= शूकर (आवास दान में), **ऐते**= ये, **चतुर्विकल्पस्य**= चार भेद वाले, **वैयावृत्य**= वैयावृत्य के, **दृष्टान्ता**:= दृष्टान्त, **मन्तव्या**:= जानना चाहिये ।

अर्थ :- श्रीषेण राजा, सेठ की पुत्री वृषभ सेना, कौण्डेश नामक ग्वाला, और सूकर ये चार भेद वाले वैयावृत्य के दृष्टान्त जानना चाहिये ।

अर्हत् पूजा की महिमा

देवाधिदेव चरणे परिचरणं, सर्वदुःख निर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि, परिचिनुया दादृतो नित्यम् ॥119॥

जिनवर की पूजा भरपूर, करती सर्व दुखों को दूर।
काम देह वाञ्छित फल देय, नित्य आदृता करती येह ॥119॥

अन्वयार्थ :- **काम दुहि**= इच्छित फल देने वाला, **कामदाहिनी**= विषय वासना को नष्ट करने वाले, **देवाधिदेव चरणे**= देवों के देव अरिहंत देव के चरणों की, **परिचरणं**= पूजा, **सर्व दुःख निर्हरणम्**= सब दुःखों को नाश करने वाली है इसलिये, **आदृतः**= आदर से, **नित्यम्**= प्रतिदिन (पूजा), **परिचिनुयात्**= करना चाहिए ।

अर्थ :- इच्छित फल देने वाले, विषय वासना को नष्ट करने वाले देवों के देव अरिहंत देव के चरणों की पूजा सब दुःखों को नाश करने वाली है, इसलिये आदर भाव सहित प्रतिदिन पूजन करना चाहिये ।

पूजा का महात्म्य और उसका फल भोक्ता

अर्हच्चरण सपर्या, महानुभावं महात्मना मवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥120॥

प्रमुदित हो मेढ़क ले फूल, राजगृही में प्रभु पद मूल।
जिन पूजा की महति महान, हुआ लोक में महिमावान ॥120॥

अन्वयार्थ :- **प्रमोद मत्तः**= प्रमोद से युक्त, **भेकः** = मेढक, **राजगृहे**= राजगृही में, **एकेन कुसुम**= एक फूल से, **अर्हच्चरण सपर्या महानुभावं**= अरिहंत भगवान की पूजा के प्रभाव को, **महात्मनाम्**= महापुरूषों के सामने, **अवदत्**= (कहा था), प्रगट किया था ।

अर्थ :- प्रमुदित होते हुए एक मेढक ने राजगृही में एक फूल से अरिहंत भगवान की पूजा के प्रभाव को महापुरूषों के सामने प्रगट किया था ।

वैयावृत्य के अतिचार

हरित पिधान निधाने, ह्यनादरास्मरण मत्सरत्वानि ।
वैयावृत्त्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥121॥

हरित पत्र अपिधान निधान, अयस्मरण और ईष्यावान।
करे अनादर जो दातार, वैयावृत्त के पन व्यतिचार ॥121॥

अन्वयार्थ :- **हरित पिधान निधाने**= हरी वस्तु से ढकना, हरी वस्तु में रखना, **अनादर**= अनादर, **अस्मरण मत्सरत्वानि**= दान विधि भूल जाना, ईष्या रखना, **एते**= ये, **पंच**=पांच, **वैया वृत्त्यस्य**= वैया वृत्ति के, **व्यति क्रमाः**= अतिचार, **कथ्यन्ते** = कहते हैं।

अर्थ :- आहार आदि की वस्तु को हरे पत्ते से ढकना, हरे पत्ते आदि पर रखना, अनादर करना, नवधा भक्ति आदि भूल जाना, ईर्ष्या रखना ये पाँच वैयावृत्य के अतिचार कहलाते हैं।

अथ षष्ठोऽधिकारः

सल्लेखना का लक्षण

उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचन, माहुः सल्लेखनामार्याः ॥122॥

हो दुर्भिक्ष जरा अरु रोग, ना होवे उपसर्ग का रोक।
धर्म निमित्त जो त्यागे देह, आर्य कहें सल्लेखन येह ॥122॥

अन्वयार्थ :- **आर्याः**= गणधर आदि देव, **निःप्रतीकारे**=अटल (जिसका कोई उपचार न हो), **उपसर्गे**= उपसर्ग के आने पर, **दुर्भिक्षे**= अकाल पड़ने पर, **जरसि**= बुढापा, **च**= और, **रुजायां**= रोग होने पर, **धर्माय**= धर्म के लिए, **तनुविमोचनं**= शरीर के छोड़ने को, **सल्लेखनां**= सल्लेखना, **आहुः**= कहते हैं।

अर्थः- गणधरादिक श्रेष्ठ पुरूष जिसका प्रतिकार नहीं किया जा सके ऐसा उपसर्ग आने पर, अकाल पड़ने पर, बुढ़ापा आने पर, रोग होने पर, धर्म के लिये शरीर के छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं।

सल्लेखना की आवश्यकता

अन्तःक्रियाधि करणं, तपःफलं सकल दर्शिनः स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥123॥

तप का सुफल कहा यह देव, अन्तः क्रियाधिकरण है एव।
यथा शक्ति समाधि को धार, पूर्ण प्रयत्न करके अवतार ॥123॥

अन्वयार्थ :- सकल दर्शिनः= सर्वज्ञदेव, **अन्तःक्रियाधिकरणं**= मरण समय सल्लेखना व्रत धारण करना ही, **तपःफलं**= तप का फल, **स्तुवते**= कहते हैं, **तस्मात्**= इसलिए, **यावद्विभवं**=अपनी शक्ति के अनुसार, **समाधि मरणे**=समाधि व्रत धारण करने में, **प्रयति तव्यम्**= प्रयत्न करना चाहिये।

अर्थ :- सर्वज्ञ देव मरण के समय समाधि मरण स्वरूप सल्लेखना को तप का फल कहते हैं इसलिये यथाशक्ति समाधिमरण के विषय में पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए ।

सल्लेखना की विधि

स्नेहं बैरं सङ्गं, परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजन मपि च, क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियै र्वचनैः ॥124॥

राग द्वेष मूर्च्छा परिहार, शुद्ध मनः हो प्रिय वच धार।
स्व-जन परिजन सबके साथ, क्षमा हेतु द्वय जोड़े हाथ ॥124॥

अन्वयार्थ :- स्नेहं= राग को, **बैरं**= बैर को, **सङ्गं**= मोह को, **च**= और, **परिग्रहं**= परिग्रह को, **अपहाय**= छोड़कर, **शुद्ध मनाः**= शुद्ध मन वाला होता हुआ सल्लेखना धारी श्रावक, **प्रियैर्वचनैः** = मीठे वचनों से, **स्वजनं**= अपने कुटुम्बियों से, **च**= और, **परिजनम्**= नौकर चाकर से, **अपि**= भी, **क्षान्त्वा**= क्षमा कराके, **क्षमयेत्**= स्वयं क्षमा करें ।

अर्थ :- स्नेह (राग) को, द्वेष (बैर) को, मोह को, और परिग्रह को छोड़कर शुद्ध मन वाला होता हुआ प्राणी मीठे (प्रिय) वचनों से अपने कुटुम्बियों से और नौकर-चाकरों से भी क्षमा प्राप्त करके स्वयं क्षमा करे ।

सल्लेखना में आलोचना पूर्वक महाव्रत धारण का उपदेश

आलोच्य सर्वमेनः, कृतकारित मनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रत, मामरण स्थायि निःशेषम् ॥125॥

कृत कारित अनुमोदना जान, पापों की आलोचना वान।
धरे महाव्रत मरण पर्यन्त, करके छल बल का भी अन्त ॥125॥

अन्वयार्थ :- (सल्लेखनाधारी) **कृत कारितं**= कृत कारित, **च**= और, **अनुमतं**= अनुमोदित, **सर्वम्**= समस्त, **ऐनः**= पापों को, **निर्व्याजम्**= कपट रहित, **आलोच्य**= आलोचना करके, **अमरण स्थायि**= जीवन पर्यन्त रहने वाले,

निःशेषम्= समस्त (पांचों), **महाव्रतं**=महाव्रत को, **आरोपयेन्**= धारण करें।

अर्थ :- सल्लेखनाधारी कृत, कारित, अनुमोदना से किये गये समस्त पापों को छल-कपट रहित आलोचना करके जीवन पर्यन्त रहने वाले समस्त महाव्रतों को धारण करे ।

स्वाध्याय करने का उद्देश्य

शोकं भय मवसादं, क्लेदं कालुष्य मरति मपि हित्वा ।
सत्त्वोत्साह मुदीर्य च, मनः प्रसाद्यं श्रुतै रमृतैः ॥126॥

शोक खेद भय नेह अरु द्वेष, अरति नहीं करता है लेश।
धैर्य उत्साह प्रकट कर ज्ञान, मन से करे श्रुतामृत पान ॥126॥

अन्वयार्थ :- शोकं= शोक को, **भयं**= डर को, **अवसादं**= स्नेह को, **क्लेदं कालुष्यं**= राग-द्वेष को और, **अरतिम्**= अप्रेम को, **अपि**=भी, **हित्वा**= छोड़कर, **च**= और, **सत्त्वोत्साहं**= अपने बल और उत्साह को, **उदीर्य**= प्रगट करके, **अमृतैः**= अमृत के समान, **श्रुतैः**=शास्त्रों से, **मनः**= मन को, **प्रसाद्यं**= प्रसन्न करें।

अर्थ :- शोक, डर, स्नेह, राग-द्वेष और अप्रेम को छोड़कर बल एवं उत्साह को प्रकट करके अमृत के समान शास्त्रों से मन को प्रसन्न करना चाहिये ।

सल्लेखनाधारी के आहार के त्याग का क्रम

आहारं परिह्याप्य, क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।
स्निग्धं च ह्रापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥127॥

क्रमशः कवलाहार छुड़ाय, फिर स्निग्ध पानादि बढ़ाय।
फिर स्निग्ध पान का त्याग, जल कांजीर में राखे राग ॥127॥

अन्वयार्थ :- सल्लेखनाधारी श्रावक- **आहारं**= अन्न के भोजन को, **परिह्याप्य**=छोड़कर, **क्रमशः**= क्रम से, **स्निग्धंपानम**= दूध और छांछ के पान को, **विवर्द्धयेत्**= बढावे, **च**= और, **स्निग्धं**= दूध और छाछके पान को, **ह्रापयित्वा**=छोड़कर, **खरपानम्**= कांजी और गर्म जल को, **पूरयेत्**=बढावे (पीवे)।

अर्थ :- सल्लेखनाधारी व्यक्ति अन्न के आहार को छोड़ कर क्रम से दूध और छांछ के पान को ग्रहण करे और पश्चात् दूध या छांछ को भी छोड़कर कांजी और गर्म पानी को ग्रहण करें ।

खरपान हापना मपि, कृत्त्वा कृत्वोप वासमपि शक्त्या ।
पञ्च नमस्कार मनास्तनुं, त्यजेत् सर्वयत्नेन ॥128॥

और अन्त छोड़े जलपान, कर उपवास शक्ति पहचान।
मन में पढ़े पंच नवकार, देह तजे कर आत्म विचार॥128॥

अन्वयार्थ :- खर पान हापनाम्= कांजी और गर्म जल के त्याग को, **अपि**= भी, **कृत्त्वा**= करके, **अपि**= फिर, **शक्त्या**= शक्ति के अनुसार, **उपवासम्**= उपवास को, **कृत्वा**= करके, **सर्वयत्नेन**= सर्व प्रकार के प्रयत्न से, **नमस्कारमना:**= पंच नमस्कार मंत्र को मन से पढ़ते हुये, **तनुम्**= शरीर को, **ज्यजेत**= छोड़े।

अर्थ :- कांजी और गर्म पानी को त्याग करके फिर शक्ति से उपवास करके सर्व प्रकार के यत्न से पंच नमस्कार मंत्र का जाप्य करता हुआ शरीर को छोड़े ।

सल्लेखना के पांच अतिचार

जीवित मरणाशंसे, भय मित्र स्मृति निदान नामानः ।
सल्लेखनातिचारः, पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥129॥

जन्म मरण की चाह निदान, मित्र स्मृति भय को पहचान।
सल्लेखना के पंचातिचार, जिनवर का यह कथन विचार॥129॥

अन्वयार्थ :- जीवित मरणाशंसे= जीने और मरने की इच्छा करना, **भय मित्र स्मृति**= डरना, मित्र को याद करना, और **निदाननामान:**=निदान नामक (आगे भव में भोगों की इच्छा करना) ये, **पंच**= पांच, **जिनेन्द्रैः** = जिनेन्द्र भगवान के द्वारा, **सल्लेखनातिचारा:**= सल्लेखना के अतिचार, **समादिष्टा:**= कहे गये हैं।

अर्थ :- जीने की और मरने की इच्छा करना, भयभीत होना, मित्रों का स्मरण करना, आगामी भोगों की इच्छा करना ये पंच जिनेन्द्र भगवान के द्वारा सल्लेखना के अतिचार कहे गये हैं।

सल्लेखना धारण करने का फल

निःश्रेयस मभ्युदयं, निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बु निधिम् ।
निःपिबति पीतधर्मा, सर्वैदुःखै रनालीढः ॥130॥

मोक्ष का सुख है जो निस्तीर, सुख अभ्युदय अति दुस्तीर।
पीत धर्म हो दुख से दूर, सुख समुद्र से हो भरपूर॥130॥

अन्वयार्थ :- पीत धर्मा= धर्म रूपी अमृत का पान करने वाला सल्लेखनाधारी, **सर्वैदुःखैः**= समस्त दुःखों से, **अनालीढः**= रहित होता हुआ, **निस्तीरं**=अपार, **दुस्तरं**= दुर्लभ,**अभ्युदयं**= उत्कृष्ट उदय वाले, **सुखाम्बु निधिम्**= सुख के सागर स्वरूप, **निःश्रेयसं**= मोक्ष को, **निःपिबति**= प्राप्त करता है।

अर्थ :- धर्म रूपी अमृत का पान करने वाला सल्लेखनाधारी समस्त दुःखों से रहित होता हुआ अपार दुस्तर (दुर्लभ) उत्कृष्ट उदय वाले सुख के सागर स्वरूप मोक्ष को पाता है।

मोक्ष का लक्षण

जन्म जरा मय मरणैः, शोकै र्दुःखै र्भयैश्च परिमुक्तम् ।
निर्वाणं शुद्धसुखं , निःश्रेयस मिष्यते नित्यम् ॥131॥

जन्म जरा मृत्यू दुख शोक, भय आदिक ना रहता रोग।
होता सुखद नित्य निर्वाण, निःश्रेयस ये कहा महान॥131॥

अन्वयार्थ :- नित्यम्= शाश्वत, **जन्म-जरा-मय-मरणैः**= जन्म, जरा, रोग, मरण, **शौके र्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्**= शोक, दुःख और भय से रहित, **शुद्ध सुखं**= अतीन्द्रिय सुख वाला, **निःश्रेयसं**= परम कल्याणमय तत्त्व, **निर्वाणं**= मोक्ष, **इष्यते**= कहा गया है ।

अर्थ :- जन्म, बुढापा, रोग, मृत्यु से, शोक से दुःखों और सप्त भयों से रहित अतीन्द्रिय सुख वाला शाश्वत् परम कल्याण मय मोक्ष कहा गया है।

मुक्त जीवों का वर्णन

विद्या दर्शन शक्ति , स्वास्थ्य प्रह्लाद तृप्ति शुद्धियुजः ।
निरतिशया निरवधयो, निःश्रेयस मावसन्ति सुखम् ॥132॥

दर्श ज्ञान अनन्त सुख वीर्य, होय तृप्ति शुद्धि अति धीर्य।
अतिशय रहित निरावधि जान, निःश्रेयस का सुख यों मान॥132॥

अन्वयार्थ :- मुक्त जीव, **निःश्रेयसं**= मोक्ष में, **विद्या दर्शन शक्ति**= अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, **स्वास्थ्य प्रह्लाद तृप्ति शुद्धि युजः**= परमोदासीनता, अनंत सुख, तृप्ति और निर्मलता से युक्त होते हुए, **निरतिशयाः**= गुणों की

न्यूनाधिकता रहित, **निरवधयो**= **का**ल की मर्यादा से रहित, **सुखम**= सुख पूर्वक, **आवसन्ति**= निवास करते हैं ।

अर्थ :- मुक्त जीव मोक्ष में, अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य, स्वास्थ्य (परमोदासीनता) अनंतसुख, तृप्ति और निर्मलता से युक्त होते हुए गुणों की न्यूनाधिकता से रहित, काल की मर्यादा से रहित सुख पूर्वक निवास करते हैं।

मुक्त जीवों के गुणों में विकार का अभाव

काले कल्प शतेऽपि च, गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् ,त्रिलोक संभ्रान्ति करणपटुः ॥133॥

कल्प काल बीते कई सिद्ध, नहिं विकार हो जगत प्रसिद्ध।
तीन लोक सभ्रान्त उत्पात, सिद्ध सुखों का न हो घात ॥133॥

अन्वयार्थ :- **यदि**= यदि (अगर), **त्रिलोक सम्भ्रान्ति करण पटु**:= तीनों लोकों में खलबली पैदा करने वाला, **उत्पादः अपि**= उपद्रव भी, **स्यात्**= हो तो भी, **कल्पशतकाले**= सैकड़ों कल्पकालों के, **गतेऽपि**= बीत जाने पर भी, **शिवानां**= सिद्धों में (गुणों में), **विक्रिया**= कोई विकार, **न लक्ष्या**= दिखाई नहीं देता है ।

अर्थ:- यदि तीनों लोकों में खलबली पैदा करने वाला उपद्रव भी हो तो भी सैकड़ों कल्प कालों के बीत जाने पर भी सिद्धों में कोई विकार दृष्टिगोचर नहीं होता ।

मुक्त जीवों की शोभा का वर्णन

निःश्रेयस मधिपन्नास्-त्रैलोक्य शिखामणि श्रियं दधते ।
निष्किट्टि कालिकाच्छवि, चामी कर भासु रात्मानः ।।134॥

कीट कालिमा बिन ज्यों स्वर्ण, हो प्रकाश अति सुन्दर वर्ण।
सिद्ध शिला पर सिद्ध जिनेश, चूड़ामणि सम रहे विशेष ॥134॥

अन्वयार्थ :- **निःश्रेयसं**= मोक्ष को, **अधिपन्नाः**= प्राप्त करने वाले जीव, **निष्किट्टि कालिकाच्छवि चामी कर भासु रात्मानः**= कीट और दोष से रहित सुवर्ण के समान, आत्मा के धारक होते हुए, **त्रैलोक्य शिखामणिश्रियं**= तीनों लोकों के शिखर में मणि के समान शोभा को, **दधते**= धारण करते हैं।

अर्थ :- मोक्ष को प्राप्त जीव किट्ट कालिमा से रहित दैदीप्यमान सुवर्ण के समान निर्मल आत्मा के धारक होते हुए तीनों लोकों के शिखर में मणि के

समान शोभा को धारण करते हैं ।

समीचीन धर्म धारण करने का फल

पूजार्था ज्ञैश्वर्यैः बल परिजन काम भोगभूयिष्ठैः ।
अतिशयित भुवनमद्भुत मभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥135॥

पूजा धन आज्ञा ऐश्वर्य, लोकातिशायी बल आश्चर्य।
परिजन काम भोग प्रगटाय, धर्म से अभ्युदय भी पाय ॥135॥

अन्वयार्थ :- **सद्धर्मः**= सल्लेखनादि धर्म के धारण करने से, **पूजार्था-ज्ञैश्वर्यैः**= प्रतिष्ठा धन और आज्ञा के ऐश्वर्य तथा, **बल परिजन काम भोग भूयिष्ठैः**= बल, नौकर, चाकर और भोगों की अधिकता से, **अतिशयित भुवनं**= लोकातिशायी और, **अद्भुतं**=आश्चर्यजनक, **अभ्युदयं**= इन्द्रादि पद की प्राप्ति रूप, **फलति**= प्राप्त होता है।

अर्थ :- समीचीन धर्म धारण करने से प्रतिष्ठा, धन और आज्ञा के ऐश्वर्य तथा बल, नौकर चाकर और भोगों की अधिकता से लोकातिशय और आश्चर्यजनक इन्द्र आदि पद की प्राप्ति रूप उत्कर्ष प्राप्त होता है ।

अथ सप्तमोऽधिकारः

श्रावक की ग्यारह प्रतिमा

श्रावक पदानि देवै, रेकादश देशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः, सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥136॥

श्रावक पद निश्चय कर जान, जिनवर कहे एकादश मान।
सहित पूर्वगुण स्वगुण सोय, अनुक्रम से वृद्धी कर होय ॥136॥

अन्वयार्थ :- सर्वज्ञ देव के द्वारा, **श्रावक पदानि**=श्रावक के दर्जे, **खलु**=निश्चय से, **एकादश**= ग्यारह, **देशितानि**=कहे गये हैं, **येषु**=जिन प्रतिमा में, **स्वगुणाः**=अपने-अपने दर्जे के गुण, **पूर्व गुणैः सह**= पहले-पहले दर्जे के गुणों सहित, **क्रम विवृद्धाः**= क्रम से बढ़ते हुए, **सन्तिष्ठन्ते**= रहते हैं।

अर्थ :- सर्वज्ञ देव के द्वारा श्रावकों के दर्जे निश्चय से ग्यारह कहे गये हैं। जिनमें अपने-अपने दर्जे के गुण पहले-पहले दर्जे के गुणों सहित क्रम से बढ़ते हुए रहते हैं।

दर्शन प्रतिमाधारी का लक्षण

सम्यग्दर्शन शुद्धः, संसार शरीर भोग निर्विण्णः ।
पञ्च गुरूचरणशरणो, दर्शनिकस्तत्त्व पथगृह्यः ॥137॥

सम्यक्दृष्टि शुद्ध बहु कोय, भव तन भोगाऽशक्ती खोय।
पंच गुरु का सेवक जान, दर्शन प्रतिमा धारी मान॥137॥

अन्वयार्थ :- (जो) **सम्यग्दर्शन शुद्धः**= दोष रहित सम्यग्दर्शन का धारक हो, संसार शरीर भोग **निर्विण्णः**= संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो, **पंच गुरू चरण शरणः**= पंच परमेष्ठी की शरण में रहने वाला हो, **तत्त्व पथ गृह्यः**= चारित्र मार्ग के पक्ष को ग्रहण किये हो (अष्ट मूलगुण आदि) (वह), **दर्शनिकः**= दर्शन प्रतिमाधारी कहलाता है ।

अर्थ :- जो दोष रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक है, संसार , शरीर और भोगों से विरक्त है, पंच परमेष्ठी के चरणों की शरण को प्राप्त है एवं तत्त्व पथ (मोक्षमार्ग) को ग्रहण करने वाला है वह दार्शनिक प्रतिमाधारी कहलाता है ।

व्रत प्रतिमाधारी का लक्षण

निरतिक्रमण मणुव्रत, पञ्चक मपि शील सप्तकं चापि ।
धारयते निःशल्यो, योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः ॥138॥

सप्तशीलधारी निरतिचार, पंचाणुव्रत धर शुभकार।
शल्य रहित जीवन जो पाय, व्रताचार यह कहे जिनाय॥138॥

अन्वयार्थ :- **यः**= जो श्रावक, **निःशल्यः**= माया, मिथ्यात्व, निदान इन तीन शल्यों से रहित होता हुआ, **निरति क्रमणं**= अतिचार रहित, **अणुव्रत पंचकं** = पांच अणुव्रतों को, **च**=और, शील **सप्तकं अपि**= सात शील व्रतों को भी, **धारयते**= (धारण) पालन करता है, **असौ**=वह, **व्रतिनां**=व्रती पुरूषों के द्वारा, **व्रतिकः**=व्रत प्रतिमाधारी, **मतः**=माना जाता है (कहा गया है) ।

अर्थ :- जो माया, मिथ्या, निदान इन तीन शल्यों से रहित होता हुआ अतिचार रहित पांच अणुव्रतों को और सात शीलव्रतों को धारण करता है, वह व्रत प्रतिमाधारी माना जाता है ।

सामायिक प्रतिमाधारी का लक्षण

चतुरावर्त्त त्रितयश्चतुः, प्रणामः स्थितो यथाजातः ।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्य मभिवन्दी ॥139॥

त्रयावर्त चउ दिश चउ नमन, संग त्याग करके बिन गमन।
तीन योग से शुद्ध तिय संध्य, द्विनिषद्य करता अभिवंद्य॥139॥

अन्वयार्थ :- **चतुरावर्त त्रितयः**= चारों दिशाओं में तीन=तीन आवर्त करने वाला, **चतुः प्रणामः**= चारों दिशाओं में चार (एक-एक) प्रणाम करने वाला, **यथा जातः**= आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह रहित मुनि के समान, **स्थितः**= स्थित, **द्विनिषद्यस्**= खड्गासन या पद्मासन में स्थित, **त्रियोग शुद्धस्**=मन,वचन, काय इन तीनों योगों को शुद्ध रखता हुआ, **त्रिसन्ध्यम्**= सुबह, दोपहर, शाम तीनों समय, **अभिवन्दी**= अभिवन्द (सामायिक) करने वाला, **सामायिकः**= सामायिक प्रतिमाधारी है ।

अर्थ :- चारों दिशाओं में तीन-तीन आवर्त करने वाला, चारों दिशाओं में चार(एक-एक) प्रणाम करने वाला, बाह्य, आभ्यन्तर परिग्रह से रहित मुनि के समान स्थित खड्गासन या पद्मासन पूर्वक तीनों योगों (मन,वचन, काय) को शुद्ध रखता हुआ सुबह, दोपहर और शाम तीनों समय सामायिक करने वाला सामायिक प्रतिमाधारी कहलाता है ।

प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी का लक्षण

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि, मासे मासे स्वशक्ति मनिगुह्य ।
प्रोषध नियमविधायी, प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः ॥140॥

चार पर्व प्रतिमाह के पाय, अपनी शक्ती नहीं छिपाय।
प्रोषध नियम करे जो कोय,ध्यान लीन प्रोषध पद होय॥140॥

अन्वयार्थ :- **मासे मासे**= प्रत्येक माह के, **चतुर्षु**= चारों, **अपि**=ही, **पर्व दिनेषु**= पर्व के दिनों में, **स्व शक्तिं**= अपनी शक्ति को, **अनिगुह्यः**= नहीं छिपाकर, **प्रणधि परः**= धर्म ध्यान में तत्पर होता हुआ, **प्रोषध नियम विधायी**= प्रोषध के नियम का विधान करता है (अथवा नियम से), **प्रोषधनशनः**= प्रोषोधोपवास प्रतिमाधारी है ।

अर्थ :- हर महीनें चारों ही पर्वों में (दोनों अष्टमी, दोनों चतुर्दशी) अपनी

शक्ति को नहीं छिपाकर धर्म ध्यान में तत्पर होता हुआ प्रोषधोपवास करता है। वह प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी कहलाता है ।

सचित्त त्याग प्रतिमाधारी का लक्षण

मूल फल शाक शाखा, करीर कन्द प्रसून बीजानि ।
नामानि योऽत्ति , सोऽयं सचित्त विरतो दयामूर्तिः ॥141॥

शाखा शाक करीर अरु मूल, सचित्त बीज कंद फल फूल।
दयामूर्ति नहि खाते जान, सचित्त विरति वह है गुणवान॥141॥

अन्वयार्थ :- **यः**= जो, **दयामूर्तिः**=दयालु श्रावक, **आमानि**=कच्चे, **मूल फल**= मूल फल, **शाक**=भाजी, **शाखा**=वृक्ष की नई कोंपल, **करीर**=बांस के अंकुर, **कन्द**=कन्द, **प्रसून**=फूल, **बीज**= गेंहू, चना आदि, न **अत्ति**=नहीं खाता है, **सोऽयं**=वही, **सचित्त विरतो**= सचित्तत्याग प्रतिमाधारी श्रावक है ।

अर्थ :- जो दयामूर्ति श्रावक कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, प्रसून बीजादि को नहीं खाता है वह सचित्तत्याग प्रतिमाधारी श्रावक है ।

रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमाधारी का लक्षण

अन्नं पानं खाद्यं, लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रिभुक्तिविरतः, सत्वेष्वनु कम्पमानमनाः ॥142॥

अन्न पान खाद्य अरु लेह्य, रात में नहिं खाता है देय।
रात्रि भुक्ति विरत वह होय, दया करे जीवों पर सोय॥142॥

अन्वयार्थ :- **सत्त्वेषु** = प्राणियों पर, **अनुकम्पमानमनाः**= दयालु चित्त होता हुआ, **यः**=जो श्रावक, **विभावर्याम्**= रात्रि में, **अन्नं**= अन्न को, **पानं**=पीने योग्य वस्तु को, **खाद्यं**= लड्डू, पेड़ा आदि खाद्य पदार्थ को, **लेह्यं**=चाटने योग्य रबड़ी आदि को, **नाश्नाति**=नहीं खाता है, **सः**=वह, रात्रि भुक्ति **विरतः**= रात्रि भोजन त्याग प्रतिमाधारी श्रावक है ।

अर्थ :- प्राणियों पर दया रूप होता हुआ जो व्यक्ति रात्रि में अन्न को, पीने योग्य वस्तु को, खाद्य वस्तु को, चाटने योग्य वस्तु को नहीं खाता है वह रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा का धारक कहलाता है।

ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी का लक्षण

मलबीजं मलयोनिं, गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं ।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति, यो ब्रह्मचारी सः ॥143॥

मल का बीज योनि मल जान, अति ग्लानि दुर्गंधीवान।
लखकर काम विरति जो कोय, शीलवान ब्रह्मचारी होय॥143॥

अन्वयार्थ :- **यः**=जो, **अङ्गं**= शरीर को, **मल बीजं**= मल से उत्पन्न होता हुआ, **मल योनिं**= मल को उत्पन्न करने वाला, **गलन्मलं**= मल को प्रवाहित (बहाने) करने वाला, **पूति गन्धि**=दुर्गन्धयुक्त, **बीभत्सं**= ग्लानिजनक, **पश्यन्**= देखता हुआ, **अनङ्गात्**= काम सेवन से, **विरमति**=विरक्त होता है, **सः**= वह, **ब्रह्मचारी**= ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक है ।

अर्थ :- जो शरीर को रजोवीर्य रूप मल से उत्पन्न (मल बीज) मल को उत्पन्न करने वाला, (मल योनि) मल को बहाने वाला, दुर्गन्धयुक्त और घृणात्मक देखता हुआ काम सेवन से विरक्त होता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी कहलाता है ।

आरंभ त्याग प्रतिमाधारी का लक्षण

सेवा कृषिवाणिज्य, प्रमुखा दारम्भतो व्युपारमति ।
प्राणाति पात हेतोर्-योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥144॥

त्यागि कृषि सेवा व्यापार, प्रमुखारम्भ का त्यागे भार।
प्राणी प्राण की रक्षा कार, आरंभ त्याग प्रतिमा को धार॥144॥

अन्वयार्थ :- **यः**=जो, **प्राणाति पात हेतोः**= जीव हिंसा के कारण, **प्रमुखात्**= मुख्य रूप से , **सेवा कृषि वाणिज्य**= नौकरी, खेती, व्यापार आदिक, **आरम्भतः**= आरंभ के कामों में, **व्युपारमति**= विरक्त होता है, **असौ**= यह (वह), **आरंभ विनिवृत्तः**= आरंभत्याग प्रतिमाधारी है ।

अर्थ :- जो जीव हिंसा के कारण मुख्य रूप से नौकरी, खेती, व्यापार आदि आरंभ के कार्यों से विरक्त होता है, वह आरंभ त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है ।

परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी का लक्षण

बाह्येषु दशसु वास्तुषु, ममत्व मुत्सृज्य निर्ममत्वरतः ।
स्वस्थः सन्तोषपरः, परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ॥145॥

दश विधि संग में ममता छोड़, निर्ममत्व से नाता जोड़।
होय स्वस्थ संतोष प्रधान, परिचित संग विरति पहचान ॥145॥

अन्वयार्थ :- **यः**= जो, **बाह्येषु**= बाह्य, **दशसु** = दस प्रकार के, **वास्तुषु**= परिग्रह में, **ममत्वं**= ममता को, **उत्सृज्य**= छोड़कर, **निर्ममत्वरतः**= निर्मोही होता हुआ, **स्वस्थः**= मायाचार रहित और, **सन्तोष परः**= परिग्रह की चाह रहित होता है वह, **परिचित्त परिग्रहाद्**= समस्त परिग्रह से (सब ओर से चित्त में बसे परिग्रह से), **विरतः**= विरक्त परिग्रह त्याग प्रतिमाधारी है ।

अर्थ :- जो बाह्य दस प्रकार के परिग्रहों से ममता को छोड़ कर, निर्मोही होता हुआ स्वात्मस्थ (मायाचार से रहित) और परिग्रह की चाह से रहित होता है वह समस्त परिग्रह से रहित परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी कहलाता है ।

अनुमति त्याग प्रतिमाधारी का लक्षण

अनुमति रारम्भे वा, परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसु वा ।
नास्ति खलु यस्य, समधी रनुमति विरतः स मन्तव्यः ॥146॥

परिग्रह की अनुमति आरम्भ, ऐहिक कार्यों में अवलम्ब।
निश्चित अनुमति जो नहिं देय, समधी अनुमति विरत कहेय ॥146॥

अन्वयार्थ :- **यस्य**= जिसकी, **आरम्भे**= आरंभ में, **वा**=तथा, **परिग्रहे**= परिग्रहों में, **वा**= और, **ऐहि केषु**= विवाहादि इस लोक संबंधी, **कर्मसु**= कार्यों में, **अनुमतिः**= अनुमति (सलाह), **नास्ति**= नहीं होती है, **सः**= वह, **समधीः**= समता बुद्धि वाला, **खलु**= निश्चय से, **अनुमतिविरतः**= अनुमति त्याग प्रतिमाधारी, **मन्तव्यः**= जानना चाहिये (मानना चाहिये) ।

अर्थ :- जिसकी आरंभ के कार्यों में, परिग्रहों में और विवाह आदि लौकिक कार्यों में अनुमति नहीं होती है वह ममत्व बुद्धि या रागद्वेष से रहित व्यक्ति निश्चय से अनुमति त्याग प्रतिमाधारी कहलाता है ।

उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारी का लक्षण

गृहतो मुनि वनमित्वा, गुरुपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।
भैक्ष्या शनस्तपस्यन्, नुत्कृष्टश्चेल खण्डधरः ॥147॥

जो गृह तज मुनि वन में जाय, गुरू समीप व्रतों को पाय।
उत्तमव्रती सुतप को धार, चेल खण्डधर भिक्षाहार ॥147॥

अन्वयार्थ :- जो, **गृहतो**= घर से, **मुनि वनं**= मुनि के आश्रम को, **इत्वा**=जाकर, **गुरूप कण्ठे**= गुरू के पास में, **व्रतानि**= व्रतों को, **परिगृह्य**= ग्रहण करके, **तपस्यन्**= तप करता हुआ, **भैक्ष्याशनः**= भिक्षा से भोजन प्राप्त करने वाला तथा, **चेल खण्ड धरः**= कौपीन और खण्ड वस्त्र का धारी, **उत्कृष्टः**= उत्कृष्ठ श्रावक, उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारी है ।

अर्थ :- घर से मुनि के आश्रम को जाकर गुरु के पास में व्रतों को ग्रहण करके तप करने वाला भिक्षा से भोजन करने वाला तथा कौपीन और खण्ड वस्त्र का धारक व्यक्ति उत्कृष्ट श्रावक या उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारी कहलाता है।

श्रेष्ठज्ञाता का लक्षण

पाप मराति र्धर्मो, बन्धु र्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समयं यदि जानीते, श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति ॥148॥

पाप शत्रु अरु बंधु है धर्म, जीव हेत जीवन का मर्म।
आगम को जाने जो कोय, ज्ञाता शुभ निश्चय से होय ॥148॥

अन्वयार्थ :- **जीवस्य**= जीव का, **पापं**=पाप, **अरातिः**= शत्रु है, **च**= और, **धर्मो**= धर्म, **बन्धु**= मित्र है, **इति**= इस प्रकार, **ध्रुवं**=हमेशा, **निश्चिन्वन्**= निश्चय रखता हुआ श्रावक, **समयं यदि**= यदि शास्त्र को **जानीते**= जानता है तो वह, **श्रेयो ज्ञाता**=श्रेष्ठ ज्ञाता, **भवति**= होता है ।

अर्थ :- जीव का पाप शत्रु है और धर्म मित्र है इस दृढ़ निश्चय के साथ यदि होई शास्त्र को जानता है, तो वह निश्चय से श्रेष्ठ ज्ञाता होता है (कहलाता है) ।

रत्नात्रय के सेवन का फल

येन स्वयं वीत कलङ्क विद्या, दृष्टि क्रियारत्नकरण्ड भावं।
नीतस्तमायाति पतिच्छयेव, सर्वार्थ सिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥149॥

दर्शन ज्ञानाचरण का कोष, रत्न सुआतम में निर्दोष।
तीन लोक में पति की चाह, सर्व अर्थ की पावे राह ॥149॥

अन्वयार्थ :- **येन**= जिस श्रावक ने, **स्वयं**=अपनी आत्मा को, **वीतकलङ्क**=निर्दोष, **विद्या दृष्टि क्रिया**= सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप, **रत्नकरण्ड भावम्**= रत्नों का पिटारा, **नीतः**=बनाया है, **तम्**= उस पुरूष को, **त्रिषु विष्टपेषु**= तीनों लोक में, **पतिच्छयेव**=पति की इच्छा करती हुई के

समान, **सर्वार्थ सिद्धि:**= धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धरूपी नारी, **आयाति**= प्राप्त होती है।

अर्थ :- जिस भव्य ने अपनी आत्मा को निर्दोष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नों का पिटारा बनाया है, उसको तीनों लोकों में स्वयं के वर की इच्छा से ही चारों पुरूषार्थों की सिद्धि रूप नायिका प्राप्त होती है ।

इष्ट प्रार्थना (अंतिम मंगल)

सुखयतु सुखभूमि:, कामिनं कामिनीव,
सुतमिव जननी मां, शुद्धशीला भुनक्तु।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-
ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मी: ॥150॥

उत्तम नारी नर को जान, ज्यों उत्तम सुख करे प्रदान।
शुद्ध शील वन्ती माँ होय, सुत की रक्षा करती सोय॥
कुल को गुणवति सुता समान, जिनवर कथित विशद श्रद्धान।
सप्त शील वसु गुण युत चित्त, दृष्टि लक्ष्मी करे पवित्र ॥150॥

अन्वयार्थ :- **जिन पति पद पद्म प्रेक्षिणी**= जिनराज के चरण कमल को प्रेक्षण करने वाली, **शुद्ध शीला**= सप्त शीलों से युक्त, **सुखभूमि:**= सुख की जननी, **गुण भूषा**= आठ मूल गुणों से (सुशोभित) विभूषित, **दृष्टि लक्ष्मी:**= सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी, **कामिनं**= कामी पुरूषों को, **सुख भूमि:**= सुख देने वाली, **कामिनीव**= स्त्री की तरह, **माम्**= मुझको, **सुख यतु**= सुखी करें तथा, **सुताम्**= पुत्र को, **शुद्धशीला**= सदाचार देने वाली (शीलवती), **जननी इव**= माता की तरह, **मां भुनक्तु**= मेरी रक्षा करे और, **कुलं**= कुल को, **गुणभूषा**= गुणों से विभूषित, **कन्या इव**= कन्या के समान, **माम्**= मुझको, **सम्पुनीतात्**= पवित्र करें।

अर्थ :- जिनराज के द्वारा निरूपित पदार्थों को श्रद्धान करने वाली सप्त शीलों से युक्त सुख की जननी, अष्ट मूलगुण सहित सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी (सम्पत्ति) नायक को सुख देने वाली नायिका की तरह मुझको सुखी करके तथा पुत्र को शीलवती माता की तरह मेरी रक्षा करें विशद कुल की गुणवती कन्या के समान मुझको पवित्र करें ।

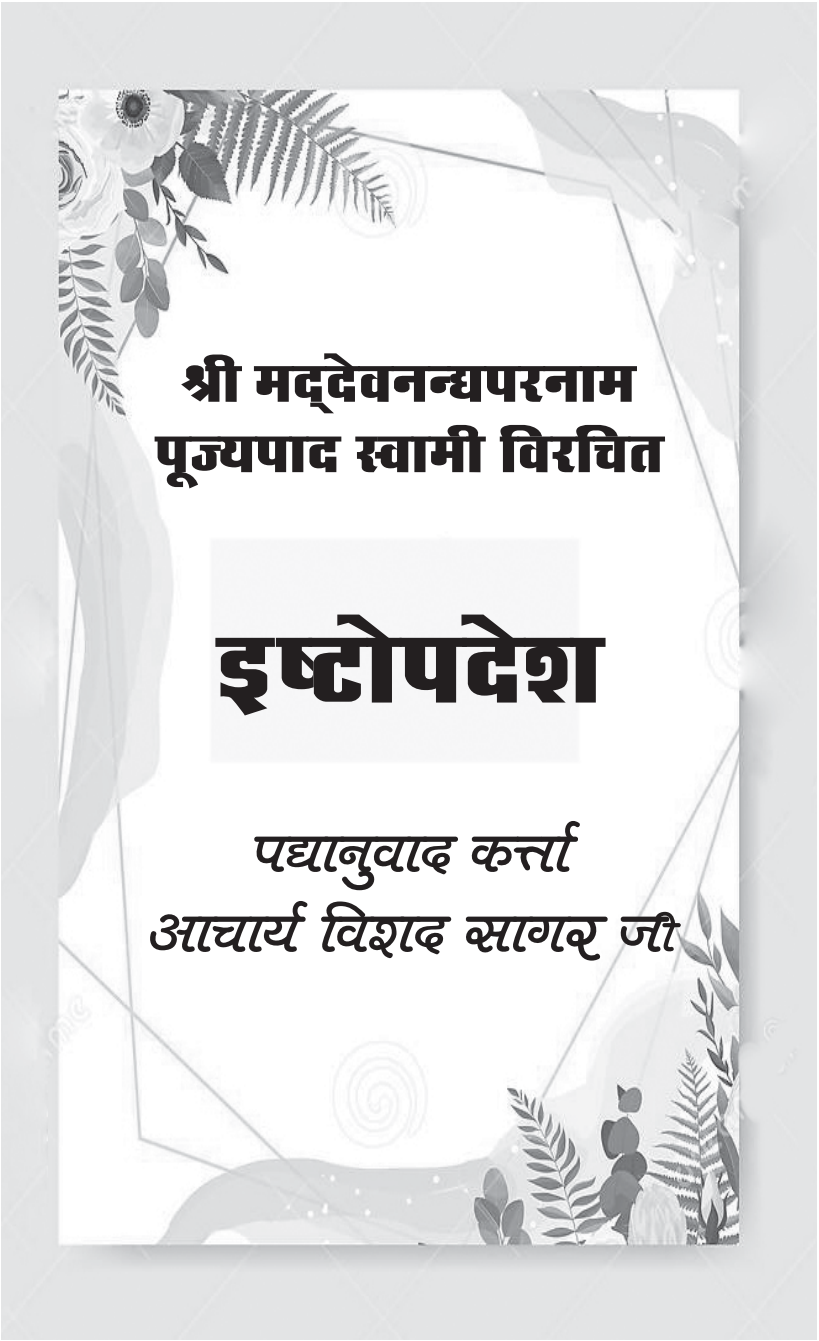

आचार्य पूज्यपाद एक परिचय

श्री पूज्यपाद स्वामी (देवनन्दी) एक बहुत ही प्रसिद्ध आचार्य हुए है। इनके बनाये हुए जैनेन्द्र महाव्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, तत्वार्थ सूत्र की सबसे प्राचीन महत्त्वपूर्ण टीका, समाधितंत्र, इष्टोपदेश और दशभक्ति संग्रह है।

इनका सबसे छोटा किन्तु महत्त्वपूर्ण सुन्दर ग्रन्थ इष्टोपदेश है। इसको यदि जैनोपनिषद कहे तो भी अत्युक्ति नहीं होगा।

इसमें मानव कल्याणकारी तत्त्वों का बड़ा सुन्दर हृदयग्राही वर्णन किया गया है। इसमें प्रतिपादित तत्त्वों के प्रचार एवं तद्नुकुल उपयोग होने पर जगती तल का महान कल्याण हो सकता है। इष्टोपदेश की मूल रचना संक्षिप्त होते हुए भी कथन का प्रकार विशाल और वैराग्यपूर्ण है।

संसारी प्राणी की बहिर्मुखी दृष्टि अंतरोन्मुखी हो सके वह स्व-पद में अवस्थित हो सुपथ का पथिक बन सके इस हेतु इष्ट हितकारी, कल्याणकारी उपदेश की शिक्षा इस ग्रन्थ में दी गई है।

श्री पूज्यपाद स्वामी का जन्म कर्नाटक प्रान्त के अन्तर्गत कोलंगल नाम के नगर में हुआ था। आपके पिताजी का नाम श्री माधवभट्ट तथा माता का नाम श्री देवी था। आपने अपने जन्म द्वारा ब्राह्मण कुल को विभूषित किया था। दीक्षा धारण के समय आपका नाम देवनन्दी था। पूज्यपाद स्वामी न केवल उच्च दर्जे के संयमी थे अपितु महान विद्वान भी थे। उनको व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, वैद्यक, छंदशास्त्र, ज्योतिष साहित्य का ज्ञान ही नहीं अपितु उन पर अधिकार पूर्ण विवेचना करने का सामर्थ्य था। ऐसे साहित्यक योगी महापुरूष को विशद शत-शत नमन।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी की वि.सं. की छठी शताब्दी एवं ईसा की पाँचवी शताब्दी के बहुश्रुत विद्वान् जैनाचार्य हुए जिनने विशद आत्मधर्म, संस्कृत काव्य एवं आयुर्वेद शास्त्र का विवेचन कर भव्य जीवों को उभयलोक में शांति व आनन्द के सूत्र प्रदान किए।

जीवोन्य पुद्गलश्चनान्य , इत्यसौ तत्त्व संग्रह।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोस्तु तस्यैवविस्तरः॥

अर्थात् जीव अन्य है पुद्गल अन्य है यही सर्व तत्त्वों का सार है और जो कुछ भी शास्त्रों में कथन है सब इसी का ही विस्तार है इत्यादि सारगर्भित महत्त्वपूर्ण विषयों को उद्घाटित किया गया है।

इष्टोपदेश

(श्रीमद्देवनन्द्यपरनामपूज्यपादस्वामिविरचित)

मंगलाचरण

यस्य स्वयं स्वभावाप्ति- रभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने॥1॥

(चौपाई छन्द)

कर्म नाश कर श्री जिनेश, पाएँ शुद्ध स्वभाव विशेष।
सम्यक् ज्ञान सहित परमात्म, चरण झुकाते अंतर आत्म॥

अन्वयार्थ - (**यस्य**) जिनके (**कृत्स्न**) सम्पूर्ण, (**कर्मणः**) कर्मों के (**अभावे**) अभाव हो जाने से, (**स्वयं**) अपने आप (**स्वभावाप्तिः**) स्वभाव की प्राप्ति हो गयी है , (**तस्मै**) उन (**संज्ञानरूपाय**) अनंतज्ञान स्वरूप, (**परमात्मने**) परमात्मा को (**नमः**) नमस्कार (**अस्तु**) हो।

अर्थ- जिनके सम्पूर्ण कर्म अभाव हो जाने से स्वतः ही स्वभाव की प्राप्ति हो गई है। उन अनंत ज्ञान (केवलज्ञान) स्वरूप परमात्मा को नमस्कार हो।

निमित्तोपादान से सिद्धि

योग्योपादानयोगेन, दृषदः स्वर्णता मता ।
द्रव्यादि स्वादिसंपत्ता-वात्मनोऽप्यात्मता मता॥2॥

योग्य उपादान नित्य पा जाए, पत्थर स्वर्ण रूपता पाए।
द्रव्य आदि पाकर त्यों आत्म, बन जाता है फिर परमात्म॥

अन्वयार्थ - (**योग्योपादान**) योग्य उपादान के (**योगेन**) योग से (**दृषदः**) स्वर्ण पाषाण (**स्वर्णता**) स्वर्णपने को (**मता**) प्राप्त हुआ/माना गया है (**द्रव्यादि स्वादि**) स्वद्रव्य, क्षेत्र, आदि की (**सम्पत्ता**) प्राप्ति होने से (**आत्मनो**) आत्मा (**अपि**) भी (**आत्मता**) परमात्मपने को प्राप्त हुआ (**मता**) माना गया है।

अर्थ- योग्य उपादान के योग से स्वर्ण पाषाण स्वर्णपने को प्राप्त हुआ माना जाता है, उसी प्रकार स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की प्राप्ति होने से आत्मा भी परमात्मपने को प्राप्त हुआ माना गया है।

व्रतों की सार्थकता

वरं व्रतैः पदं दैवं, नाव्रतैर्वत नारकम् ।
छायातपस्थयोर्भेदः, प्रतिपालयतोर्महान्॥ 3॥
नरक वास अव्रति से होय, देव सुगति व्रत द्वारा सोय।
धूप छांव में भेद ज्यों पाए, पुण्य पाप में भेद कहाय।।

अन्वयार्थ - (**व्रतैः**) व्रत से (**दैवं पदं**) देवपद प्राप्त करना (**वरम्**) श्रेष्ठ है (**अव्रतैः**) अव्रत से (**नारकं**) नरक में उत्पन्न होना (**वत्**) ओह ! (**वरं न**) श्रेष्ठ नहीं है (**छाया तपस्थयोः**) छाया तथा धूप में बैठने वाले पुरुषों के समान (**प्रतिपालयतोः**) व्रत और पापाचरण के प्रतिपालन में (**महान्**) बहुत बड़ा (**भेदः**) अन्तर है।

अर्थ- व्रत से देव पद पाना श्रेष्ठ है, अव्रत से नरक में उत्पन्न होना हाय (खेद वाचक शब्द) श्रेष्ठ नहीं है। छाया और धूप में बैठने वाले पुरुषों के समान व्रत और पापाचरण के प्रतिपालन में बहुत बड़ा अन्तर है।

शिवप्रद भावों से स्वर्ग सहज ही

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियद् दूरवर्तिनी।
यो नयत्याशु गव्यूति, क्रोशार्धे किं स सीदति ?॥ 4 ॥
जिन भावों से हो अपवर्ग, उनसे मिले सहज ही स्वर्ग।
जो दो कोष भार ले जाए, अर्द्ध कोष में कष्ट क्या? पाय॥

अन्वयार्थ - (**यत्र भावः**) आत्मा में लगा हुआ जो भाव (**शिवं दत्ते**) मोक्ष प्रदान करता है उससे (**द्यौः**) स्वर्ग की प्राप्ति (**कियद्दूरवर्तिनी**) कितनी दूर हो सकती है ? (**यः गव्यूति**) जैसे जो मनुष्य दो कोश तक (**आशु नयति**) भार को शीघ्र ले जाता है। (**स**) वह (**क्रोशार्धे**) आधा कोश ले जाने में (**किं सीदति**) क्या दुःखी हो सकता है? अर्थात् नहीं।

अर्थ- जो (आत्मा के) भाव मोक्ष को प्रदान करते हैं (तो उन भावों द्वारा) स्वर्ग पाना कितनी दूर है। जो (व्यक्ति कोई वस्तु) दो कोस तक शीघ्र ले जाता है वह आधा कोस ले चलने में क्या दुःखी होता है? अर्थात् नहीं होता है।

स्वर्ग सुख का कथन

हृषीकजमनातङ्कं , दीर्घकालोपलालितम् ।
नाके नाकौकसां सौख्यं, नाके नाकौकसामिव॥5॥
दीर्घकाल इन्द्रिय सुख भारी, पावें देवों के अवतारी।
देवी देव की सेवा पाते, दिव्य सुखों को पाते जाते॥

अन्वयार्थ - (**नाके**) स्वर्ग में (**नाकौकसाम्**) देवों का (**हृषीकजं**) इन्द्रिजन्य (**सौख्यं**) सुख (**अनातङ्कं**) बाधारहित और (**दीर्घकाल उपलालितम्**) दीर्घकाल तक सेव्य तथा (**नाकौकसाम्**) स्वर्ग में रहने वाले देवों के समान ही (**भवति**) होता है।

अर्थ- स्वर्ग में देवों को पांचों इन्द्रियों से उत्पन्न सुख निश्चित (विघ्न से रहित) दीर्घ काल तक प्राप्त हुआ सुख स्वर्ग के देवों की तरह होता है।

इन्द्रिय सुख-दुःख भ्रान्ति मात्र

वासनामात्रमेवैतत्, सुखं दुःखं च देहिनाम्।
तथाह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥ 6॥
सुख दुख रूप विकट संसार, मात्र विकल्प होय निःसार।
रोगी सम आकुलता होय, विषय भोग में जो भी खोय॥

अन्वयार्थ - (**देहिनाम्**) संसारी जीवों के (**एतत् सुखं**) ये इन्द्रिय जन्य सुख (**च**) और (**दुःखं**) दुःख (**वासना मात्रं एव**) भ्रम (कल्पना) मात्र हैं (**तथा हि**) इसलिए (**एते भोगाः**) ये इन्द्रियों के भोग (**आपदि**) आपत्ति के समय (**रोगाः इव**) रोगों की तरह (**उद्वेजयन्ति**) व्याकुलता उत्पन्न करते हैं।

अर्थ- संसारी प्राणियों के यह इन्द्रिय सुख और दुःख कल्पना मात्र ही है,, उसी प्रकार ये (यह) भोग आपत्ति के समय रोग के समान दुःख को उत्पन्न (व्याकुल) करते हैं।

मोहावृत ज्ञान वस्तु-स्वरूप नहीं जानता

मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि ।
मत्तः पुमान् पदार्थानां, यथा मदनकोद्रवैः ॥7॥
मोह से आवृत हो यदि ज्ञान, आत्म स्वभाव का न हो भान।
मदन कोद्रव को ज्यों खाय, मत्त पुरुष सम जगत् भ्रमाय ॥

अन्वयार्थ - (**मोहेन**) मोह से (**संवृतं ज्ञानं**) ढका हुआ ज्ञान (**स्वभावं**) आत्म स्वभाव को (**न हि लभते**) नहीं प्राप्त कर पाता है (**यथा**) जैसे (**मदन कोद्रवैः**) नशीले कोदों के खा लेने से (**मत्तः पुमान्**) मूर्च्छित या बेहोश मनुष्य (**पदार्थानां**) पदार्थों को ठीक तरह से नहीं जान पाता।

अर्थ- मोह से आवृत ज्ञान निश्चय से स्वभाव को प्राप्त नहीं होता जैसे नशीले कोदों के खा लेने से प्रमत्त हुआ पुरुष पदार्थों को नहीं जान पाता।

मोही परपदार्थ को अपना मानता है

वपुर्गृहं धनं दाराः, पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्यस्वभावानि, मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥ 8॥

काया गृह दौलत अरु मित्र, निज वनिता शत्रु अरु पुत्र।
होते सब स्वभाव से भिन्न, मूढ़ मानते हैं अर्वाछन्न॥

अन्वयार्थ - (**वपुः गृहं**) शरीर, गृह, (**धनं दाराः**) धन, स्त्रियाँ, (**पुत्राः मित्राणि**) पुत्र, मित्र और (**शत्रवः**) शत्रु (**सर्वथा**) सभी तरह से (**अन्यस्वभावानि**) आत्म स्वभाव से अन्य स्वभाव वाले हैं परन्तु (**मूढः**) मोही (**अज्ञानी**) प्राणी इन्हें (**स्वानि प्रपद्यते**) अपना समझता है ।

अर्थ- शरीर, घर, धन, स्त्री, मित्र, शत्रु सब तरह से अन्य स्वभाव वाले हैं परंतु मूढ प्राणी (अज्ञानी) उन्हें अपना मानता (समझता) है।

संसारी जीव का कुटुम्ब परिवार कैसा है

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संवसन्ति नगे - नगे।
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे-प्रगे ॥ 9॥

दिशा देश से पक्षी आँय, डाल-डाल पर रुकते जाँय।
भिन्न भिन्न दिश प्रातः होय, निज कार्यों वश उड़ते सोय॥

अन्वयार्थ - (**दिग्देशेभ्यः**) भिन्न-भिन्न दिशाओं व देशों से (**खगाः**) पक्षीगण (**एत्य**) आकर (**नगे-नगे**) वृक्ष-वृक्ष पर (**संवसन्ति**) ठहर जाते हैं, तथा (**प्रगे-प्रगे**) प्रातःकाल (**स्वस्वकार्यवशात्**) अपने-अपने कार्य के वश से (**देशे दिक्षु**) भिन्न-भिन्न देश व दिशाओं में (**यान्ति**) उड़कर चले जाते हैं।

अर्थ- दिशा-विदिशाओं से पक्षी आकर वृक्ष-वृक्ष पर रात्रि में निवास करते

हैं और प्रातः काल होते ही अपने-अपने कार्य के वश से दिशाओं में चले जाते हैं।

अहितकर के प्रति क्रोध व्यर्थ

विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय परिकुप्यति ।
त्र्यङ्गुलं पातयन् पद्भ्यां, स्वयं दण्डेन पात्यते ॥10॥

अपकारक पर व्यर्थ है रोष, विशद जगाओ मन में बोध।
पद से त्र्यंगुल जीव गिराय, आप स्वयं नीचे गिर जाय॥

अन्वयार्थ - (**विराधकः**) अपकार करने वाला मनुष्य (**हन्त्रे जनाय**) मारने वाले मनुष्य के ऊपर (**कथं परिकुप्यति**) क्यों क्रोध करता है? देखो (**त्र्यङ्गुलं**) तीन अँगुल वाले (फावड़े आदि) के (**पद्भ्यां**) पैरों के द्वारा (**पातयन्**) गिराने वाला मनुष्य (**स्वयं दण्डेन**) स्वयं लकड़ी के बेंत द्वारा (**पात्यते**) गिरा दिया जाता है।

अर्थ - अपकार करने वाले, मारने वाले मनुष्य के प्रति क्यों क्रोध करता है? क्योंकि तीन अङ्गुल (फावड़े) आदि का भूमि पर (खोदने के लिए) गिरता हुआ मनुष्य पैरों से बेंत के द्वारा स्वयं गिराया (झुकाया) जाता है।

संसार में जीव किस तरह घूमता है

रागद्वेषद्वयीदीर्घ - नेत्राकर्षणकर्मणा ।
अज्ञानात् सुचिरं जीवः, संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ।।11।।

जीव भ्रमण भवदधि में पाय, सुचिर काल से जीव भ्रमाय।
नेता राग द्वेष हैं दोय, ज्यों मथान घूमत है सोय॥

अन्वयार्थ - (**असौ**) यह (**जीवः**) संसारी प्राणी (**संसार अब्धौ**) इस संसार-समुद्र में (**अज्ञानात्**) अज्ञान के कारण से (**सुचिरं**) अनादिकाल से (**रागद्वेषद्वयी दीर्घ**) राग-द्वेष रूपी दो लंबी (**नेत्राकर्षण-कर्मणा**) रस्सी के द्वारा कर्मों को ग्रहण करता हुआ (**भ्रमति**) घूम रहा है।

अर्थ- संसारी जीव राग-द्वेष रूपी दो लम्बी रस्सी के द्वारा कर्मों को ग्रहण करता है और अज्ञान से संसार समुद्र में चिरकाल तक भ्रमण करता है।

कोई न कोई विपत्ति मौजूद ही रहती है

विपद्भवपदावर्ते, पदिके वाातिवाह्यते ।
यावत्तावद्भवन्त्यन्याः, प्रचुरा विपदः पुरः ॥ 12॥

पादिक घटिका यत्र समान, घूम-घूमकर ज्यों फिर आन।
बहु दुख आपद जग में आय, एक जायकर बहु आ जाय ॥

अन्वयार्थ - (**भव-पदावर्ते**) संसार रूपी पैर से चलने वाले घटीयंत्र में (**पदिका इव**) रहट के समान (**यावत्**) जब तक (**विपद्**) एक विपत्ति (**अतिवाह्यते**) समाप्त की जाती है (**तावत्**) तब तक (**अन्यः प्रचुराः**) दूसरी बहुत सी (**विपदः**) विपत्तियाँ (**पुरः भवन्ति**) सामने आ खड़ी हो जाती हैं।

अर्थ - संसार में पैर से चलने वाली घटीयंत्र (रहट) के समान जब तक एक विपत्ति समाप्त होती है, तब तक दूसरी बहुत रूप में (विपत्तियाँ) आगे खड़ी हो जाती हैं।

हर हाल में धन दुःखकर

दुरर्ज्येनासुरक्ष्येण , नश्वरेण धनादिना ।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि, ज्वरवानिव सर्पिषा ॥13॥
दुर्जय सुत सम्पत्ती जान, असुरक्षित नश्वर भी मान।
ज्वर से पीड़ित मानव कोय, घृत पीकर सुख मानें सोय॥

अन्वयार्थ - (**दुरर्ज्येन**) बड़ी कठिनाइयों से कमाये जाने वाले तथा (**असुरक्ष्येण**) सुरक्षित न रहने वाले (**नश्वरेण**) विनश्वर (**धनादिना**) धन पुत्रादिकों में (**कः जनः**) कौन मनुष्य (**ज्वरवान् इव**) ज्वर से सहित होने पर, (**अपि**) भी, (**सर्पिषा**) घी पीने के, (**इव**) समान, अपने आपको, (**स्वस्थं**) स्वस्थ (सुखी), (**मन्यो**) मानता है।

अर्थ- बड़ी कठिनाई से अर्जन होने वाले, सुरक्षित न रहने वाले, नाशवान, धन, पुत्रादिकों में कौन पुरुष ज्वर से सहित होने पर भी घी के समान अपने आपको स्वस्थ (सुखी) मानता है? अर्थात् कोई नहीं।

संसारी प्राणी दूसरों का दुःख देखता है

विपत्तिमात्मनो मूढ़ः, परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमान मृगाकीर्ण, वनान्तरतरुस्थवत् ॥ 14॥
पर की विपद देखता मूढ़, निज को जाने नहीं विमूढ़।
जलें मृगादिक पशु वन माहिं, बैठा लखे स्वयं तरु जाहिं॥

अन्वयार्थ - (**मृगाकीर्ण**) मृग आदि जीवों से भरे तथा (**दह्यमान**) अग्नि से जलते हुए (**वनान्तर**) वन में (**तरुस्थवत्**) वृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य के समान (**मूढः**) मूर्ख प्राणी (**परेषां**) दूसरे की (**विपत्तिम् इव**) विपत्ति के समान (**आत्मनः**) अपने ऊपर आई हुईं विपत्ति को (**न ईक्षते**) नहीं देखता है।

अर्थ- फैली हुई अग्नि से जलते हुए मृग आदि जीवों के समूह से युक्त वन में किसी वृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य की तरह मूर्ख जीव दूसरे की विपत्ति के समान अपनी विपत्ति को नहीं देखता है।।

लोभी को धन इष्ट है

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्ष, हेतुं कालस्य निर्गमम् ।
वाञ्छतां धनिना-मिष्टं, जीवितात्सुतरां धनम् ॥ 15॥
काल गये आयू क्षय होय, धन वृद्धी का कारण सोय।
धनिक को होता है धन इष्ट, काल के मुँह वह होय प्रविष्ट॥

अन्वयार्थ - (**कालस्य निर्गमम्**) समय का व्यतीत होना (**आयुः क्षय**) आयु के क्षय और (**वृद्धि उत्कर्ष हेतुं**) धन की वृद्धि का कारण है (**वाञ्छतां धनिनां**) धन चाहने वाले धनवान् पुरुषों को (**जीवितात्**) अपने जीवन से भी (**सुतराम्**) अधिक या अच्छी तरह से (**धनं इष्टम्**) धन इष्ट होता है।

अर्थ- काल के निकल जाने पर आयु के क्षय और धन की वृद्धि का कारण मानने वाले धनवान पुरुषों को अच्छी तरह से अपने जीवन से भी धन का पाना इष्ट है।

त्याग के लिए संग्रह उचित नहीं

त्यागाय श्रेयसे वित्त-मवित्तः संचिनोति यः ।
स्वशरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति ॥ 16॥
धन संग्रह करते जो लोग, दान त्याग करने के योग।
निज तन लेते पंक नशाय, बाद स्वयं स्नान हो जाय॥

अन्वयार्थ - (**यः अवित्तः**) जो निर्धन मनुष्य (**त्यागाय**) दान पुण्य करने के लिए (**वित्तं सञ्चिनोति**) धन को संग्रहित करना (**श्रेयसे**) श्रेष्ठ मानता है (**सः**) वह (मनुष्य) (**स्नास्यामि**) मैं स्नान करूँगा (**इति**) इस विचार से (**स्वशरीरं**) अपने शरीर को (**पङ्केन विलिम्पति**) कीचड़ में लिप्त करता है। जो कि उचित नहीं है।

अर्थ- जो धन से रहित (गरीब) त्याग करने के लिए धन का संचय करना श्रेष्ठ मानता है वह 'स्नान करुँगा' इस विचार से अपने शरीर को कीचड़ से लीपता है।

हर स्थिति में भोग कष्टकर

आरम्भे तापकान्, प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान्, कामं कः सेवते सुधीः ॥17॥

भोग प्रथम संताप को ल्याय, मिले भोग तृष्णा बढ़ जाय।
त्याग समय पर दुख बहु देय, कौन सुधी भोगों को सेय॥

अन्वयार्थ - जो (**कामान्**) विषय भोग (**आरम्भे**) प्रारम्भ में (**तापकान्**) सन्ताप देने वाले (**प्राप्तौ**) प्राप्त हो जाने पर (**अतृप्ति**) तृष्णा (**प्रतिपादकान्**) बढ़ाने वाले तथा (**अन्ते**) अन्त में (**सुदुस्त्यजान्**) बड़ी कठिनाई से छूटने योग्य (**कामं**) काम को (**कः सुधीः**) कौन बुद्धिमान पुरुष (**सेवते**) सेवन करता है? अर्थात् इन विषयों को अज्ञानी रुचि पूर्वक भोगते हैं, ज्ञानी नहीं।

अर्थ- जो विषय-भोग आरम्भ में ताप को प्राप्त कराते हैं एवं अतृप्त (तृष्णा) को बढ़ाने वाले हैं तथा अन्त में बहुत कठिनाई से छूटते हैं ऐसे काम को कौन बुद्धिमान पुरुष सेवन करेगा? अर्थात् कोई नहीं करेगा।

अपवित्र शरीर की कामना व्यर्थ

भवन्ति प्राप्य यत्सङ्ग-मशुचीनि शुचीन्यपि ।
स कायः संततापायस्-तदर्थं प्रार्थना वृथा॥ 18॥

पाकर शुचि वस्तू संयोग, हो मलीनता देह के योग।
विघ्न सहित हैं बहु दुखदाय, भोग चाह में जगत् भ्रमाय॥

अन्वयार्थ - (**यत्सङ्गम् प्राप्य**) जिसका संयोग पाकर (**शुचीनि अपि**) पवित्र पदार्थ भी (**अशुचीनि**) अपवित्र (**भवन्ति**) हो जाते हैं (**स कायः**) ऐसा वह शरीर (**सन्तत अपायः**) सदा क्षुधादि दुःखों का कारण है अतः (**तदर्थं**) उसके लिए (**प्रार्थना वृथा**) भोगों की कामना करना व्यर्थ है।

अर्थ- जिसका संयोग प्राप्तकर पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं ऐसा वह शरीर हमेशा विनाशीक है उसके लिए प्रार्थना (कामना) करना व्यर्थ है।

उपकार/अपकार

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम् ।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम् ॥ 19॥

जिससे आतम का उपकार, उससे तन का है अपकार।
देह का जिससे हो उपकार, उससे आतम का अपकार॥

अन्वयार्थ - (**यत् जीवस्य**) जो कार्य या पदार्थ आत्मा का (**उपकाराय**) उपकार करने वाला है (**तत् देहस्य**) वह शरीर का (**अपकारकम्**) अपकार करने वाला है, तथा (**यत्**) जो (**देहस्य उपकाराय**) शरीर का उपकार करने वाला है (**तत्**) वह (**जीवस्य अपकारकम्**) आत्मा का अपकार करने वाला है।

अर्थ- जो जीव उपकार के लिए होता है, वह शरीर का अपकार करता है जो देह के उपकार के लिए होता है वह जीव का अपकार करता है।

विवेकी किसमें आदर करें

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य, इतः पिण्याकखण्डकम् ।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये, क्वाद्रियन्तां विवेकिनः ॥20॥

खली खंड चिन्तामणि रत्न, ध्यान करे करके जो यत्न।
ध्यान से दोनों ही मिल जाए, बुधजन किसका ध्यान लगाए॥

अन्वयार्थ - (**इतः दिव्य**) यहाँ (एक तरफ) दिव्य (**चिन्तामणिः**) चिन्तामणि रत्न और (**इतः**) यहाँ (दूसरी तरफ) (**पिण्याकखण्डकम्**) खली का टुकड़ा है (**चेत् उभे**) ये दोनों यदि (**ध्यानेन लभ्ये**) ध्यान के द्वारा प्राप्त होते हैं तो (**विवेकिनः**) बुद्धिमान मनुष्य (**क्व**) किसमें (**आद्रियन्तां**) आदर करेगा ?

अर्थ- यहाँ दिव्य चिन्तामणि रत्न है और यहाँ खली का टुकड़ा (मिलता) है यदि दोनों ही ध्यान के द्वारा प्राप्त होते हैं तो विवेकी (बुद्धिमान) किसमें (कहां) आदर करेगा? अर्थात् चिन्तामणि रत्न में ही आदर करेगा।

आत्मा का स्वरूप

स्वसंवेदनसुव्यक्तस् - तनुमात्रो निरत्ययः ।
अत्यन्तसौख्यवानात्मा, लोकालोकविलोकनः ॥ 21॥

निज संवेदन प्रकट सुजीव, होता देह प्रमाण सजीव।
सुख अनंत अविनाशी होय, लोकालोक प्रकाशी होय॥

अन्वयार्थ - (**आत्मा**) यह आत्मा (**स्वसंवेदन**) आत्म-अनुभव द्वारा (**सुव्यक्तः**) स्पष्ट प्रकट होता है [जाना जाता है] (**तनुमात्रः**) यह शरीर के बराबर है (**निरत्ययः**) अविनाशी है (**अत्यन्त सौख्यवान्**) अनन्त सुख वाली है तथा (**लोकालोक**) लोक और अलोक को (**विलोकनः**) जानने देखने वाली है।

अर्थ- आत्मा आत्म अनुभव द्वारा स्पष्ट प्रगट है, शरीर प्रमाण है, अविनाशी है, अनन्त सुख वाली है, लोक, अलोक को जानने देखने वाली है।

आत्म-ध्यान करने का उपाय

संयम्य करणग्राम-मेकाग्रत्वेन चेतसः ।
आत्मानमात्मवान् ध्याये-दात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥ 22॥

चित्त में स्थिरता को लाय, इन्द्रिय विषय से ध्यान हटाय।
आतम से आतम को ध्याय, आतम से ही ध्यान लगाय॥

अन्वयार्थ - (**आत्मवान्**) आत्मा (**करणग्रामं**) इन्द्रिय समूह को (**संयम्य**) संयमित कर [विषयों को रोककर] (**चेतसः**) चित्त की (**एकाग्रत्वेन**) एकाग्रता से (**आत्मनि**) अपने आत्मा में (**स्थितम्**) स्थिर होकर (**आत्मना एव**) अपने आत्मा द्वारा ही (**आत्मानं**) अपने आत्मा का (**ध्यायेत्**) चिन्तन करें।

अर्थ- आत्मा इन्द्रियों के समूह को (बाहरी विषयों से) रोककर मन की एकाग्रता से अपनी आत्मा में स्थिर होकर अपनी आत्मा द्वारा ही आत्मा का ध्यान करें।

जो है उसी का दान

अज्ञानोपास्ति - रज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानि समाश्रयः ।
ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥ 23॥

मूर्ख की सेवा दे अज्ञान, ज्ञानी की देती है ज्ञान।
देता वह जिसके जो पास, जग प्रसिद्ध होती यह बात॥

अन्वयार्थ - (**अज्ञानोपास्तिः**) अज्ञानी की उपासना (सेवा) (**अज्ञानं**)

अज्ञान (**ददाति**) देती है (**ज्ञानिसमाश्रयः**) ज्ञानियों की उपासना (आश्रय) (**ज्ञानं**) ज्ञान, [क्योंकि] (**इदम् वचः**) यह बात (**सुप्रसिद्धम्**) अच्छी तरह से प्रसिद्ध है कि (**यस्य**) जिसके पास (**यत्तु अस्ति**) जो होता है, निश्चय से वही (**ददाति**) देता है।

अर्थ- अज्ञान की उपासना से अज्ञान और ज्ञानी का आश्रय लेने से ज्ञान मिलता है (क्योंकि) यह बात अच्छी तरह प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो होता है, वह निश्चय से वही देता है।

आत्म ध्यान का फल

परीषहाद्यविज्ञाना - दास्रवस्य निरोधिनी ।
जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाशु निर्जरा ॥ 24॥

करें आत्म चिंतन अरु ध्यान, नहिं हो परीषह का कुछ भान।
कर्मास्रव की बाधक जान, कर्म निर्जरा होय महान॥

अन्वयार्थ - (**अध्यात्मयोगेन**) अध्यात्म योग से (**परिषहादि**) परीषह (भूख,प्यास) आदि का (**अविज्ञानात्**) अनुभव नहीं होता, जिससे (**आस्रवस्य**) आस्रव को (**निरोधनी**) रोकने वाली (**कर्मणाम्**) कर्मों की (**निर्जरा**) निर्जरा (**आशु जायते**) शीघ्र होने लगती है।

अर्थ- अध्यात्म योग से परीषह आदि का अनुभव न होने के कारण आस्रव का निरोध होता है (इससे) शीघ्र ही कर्मों की निर्जरा होती है।

एकत्व में संबंध नहीं

कटस्य कर्त्ताहमिति, संबंधः स्याद् द्वयोर्द्वयोः ।
ध्यानं ध्येयं यदात्मैव, संबंधः कीदृशस्तदा ॥ 25॥

कर्त्ता कोई चटाई बनाय, कर्त्ता कर्म घटित हो जाय।
आतम ध्यान ध्येय हो एक, क्यों संबंध बने फिर नेक॥

अन्वयार्थ - (**अहम्**) मैं (**कटस्य कर्त्ता**) चटाई का कर्ता हूँ (**इति सम्बन्धः**) इस प्रकार कर्ता-कर्म सम्बन्ध (**द्वयोर्द्वयोः**) भिन्न-भिन्न दो पदार्थों में (**स्यात्**) होता है, परन्तु (**यदा ध्यानं ध्येयं**) जब ध्यान ध्येय (**आत्म एव**) आत्मा ही हो (**तदा**) तब (**कीदृशः संबंधः**) कैसा संबंध हो सकता है?

अर्थ- मैं चटाई का करता हूँ (बनाने वाला हूँ) इस प्रकार (कर्त्ता, कर्म) संबंध भिन्न-भिन्न दो पदार्थों में होता है जब आत्मा ही ध्यान है, तब संबंध कैसा?

बंध और मोक्ष के कारण

बध्यते मुच्यते जीवः, सममो निर्ममः क्रमात् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥ 26॥
ममता भाव से बँधता जान, ममता रहित मुक्ति हो मान।
सर्व यत्न कर आतम ध्यान, निर्ममत्व को तू पहिचान ॥

अन्वयार्थ - (**सममः**) ममता भाव सहित और (**निर्ममः**) ममता भाव रहित (**जीवः**) जीव (**क्रमात्**) क्रम से (कर्मों से) (**बध्यते**) बँधता है तथा (**मुच्यते**) छूटता है (**तस्मात्**) इस कारण (**सर्वप्रयत्नेन**) सर्व प्रयत्न से (**निर्ममत्वं**) निर्ममत्व होने का (**विचिन्तयेत्**) विशेष रूप से चिन्तवन करें।

अर्थ- ममकार सहित जीव और ममकार रहित जीव क्रम से (कर्मों से) बंधता है, छूटता है। इसलिए संपूर्ण प्रयत्नों के द्वारा निर्ममत्वपने का चिंतवन (ध्यान) करना चाहिए।

निर्ममता की सिद्धि योग्य विचार

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्याः संयोगजा भावा, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ 27॥
ममता रहित एक मैं शुद्ध, ज्ञानी योगी जाने बुद्ध।
देहादिक है बाह्य संयोग, भिन्न सर्वथा होता योग॥

अन्वयार्थ - (**अहम् एकः**) मैं एक हूँ (**निर्ममः शुद्धः**) ममता रहित शुद्ध हूँ (**ज्ञानी**) ज्ञानी हूँ तथा (**योगीन्द्र गोचरः**) योगियों [केवली, श्रुतकेवली] द्वारा जानने योग्य हूँ (**सर्वे अपि**) सभी (**संयोगजा भावा**) संयोग से उत्पन्न होने वाले पदार्थ (**मत्तः**) मुझसे [आत्म स्वभाव से] (**सर्वथा बाह्याः**) सब तरह से भिन्न हैं।

अर्थ - मैं एक हूँ, निर्ममत्व हूँ, शुद्ध हूँ, सम्यग्ज्ञानी हूँ, श्रेष्ठ योगियों द्वारा जाना जाता हूँ, संयोग से उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ मेरे से (आत्मा से) सर्वथा बाहरी (भिन्न) हैं।

संबंधों को त्यागने की प्रेरणा

दुःखसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम् ।
त्यजाम्येनं ततः सर्वं, मनोवाक्कायकर्मभिः ॥ 28॥
आतम देह योग को पाय, प्रतिक्षण भारी कष्ट उठाय।
मन वच काय क्रिया के योग, अतः छोड़ता हूँ संयोग॥

अन्वयार्थ - (**इह**) इस संसार में (**देहिनाम्**) जीवों को (**संयोगात्**) शरीर, धनादि के संयोग से (**दुःखसंदोह**) दुःख समूह का (**भागित्वं**) भागीदार बनना पड़ता है (**ततः**) इस कारण (**एनं सर्वं**) इन सभी [शरीर और कर्म के] संयोग को (**मनोवाक्कायकर्मभिः**) मन, वचन, काय की क्रिया द्वारा (**त्यजामि**) मैं छोड़ता हूँ।

अर्थ - यह संसारी प्राणियों को संयोग के कारण दुःखों के समूह का भागीदार बनना पड़ता है इसलिए मैं इन सभी को मन, वचन, काय के कार्य द्वारा छोड़ता हूँ।

पौद्गलिक परिणति मेरी नहीं

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्-न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाऽहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले ॥ 29॥
कहाँ कष्ट जब व्याधी नाय, नहीं मरण तो भय क्यों खाय ।
नहीं वृद्ध नहिं बाल जवान, यह सब पुद्गल की पहिचान ॥

अन्वयार्थ - (**मे**) मेरी (**मृत्युः न**) मृत्यु नहीं होती [तब] (**कुतः भीतिः**) डर किसका? (**मे**) मुझे (**व्याधिः न**) कोई रोग नहीं होता है [इसलिए] (**कुतः व्यथा**) दुःख कहाँ से हो सकता है? (**अहम्**) मैं (**बालः न**) बालक नहीं हूँ (**वृद्धः न**) बूढ़ा नहीं हूँ (**युवाः न**) जवान नहीं होता (**एतानि**) ये सब बातें (स्थितियाँ) (**पुद्गले**) पौद्गलिक शरीर में होती हैं।

अर्थ- मेरी मृत्यु नहीं है तब मुझे भय किसका? मेरे कोई रोग नही हैं तब कष्ट किसका? मैं बालक नहीं हूँ, मैं वृद्ध नहीं हूँ और जवान नहीं हूँ ये सब पुद्गल में होते हैं।

ज्ञान की अनासक्त बुद्धि

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान् मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥30॥

मोह से पुद्गल बारम्बार, भोग के छोड़े सब हर बार।
मैं क्यों उस उच्छिष्ट समान, राग करुँ वस्तू में जान॥

अन्वयार्थ - (**सर्वे अपि**) सभी (**पुद्गलाः**) पुद्गल परमाणु [पदार्थ] (**मया मोहात्**) मैंने मोह के कारण से (**मुहुः**) बार-बार (**भुक्तोज्झिता**) भोगकर छोड़ दिये हैं, अतः (**अद्य**) अब (**उच्छिष्टेषु इव**) जूठन [वमन] के समान (**तेषु**) उन पुद्गलों में (**मम विज्ञस्य**) मुझ बुद्धिमान की (**का स्पृहा**) अभिलाषा कैसे हो सकती है ?

अर्थ- सभी पुद्गल पदार्थ मेरे द्वारा मोह से बार-बार भोग कर छोड़ दिए गए हैं (फिर) जूठन के समान उन पुद्गलों में मुझ बुद्धिमान (ज्ञानी) की अब क्या अभिलाषा है? अर्थात् कुछ इच्छा नहीं है।

सभी अपना प्रभाव बढ़ाते हैं

कर्म कर्महिताबन्धि, जीवो - जीवहितस्पृहः ।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे, स्वार्थं को वा न वाञ्छति ॥31॥
कर्म को कर्म के हित की चाह, जीव-जीव हित में अवगाह।
निज प्रभाव वृद्धी के अर्थ, नहीं कौन जो चाहे स्वार्थ॥

अन्वयार्थ - (**कर्म**) कर्म (**कर्म हिताबन्धि**) अपने हित रूप साथी कर्मों को ही बाँधता है तथा (**जीवः**) आत्मा (**जीवहितस्पृहः**) अपने आत्मा के हित की इच्छा करता है (**स्व स्व**) अपने-अपने (**प्रभाव भूयस्त्वे**) शक्तिशाली प्रभाव के होने पर (**को वा स्वार्थं**) कौन सा व्यक्ति अपना हित (**न वाञ्छति**) नहीं चाहता ?

अर्थ- कर्म अपने हित रूप कर्म को बाँधता है, जीव, (आत्मा) जीव के हित की इच्छा करता है (क्योंकि) अपने-अपने प्रभाव के होने पर कौन सा व्यक्ति अपना हित नहीं चाहता ? अर्थात् सभी अपना हित चाहते हैं।

आत्मोपकारी बनने का उपदेश

परोपकृतिमुत्सृज्य, स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो, दृश्यमानस्य लोकवत् ॥ 32॥
पर के तू उपकार को त्याग, निज उपकार करन में लाग ।
पर उपकार करे दिन रात, अज्ञ जीव की है ये बात॥

अन्वयार्थ - (**परोपकृतिं**) पर [शरीर आदि] के उपकार को (**उत्सृज्य**) त्याग करके (**स्वोपकार**) अपने [आत्मा के] उपकार करने में (**परःभव**) तत्पर हो जा (**दृश्यमानस्य**) दिखाई देने वाले (**लोकवत्**) इस जगत् की तरह (**अज्ञः**) अज्ञानी जीव (**परस्य**) पर का (**उपकुर्वन्**) उपकार करता हुआ पाया [देखा] जाता है।

अर्थ- पर के उपकार करने का त्याग करके अपने उपकार में लीन (तत्पर) हो, क्योंकि दिखाई देने वाले संसार के समान अज्ञानी प्राणी दूसरे का उपकार करता हुआ पाया जाता है।

भेद-विज्ञान का उपाय और फल

गुरुपदेशादभ्यासात्-संवित्तेः स्वपरान्तरम् ।
जानाति यः स जानाति, मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥33॥
गुरु उपदेश और अभ्यास, आत्मानुभव करता जो खास।
करता स्वपर भेद पहिचान, मोक्ष सुखों का पाये ज्ञान॥

अन्वयार्थ - (**यः**) जो मनुष्य (**गुरुपदेशात्**) गुरू के उपदेश से (**अभ्यासात्**) अभ्यास से तथा (**संवित्तेः**) आत्म-ज्ञान से (**स्वपरान्तरम्**) स्व व पर पदार्थों के अन्तर को (**जानाति**) जानता है अर्थात् अनुभव करता है (**स निरन्तरम्**) वह सदा (**मोक्ष-सौख्यं**) मोक्ष के सुख को (**जानाति**) जानता है अर्थात् अनुभव करता है ।

अर्थ- जो (जीव) गुरु के उपदेश से, अभ्यास से, आत्मज्ञान से अपने और पर पदार्थों के अन्तर को जानता है, वह हमेशा मोक्ष के सुख को जानता है।

निजात्मा ही गुरु है

स्वस्मिन् सदभिलाषित्वा-दभीष्टज्ञापकत्वतः ।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वा-दात्मैव गुरुरात्मनः ॥34॥
आत्म रमण का इच्छुक जीव, करता सर्व उपाय अतीव।
स्वयं सुहित में होय प्रवृत्त, निज का गुरु है अतः हे मित्र!॥

अन्वयार्थ - (**स्वस्मिन्**) अपने आत्म स्वरूप में ही (**सत्**) प्रशस्त [मोक्ष सुख की] (**अभिलाषित्वात्**) अभिलाषा करने से (**अभीष्ट**) अपने प्रिय पदार्थ का (**ज्ञापकत्वतः**) जानने वाला होने से तथा (**स्वयं हित**) अपने

आप अपने हित में **(प्रयोक्तृत्वात्)** प्रवृत्ति करने वाला होने से **(आत्मा एव)** आत्मा ही **(आत्मनः गुरुः)** अपना गुरु है।

अर्थ- अपनी आत्मा की श्रेष्ठ (कल्याण की) अभिलाषा होने से अपने प्रिय पदार्थ आत्मा को जानने वाला होने से, अपने आप अपने हित का प्रयोग करने वाला होने से आत्मा ही आत्मा का गुरु है।

निमित्त सहायक मात्र है

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति ।
निमित्त-मात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ 35॥
कभी विज्ञ मूरख नहिं होय, मूरख विज्ञ न होता सोय।
धर्म द्रव्य ज्यों हो गतिमान, निमित्त मात्र द्रव्य पहिचान॥

अन्वयार्थ - **(अज्ञः)** अज्ञानी **(विज्ञत्वं)** ज्ञान दशा को **(न आयाति)** प्राप्त नहीं होता है और **(विज्ञः)** ज्ञानी **(अज्ञत्वं)** अज्ञानता को **(न ऋच्छति)** प्राप्त नहीं होता है **(अन्यः)** अन्य अध्यापक, गुरु आदि **(तु)** तो [ज्ञान आदि प्राप्ति में] **(गतेः)** चलने में **(धर्मास्तिकायवत्)** धर्मास्तिकाय की तरह **(निमित्तमात्रम्)** केवल सहायक मात्र हैं। यहाँ उपादान की मुख्यता से कथन किया गया है।

अर्थ- अज्ञानी ज्ञानपने को प्राप्त नहीं होता और ज्ञानी अज्ञानपने को प्राप्त नहीं होता अन्य (गुरु आदि) तो चलने में धर्मास्तिकाय के समान निमित्त मात्र हैं।

निजात्मा चिंतन कौन कैसे करें

अभवच्चित्तविक्षेप, एकान्ते तत्त्वसंस्थितः ।
अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥ 36॥
बिना क्षोभ हो चित्त सुजान, तत्त्व बुद्धि स्थिर हो ध्यान।
योगी करे आत्म अभ्यास, हो सतर्क एकान्तक वास॥

अन्वयार्थ - **(चित्त विक्षेपः)** जिसके चित्त में क्षोभ अर्थात् राग-द्वेष आदि विकार **(अभवत्)** नहीं होता है **(तत्त्वसंस्थितः)** तत्त्व विचार में स्थित है बुद्धि जिसकी **(योगी)** ऐसा योगी [मुनि] **(एकान्ते)** निर्जन स्थान में **(अभियोगेन)** आलस्य त्यागकर [सावधानी से] **(निजात्मनः)** अपनी आत्मा के **(तत्त्वं)** स्वरूप चिन्तन का **(अभ्यस्येत्)** अभ्यास करे।

अर्थ- चित्त (मन) में क्षोभ न होने पर तत्त्व विचार में जिसकी बुद्धि अच्छी तरह स्थिर है ऐसा योगी एकान्त में आलस्य त्याग कर अपने आत्म तत्त्व के चिंतवन का अभ्यास करें।

आत्म संवित्ति की पहिचान

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ॥ 37॥
जैसे-जैसे आता जाय, ज्ञान में उत्तम तत्त्व समाय।
वैसे-वैसे रुचे न सोय, सुलभ विषय कोई भी होय॥

अन्वयार्थ - **(यथा-यथा)** ज्यों-ज्यों **(संवित्तौ)** अनुभूति में **(उत्तमं तत्वं)** उत्तम तत्त्व [शुद्धात्म स्वरूप] **(समायाति)** समाविष्ट होता है **(तथा-तथा)** त्यों-त्यों **(सुलभा-अपि)** सुलभता से प्राप्त हुए भी **(विषयाः)** विषय भोग **(न रोचते)** रुचते नहीं हैं।

अर्थ- जैसे-जैसे आत्मज्ञान में उत्तम तत्त्व समाविष्ट होता है, वैसे-वैसे सुलभता से प्राप्त होते हुए भी विषय भोग रुचते नहीं हैं।

आत्म संवित्ति की पहिचान

यथा-यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ।
तथा तथा समायति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ 38॥
जैसे रुचे न सोय, सुलभ विषय कोई भी होय।
वैसे-वैसे आये जाय, ज्ञान में उत्तम तत्त्व समाय॥

अन्वयार्थ - **(यथा यथा)** ज्यों-ज्यों **(सुलभा)** सुलभ **(विषयाः अपि)** विषय भी **(न रोचन्ते)** जिसको रुचते नहीं है **(तथा तथा)** त्यों-त्यों **(संवित्तौ)** अनुभूति में **(उत्तमं तत्त्वं)** उत्तम तत्त्व [शुद्धात्म स्वरूप का] **(समायाति)** उसको अनुभव होने लगता है।

अर्थ- जैसे - जैसे सुलभ विषय भोग भी नहीं रुचते वैसे वैसे आत्मज्ञान में श्रेष्ठ आत्मा का स्वरूप समाविष्ट होता है।

अनुभूति बढ़ने पर विचार परिणति

निशामयति निश्शेष-मिन्द्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥ 39॥

इन्द्रजाल सम है निःसार, दिखता है सारा संसार।
निज स्वरूप की रुचि के हेतु, योगी बाहर माने खेद॥

अन्वयार्थ - (**निश्शेषं**) जब समस्त (**जगत्**) संसार (**इन्द्रजालोपमं**) इन्द्रजाल की तरह काल्पनिक (**निशामयति**) दिखाई देने लगता है, तब (**आत्मलाभाय**) आत्म-स्वरूप पाने के लिए (**स्पृहयति**) तीव्र अभिलाषा होती है, उस समय यदि (**अन्यत्र**) मन अन्यत्र (**गत्वा**) जाता है तो (**अनुतप्तये**) सन्तप्त [पीड़ित] होता है।

अर्थ- जब सम्पूर्ण संसार इन्द्रजाल की तरह निःसार दिखाई देता है, तब आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए अभिलाषा होती है कदाचित् किसी विषय में (अन्यत्र) जाने पर मन संतप्त (व्याकुल) होता है।

योगी की निर्जन प्रियता

इच्छत्येकान्तसंवासं, निर्जनं जनितादरः ।
निजकार्यवशात्किञ्चि-दुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥ 40॥
योगी करे एकान्त की चाह, निर्जन क्षेत्र की भावना भाय।
कहता यदि कुछ कर्म वशात्, शीघ्र ही उसको भूलत जात॥

अन्वयार्थ - (**निर्जनं**) निर्जन स्थान (**जनितादरः**) जिसे अच्छा प्रतीत होता है ऐसा अनुभवी पुरुष (**एकान्त**) एकान्त में (**संवासं इच्छति**) रहना चाहता है (**निजकार्यवशात्**) अपने किसी कार्यवश उसे यदि (**किञ्चित् उक्त्वा**) कुछ कहना भी हो तो वह कह करके (**द्रुतम्**) शीघ्र ही उसे (**विस्मरति**) भूल जाता है।

अर्थ- निर्जन वन को पाकर जिनका मन खुश है और जो एकांत में रहने की इच्छा करते हैं (ऐसे महान पुरुष) अपने कार्य के वश थोड़ा कुछ कहकर शीघ्र ही भूल जाते हैं।

स्वरूप-निष्ठ योगी की विशेषता

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते, गच्छन्नपि न गच्छति ।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति ॥ 41॥
आत्मतत्त्व में स्थिर होय, बोलत भी ना बोले सोय।
चलते हुए ना चले विशेष, देखत देखे नहीं अशेष॥

अन्वयार्थ - (**स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु**) आत्म तत्त्व में स्थिर रहने वाला तो (**ब्रुवन् अपि**) बोलता हुआ भी (**न ब्रूते**) नहीं बोलता है (**गच्छन् अपि**) चलता हुआ भी (**न गच्छति**) नहीं चलता है और (**पश्यन् अपि**) देखता हुआ भी (**न पश्यति**) नहीं देखता है।

अर्थ- निश्चय से आत्म तत्त्व में स्थिर रहने वाला तो बोलता हुआ भी नहीं बोलता, चलता हुआ भी नहीं चलता, देखता हुआ भी नहीं देखता है।

योगी की निर्विकल्प दशा

किमिदं कीदृशं कस्य, कस्मात्क्वेत्-यविशेषयन् ।
स्वदेहमपि नावैति, योगी योगपरायणः ॥ 42॥
क्या कैसा किसका क्यों जान, कहाँ विचार तजे विद्वान।
रखे ना निज तन का भी ध्यान, आत्म ध्यान रत योगी मान॥

अन्वयार्थ - (**योग परायणः**) आत्म ध्यान में लगा हुआ (**योगी**) योगी साधक (**इदम्**) यह क्या है? (**कीदृशं**) कैसा है? (**कस्य**) किसका है? (**कस्मात्**) किस कारण से है? (**चैव**) और (**क्व**) कहाँ है? (**इति**) इस तरह (**अविशेषयन्**) विशेष विचार न करता हुआ (**स्वदेहं अपि**) अपने शरीर को भी (**न अवैति**) नहीं जानता है।

अर्थ- आत्म ध्यान (योग) में लीन साधु यह क्या है? कैसा है? किसका है? किस कारण से है ? कहाँ है? इस तरह विचार न करता हुआ अपने शरीर को भी नहीं जानता है।

जो जहाँ रहे वहाँ रम जाता

यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रतिम् ।
यो यत्र रमते तस्मा-दन्यत्र स न गच्छति ॥ 43॥
जो कोई करता जहाँ निवास, उसमें ही रति पावे खास।
जिस स्थान में जो रम जाय, तजकर वह फिर कहीं न जाय॥

अन्वयार्थ - (**यः**) जो जीव (**यत्र**) जहाँ पर (**निवसन् आस्ते**) रहता है (**स तत्र**) वह वहाँ [उस स्थान पर] (**रतिम् कुरुते**) प्रीति करता है और (**यः यत्र**) जो जीव जहाँ (**रमते**) रम जाता है (**स**) वह (**तस्मात्**) उस स्थान से (**अन्यत्र**) अन्यत्र कहीं (**न गच्छति**) नहीं जाता। अतः आत्म

स्वरूप में रमने वाले अन्यत्र उपयोग को नहीं लगाते।

अर्थ- जो जीव जहाँ पर निवास करता है, वह उस स्थान पर प्रीति करता है और जो जहाँ रम जाता है इसलिए वह उस स्थान से अन्यत्र नहीं जाता है।

साम्य भावी योगी छूटता है

अगच्छंस्तद्विशेषाणा-मनभिज्ञश्च जायते ।
अज्ञाततद्विशेषस्तु, बध्यते न विमुच्यते ॥ 44॥
वस्तु विशेषों को न जान, जिन आतम की हो पहिचान।
कर्म मुक्त होता वह संत, नव कर्मों का नहिं हो बंध॥

अन्वयार्थ - (**तद्विशेषाणाम्**) उन [शरीर आदि पर पदार्थों के] विशेषणों [विशेषताओं] को (**अगच्छन्**) नहीं जानता हुआ (**अनभिज्ञः**) अजान (**जायते**) बन जाता है (**च**) और (**तद्विशेषः**) उन विशेषताओं पर (**अज्ञात**) ध्यान न देने वाला (**तु**) तो (**बध्यते न**) कर्म से नहीं बँधता (**विमुच्यते**) परन्तु विशेष रूप से छूट जाता है।

अर्थ- योगी उन पदार्थों के विशेषणों को न जानता हुआ अजानकार (अनभिज्ञ) हो जाता है और उन विशेषताओं को न समझने वाला तो (कर्मों से) बंधता नहीं है, बल्कि छूट जाता है।

सुख दुःख के आधार

परः परस्ततो दुःख - मात्मैवात्मा ततः सुखम् ।
अतएव महात्मानस्-तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥ 45॥
पर-पर होता दुख की खान, निज-निज को दे सौख्य महान।
समिति गुप्ति व्रत रूप सुजान, जिन व्यवहार चारित्र बखान॥

अन्वयार्थ - (**परः**) अन्य पदार्थ [आत्मा से] (**परः**) अन्य हैं, अतः (**ततः**) उस अन्य पदार्थ से (**दुःखम्**) दुःख होता है, और (**आत्मा**) आत्मा अपना (**आत्मा एव**) आत्मा ही है, अतः (**ततः**) उस [आत्मा] से (**सुखम्**) सुख होता है (**अतएव**) इसी कारण (**महात्मनः**) महान् पुरुषों ने (**तन्निमित्तं**) उसकी प्राप्ति के निमित्त (**कृत उद्यमाः**) उद्यम किया था।

अर्थ- पर पदार्थ आत्मा से अन्य है इसलिए उनसे दुःख होता है और आत्मा ही अपनी है इसलिए उससे सुख होता है, इस कारण से महान पुरुषों ने उस

आत्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया था।

पर से अनुराग का फल

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं, योऽभिनन्दति तस्य तत् ।
न जातु जन्तोः सामीप्यं, चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥ 46॥
पुद्गल में निज आत्म समान, मूरख करते हैं श्रद्धान।
पुद्गल से ना छूटे साथ, चतुर्गति में भ्रमें अनाथ॥

अन्वयार्थ - (**यः**) जो (**अविद्वान्**) मूर्ख बहिरात्मा (**पुद्गल द्रव्यम्**) पुद्गल द्रव्य का (**अभिनन्दति**) आदर करता है (**तस्य जन्तोः**) उस [बहिरात्मा] प्राणी का (**तत्**) वह [शरीर आदि पुद्गल द्रव्य] (**जातु**) कभी भी (**चतुःगतिषु**) चारों गतियों में (**सामीप्यं न मुञ्चति**) साथ नहीं छोड़ता।

अर्थ- जो मूर्ख (बहिरात्मा) पुद्गल द्रव्य का अभिनंदन (श्रद्धान) करता है उस प्राणी का वह (शरीर आदि) पुद्गल द्रव्य कभी चारों गतियों में साथ नहीं छोड़ता है।

आत्म निष्ठता का फल

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिः स्थितेः ।
जायते परमानन्दः, कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ 47॥
हो व्यवहार चरण से हीन, आत्म ध्यान में जो लवलीन।
आत्म ध्यान से योगी इष्ट, पावे परमानन्द विशिष्ट॥

अन्वयार्थ - (**व्यवहार**) प्रवृत्ति, निवृत्ति लक्षण वाले व्यवहार से (**बहिःस्थितेः**) बाहर ठहरे हुए (**आत्मानुष्ठान**) आत्म-ध्यान में (**निष्ठस्य**) लवलीन (**योगिनः**) मुनि के (**योगेन**) आत्मध्यान के द्वारा (**कश्चित्**) कोई (**परमानन्दः**) अपूर्व परम आनन्द (**जायते**) उत्पन्न होता है।

अर्थ- व्यवहार चारित्र से बाहर ठहरे हुए और आत्म ध्यान में लवलीन मुनि के योग (आत्मध्यान) के द्वारा कोई अपूर्व आनंद उत्पन्न होता है।

उस आनंद का कार्य

आनन्दो निर्दहत्युद्धं, कर्मेन्धनमनारतम् ।
न चासौ खिद्यते योगी, बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥ 48॥

आत्मानंद निरंतर पाय, कर्मेंधन को रहा जलाय।
बाह्य दुःख नहिं जाने सोय, योगी खेद खिन्न नहिं होय॥

अन्वयार्थ - (**आनन्दः**) आत्मध्यान का आनंद (**अनारतम्**) निरन्तर (**उद्धं**) बहुत से (**कर्मेन्धनम्**) कर्म रूपी ईधन को (**निर्दहति**) जलाता है (**च**) तथा (**बहिः दुःखेषु अचेतनः**) बाहरी [परीषह, उपसर्गादिक] दुःखों से अनभिज्ञ (**असौ योगी**) वह आत्मध्यानी योगी (**खिद्यते न**) खेद खिन्न [दुःखी] नहीं होता है।

अर्थ- आत्म ध्यान का आनंद निरंतर बहुत से कर्म रूपी ईंधन को जलाता है तथा बाहरी (परीषह) आदि दुःखों से अनभिज्ञ वह (आत्म ध्यानी) साधु खेद भिन्न नहीं होता।

मुमुक्षु क्या करें?

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत् ।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं, तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥ 49॥

महत् ज्योतिमय आत्मज्ञान, नाश करे सारा अज्ञान।
होती जिसे मोक्ष की चाह, पूँछे चले उसी वह राह॥

अन्वयार्थ - (**अविद्याभिदुरं**) अज्ञान-अन्धकार को नष्ट करने वाली (**परं ज्योतिः**) आत्मा की उत्कृष्ट ज्योति (**महत् ज्ञानमयं**) महान् ज्ञान रूप है (**मुमुक्षुभिः**) मोक्ष अभिलाषी पुरुषों को (**तत् प्रष्टव्यं**) उसी के विषय में ज्ञानियों से पूछना चाहिए (**तत् इष्टव्यं**) उसी की वांछा करनी चाहिए (**तत् द्रव्टव्यं**) उसी का दर्शन अनुभव करना चाहिए।

अर्थ- अज्ञान रूप अंधकार को नष्ट करने वाली आत्मा की उत्कृष्ट ज्योति महान ज्ञान रूप है। मोक्षाभिलाषी पुरुषों के लिए वही (उसी के विषय में) पूछना चाहिए, उसी को पाने का प्रयत्न करना चाहिए उसी का दर्शन करना चाहिए।

तत्त्व का सार

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः ।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥ 50॥

जीव अन्य पुद्गल भी जान, तत्त्व सार यह ही पहिचान।
अन्य कथन जो कुछ भी होय, सब विस्तार इसी का सोय॥

अन्वयार्थ - (**जीवः अन्यः**) जीव शरीर आदि से भिन्न है (**च**) और (**पुद्गलः अन्यः**) पुद्गल जीव से भिन्न है (**इति**) इस प्रकार (**असौ**) यह (**तत्त्वसंग्रहः**) तत्त्व का सार है, (**यतः**) इसके अलावा जो (**अन्यत् किञ्चित्**) कुछ अन्य बातें इस विषय में (**उच्यते**) आचार्यों द्वारा कही जाती हैं (**सः**) वह (**तस्य एव विस्तरः**) उसका ही विस्तार (**अस्तु**) है।

अर्थ- जीव अन्य है और पुद्गल अन्य है इस प्रकार यह तत्त्व का सार (संग्रह) है इसके अलावा जो कुछ भी अन्य कहा जाता है वह सब उसका ही विस्तार है।

तत्त्व का सार

इष्टोपदेशमिति सम्य-गधीत्य धीमान्
मानापमान - समतां स्वमताद्वितन्य।
मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा,
मुक्तिश्रियं निरुपमा-मुपयाति भव्यः॥ 51॥

मानापमान में समतावान, का विस्तार करे विद्वान।
पूज्यपाद गुरु का उपदेश, विशद हृदय में धरें विशेष॥

अन्वयार्थ - (**इति**) इस प्रकार (**धीमान् भव्यः**) बुद्धिमान भव्य पुरुष (**इष्टोपदेशं**) इष्टोपदेश ग्रन्थ को (**सम्यक् अधीत्य**) अच्छी तरह अध्ययन करके (**स्वमतात्**) अपने आत्मज्ञान से (**मानापमान**) सम्मान और अपमान में (**समतां**) समता भाव के (**वितन्य**) विस्तार को धारण करके (**मुक्त आग्रहः**) आग्रह को त्यागता हुआ (**सजने**) गाँव आदि में (**वा**) अथवा (**वने**) निर्जन वन में (**विनिवसन्**) निवास करता हुआ (**निरुपमां**) अनुपम (**मुक्तिश्रियम्**) मुक्ति रूपी लक्ष्मी को (**उपयाति**) प्राप्त करता है।

अर्थ - बुद्धिमान भव्य पुरुष इस प्रकार इष्टोपदेश ग्रंथ को अच्छी तरह से पढ़कर के अपने आत्मज्ञान से मान अपमान के समता भाव को फैलाकर आग्रह को त्यागता हुआ गाँव आदि में अथवा वन में निवास करता हुआ उपमा रहित (अनुपम) ''विशद'' मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

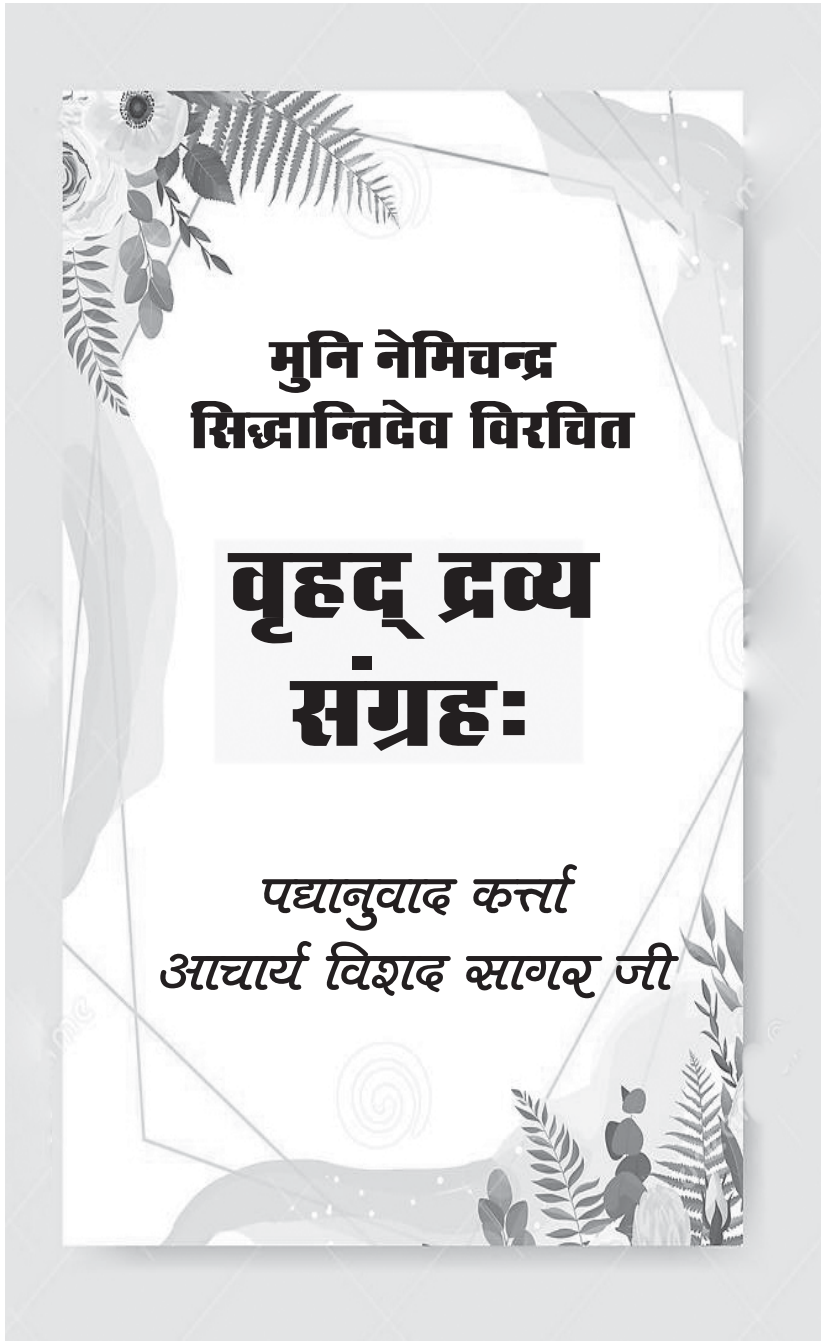

मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव - एक परिचय

दोहा : द्रव्य संग्रह शुभ ग्रन्थ में, द्रव्यों का व्याख्यान।
नेमिचन्द्र मुनिवर किए, जिन पद विशद प्रणाम्॥

जैन साहित्य के इतिहास में नेमिचन्द्र नाम के अनेक लेखकों का उल्लेख मिलता है। गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि शौरसेनी प्राकृत ग्रन्थों के सुप्रसिद्ध रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (दसवीं शती ई.) को ही अधिकांश लोग द्रव्यसंग्रह का कर्ता मानते हैं, किन्तु कुछ विद्वानों के महत्वपूर्ण अनुसंधान ने लेखकों की भिन्नताएँ स्पष्ट कर दीं हैं। उनके अनुसार द्रव्यसंग्रह के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती नहीं, अपितु मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव (ईसा की 11वीं शती का अन्तिमपाद और विक्रम की 12वीं शती का पूर्वार्द्ध) हैं। यह द्रव्य संग्रह की अन्तिम गाथा और इसके संस्कृत वृत्तिकार ब्रह्मदेव (विक्रम सं. 1175) के प्रारम्भिक कथन से भी स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार के विषय में अन्य जानकारी उपलब्ध नहीं होती ।

ब्रह्मदेव के अनुसार धारा नरेश भोजदेव के राज्यान्तर्गत वर्तमान (कोटा राजस्थान) के समीप केशवरायपाटन जिसे प्राचीन काल में आश्रम कहते थे, में द्रव्यसंग्रह की रचना मुनिसुव्रत के मन्दिर में बैठकर नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने की। उस समय यहाँ का शासक श्रीपाल मण्डलेश्वर था। राणा हम्मीर के समय केशवरायपाटन का नाम 'आश्रम पत्तन' था ।

ब्रह्मदेव ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भिक वक्तव्य में यह भी स्पष्ट किया है कि श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने प्रारम्भ में मात्र 26 गाथाओं में इसकी रचना 'लघु-द्रव्यसंग्रह' नाम से की थी, बाद में विशेष तत्त्वज्ञान के लिए उन्होंने इस (58 गाथाओं से युक्त) 'वृहद् द्रव्यसंग्रह' की रचना की। इन दोनों रूपों में वर्तमान में यह अन्य उपलब्ध भी होता है।

द्रव्यसंग्रह अथवा वृहद् द्रव्यसंग्रह को ब्रह्मदेव ने इसे शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपों का निश्चय और व्यवहार नयों से कथन करने वाला अध्यात्म- शास्त्र कहा है । शौरसेनी प्राकृत को 58 गाथाओं वाले प्रस्तुत अनुपम लघु ग्रन्थ में छह

द्रव्य, सात तत्त्व, पाँच अस्तिकाय, नौ पदार्थ तथा निश्चय एवं व्यवहार मोक्षमार्ग का अत्यन्त सरल एवं सुबोध भाषा एवं शैली में वर्णन करके ग्रन्थकार ने 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ किया है। इसमें विषय का विवेचन लाक्षणिक शैली में किया गया है। इसका यह वैशिष्टय है कि प्रत्येक लक्षण द्रव्य और भाव (व्यवहार और निश्चय) दोनों दृष्टियों से प्रस्तुत किया गया है। इसी कारण लाक्षणिक ग्रन्थ होकर भी 'अध्यात्मशास्त्र' के रूप में ही इसकी महत्ता सामने आती है। इस ग्रन्थ में उपयुक्त विषयों के साथ ही पंच- परमेष्ठी तथा ध्यान का भी संक्षेप में विवेचन है किन्तु प्रारम्भ में द्रव्यों का विशेष कथन होने से इसका नाम 'द्रव्यसंग्रह' रखा गया। लघु होते हुए भी इस ग्रन्थ में जैनवर्स सम्मत प्रायः सभी प्रमुख तत्त्वों का जितना व्यवस्थित, सहज और संक्षेप रूप में स्पष्ट विवेचन किया गया है वैसा सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में दुर्लभ है ।

मूल ग्रन्थ में विषयानुसार अधिकारों का विभाजन न होते हुए भी वृत्तिकार ब्रह्मदेव ने इसे मुख्यतया तीन अधिकारों में विभक्त किया है। षट्द्रव्य-पञ्चास्तिकाय-प्रतिपादक प्रथम अधिकार आरम्भिक 27 गाथाओं से युक्त है। गाथा सं. 28 से गाथा सं. 38 तक कुल 11 गाथाओं वाला दूसरा अधिकार 'सप्ततत्त्व-नवपदार्थ' प्रतिपादक है। 'मोक्षमार्ग-प्रतिपादक' नामक तृतीय अधिकार में 39वीं गाथा में 46वीं गाथा तक की इन आठ गाथायों में व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का सुन्दर विवेचन किया गया है। बाद की दो गाथाओं में मोक्षमार्ग प्राप्ति का साधन ध्यान तथा ध्यान के आलम्बन (ध्येय) पंचपरमेष्ठी का सारभूत विवेचन करके अन्तिम (58वीं) स्वागताछन्द को इस गाथा में ग्रन्थकार ने अपने नाम निर्देश के साथ अपनी लघुता प्रकट की है।

प्रस्तुत संस्करण में मूलग्रन्थ की गाथाओं में प्रतिपाद विषयों के साथ ही अनेक सम्बद्ध विषयों का विस्तृत एवं तुलनात्मक विवेचन होने से यह सर्वत्र समादृत भी हुआ है। इस लोकप्रिय ग्रन्थ के सम्पादक, अनुवादक, प्रेरक और प्रकाशक सभी के प्रति हम अपना आदर सहित अभार व्यक्त करते हैं।

(श्रीमन्नेमिचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्ती - विरचित)

बृहद् द्रव्य संग्रहः (मंगलाचरण)

जीवमजीवं दव्वं, जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं ।
देविंदविंदवंदं, वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥1॥

जीव अजीव द्रव्य पहिचान, वृषभ देव बतलाये मान।
जग में शत् इन्द्रों के ईश, सदा झुकाते पद में शीश ॥1॥

अन्वयार्थ - (**जेण**) जिन (**जिणवरवसहेण**) तीर्थंकर देव ने या चौबीसों तीर्थंकरों ने (**जीव-मजीवं दव्वं**) जीव और अजीव द्रव्यें (**णिद्दिट्ठं**) कही हैं। (**देविंद-विंद-वंदं**) इन्द्रों के समूह से नमस्कार करने योग्य (**तं**) उन तीर्थंकर भगवान् को (**सिरसा**) सिर नवाकर (**सव्वदा**) हमेशा (**वंदे**) नमस्कार करता हूँ।

अर्थ - मैं उन तीर्थंकर भगवान को अथवा चौबीसों तीर्थंकरों को सिर नवाकर सदा नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने जीव और अजीव द्रव्यों का विशद वर्णन किया है और जो सौ इंद्रों से वंदनीय हैं।

सौ इन्द्रों का विवरण

भवणा-लय-चालीसा, विंतर-देवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामर-चउवीसा, चंदो सूरो णरो तिरियो॥

अन्वयार्थ - (**भवणा-लय**) भवनवासियों के (**चालीसा**) चालीस (**विंतरदेवाण**) व्यन्तर देवों के (**बत्तीसा**) बत्तीस (**कप्पामर**) कल्पवासियों के (**चउवीसा**) चौबीस (**चंदो**) चन्द्र (**सूरो**) सूर्य (**णरो**) चक्रवर्ती, (**तिरियो**) सिंह [**इदि**=इस प्रकार, **सदिंदा**-सौ इन्द्र] (**होंति**) होते हैं।

अर्थ - भवन वासियों के चालीस व्यंतर देवों के बत्तीस, कल्पवासियों के चौबीस, चन्द्र, सूर्य, चक्रवर्ती, सिंह, ये सौ इन्द्र होते हैं।

जीवद्रव्य के अधिकार

जीवो उवओगमओ, अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥2॥

कर्त्ता भोक्ता स्वतन प्रमाण, अमूर्त सिद्ध संसारी जान।
जीव उपयोग मयी पहिचान, उर्ध्वगमन स्वभावी मान ॥2॥

अन्वयार्थ - (**सो जीवो**) वह जीव जीने वाला (**उवओगमओ**) उपयोगमय (**अमुत्ति**) अमूर्तिक, (**कत्ता**) कर्मों का कर्ता (**सदेह-परिमाणो**) छोटे-बड़े निज शरीर के बराबर रहने वाला, (**भोत्ता**) कर्मों के फल को भोगने वाला, (**संसारत्थो**) संसारी, (**सिद्धो**) सिद्ध और (**विस्स-सोड्ढगई**) स्वभाव से ऊपर को गमन करने वाला है।

अर्थ - प्रत्येक जीव जीने वाला, उपयोगमय, अमूर्तिक, कर्मों का कर्त्ता, नामकर्म के उदय से प्राप्त अपने छोटे बड़े शरीर के बराबर रहने वाला, शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगने वाला, संसारी, सिद्ध और स्वभाव से ऊपर गमन करने वाला है।

'जीवत्व अधिकार'

तिक्काले चदुपाणा, इंदिय बल माउ आणपाणो य ।
ववहारा सो जीवो, णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥3॥
चार प्राण त्रैकालिक जान, इन्द्रिय बल आयु पहिचान।
श्वासोच्छवास व्यवहारी होय, चेतन वश निश्चय से सोय ॥3॥

अन्वयार्थ - (**जस्स**) जिसके (**ववहारा**) व्यवहार नय से (**तिक्काले**) तीनों कालों में (**इंदिय**) इंद्रिय (**बलं**) बल (**आउ**) आयु (**य**) और (**आणपाणो**) श्वासोच्छवास ये (**चदुपाणा**) चार प्राण होते हैं (**दु**) और (**णिच्छयणयदो**) निश्चयनय से (**जस्स**) जिसके (**चेदणा**) चेतना (**होदि**) होती है सो वह (**जीवो**) जीव है।

अर्थ - जिसके व्यवहार नय से तीनों कालों में इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं और निश्चय नय से जिसके चेतना होती है, वह जीव है।

'उपयोगाधिकार का वर्णन'

उवओगो दुवियप्पो, दंसणणाणं च दंसणं चदुधा ।
चक्खु अचक्खु ओही, दंसणमध केवलं णेयं ॥4॥

दो उपयोग दर्श औ ज्ञान, चार भेद दर्शन के मान।
चक्षु अचक्षु अवधि शुभकार, केवल दर्श भेद ये चार ॥4॥

अन्वयार्थ - (**उवओगो**) उपयोग (**दुवियप्पो**) दो का प्रकार है (**दंसण**) दर्शनोपयोग (**च**) और (**णाणं**) ज्ञानोपयोग (**चक्खु**) चक्षुदर्शन, (**अचक्खु**) अचक्षुदर्शन (**ओही**) अवधिदर्शन (**अह**) और (**केवलं**) केवलदर्शन [इस प्रकार] (**दंसणं**) दर्शनोपयोग (**चदुधा**) चार प्रकार (**णेयं**) जानना चाहिये।

अर्थ - उपयोग दो का प्रकार है दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल दर्शन इस प्रकार दर्शनोपयोग चार प्रकार का जानना चाहिये।

'ज्ञानोपयोग के भेद'

णाणं अट्ठवियप्पं, मदिसुदओही अणाणणाणाणि ।
मणपज्जय केवलमवि, पच्चक्ख परोक्खभेयं च ॥5॥
ज्ञानोपयोग अष्टविधि होय, प्रत्यक्ष परोक्ष भेद हैं सोय।
मति श्रुतअवधि इतर भी जान, मन पर्यय केवल पहिचान ॥5॥

अन्वयार्थ - (**अणाणणाणाणि**) अज्ञान और ज्ञान रूप (**मदिसुदओही**) मति, श्रुत, अवधि (**मणपज्जय**) मनःपर्यय (**अवि**) और (**केवलं**) केवलज्ञान [इस प्रकार] (**णाणं**) ज्ञानोपयोग (**अट्ठवियप्पं**) आठ प्रकार का होता है (**च**) और वह ज्ञानोपयोग (**पच्चक्ख-परोक्ख भेयं**) प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद रूप है।

अर्थ - मति, श्रुत, अवधि ये अज्ञान और ज्ञान रूप तथा मनः पर्यय और केवलज्ञान की अपेक्षा ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का होता है और वह ज्ञानोपयोग प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद रूप है।

'जीव का लक्षण'

अट्ठ चदु णाणदंसण, सामण्णं जीवलक्खणं भणियं ।
ववहारा सुद्धणया, सुद्धं पुण दंसणं णाणं ॥6॥
आठ ज्ञान दर्शन हैं चार, जीव का लक्षण है व्यवहार।
दर्शन शुद्ध ज्ञानमय जान, निश्चय नय से जीव ये मान ॥6॥

अन्वयार्थ - (**ववहारा**) व्यवहार नय से (**अट्ठ चदुणाणदंसण**) आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन (**सामण्णं**) सामान्य से (**जीवलक्खणं**) जीव का लक्षण (**भणियं**) कहा गया है (**पुण**) और (**सुद्धणया**) शुद्ध निश्चयनय से (**सुद्धं**) शुद्ध (**दंसणं**) दर्शन और (**णाणं**) ज्ञान (**जीवलक्खणं**) जीव का लक्षण है।

अर्थ - व्यवहार नय से यथायोग्य आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन जीव का लक्षण है। किन्तु शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध दर्शन और शुद्धज्ञान ही जीव का लक्षण कहा गया है।

'अमूर्तित्वाधिकार का वर्णन'

वण्ण रस पंच गंधा दो, फासा अट्ठ णिच्छया जीवे ।
णो संति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधादो ॥ 7॥

वर्ण पंच रस गंध दो जान, वसु स्पर्श नहिं जीव के मान।
निश्चय से है अतः अमूर्त, बंध सहित व्यवहार से मूर्त ॥7॥

अन्वयार्थ - (**जीवे**) जीव में (**णिच्छया**) निश्चय नय से (**पंच**) पाँच (**वण्ण**) वर्ण (**रस**) रस (**दो**) दो (**गंधा**) गंध (**अट्ठ**) आठ (**फासा**) स्पर्श (**णो**) नहीं (**संति**) होते हैं (**तदो**) इस कारण से (**अमुत्ति**) अमूर्तिक है और (**ववहारा**) व्यवहार नय से (**बंधादो**) कर्मबंधसहित होने से (**मुत्ति**) मूर्तिक है।

अर्थ - जीव में निश्चय नय से पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श नहीं होते हैं, इस कारण से अमूर्तिक है। और व्यवहार नय से कर्मबंधन सहित होने से मूर्तिक है।

'कर्तृत्वाधिकार का वर्णन'

पुग्गल कम्मादीणं, कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।
चेदण कम्माणादा, सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥8॥

पुद्गल चेतन कर्म का होय, आतम शुद्ध भाव का सोय।
व्यवहार निश्चय शुद्ध विचार, क्रमशः कहा गया कर्त्तार ॥8॥

अन्वयार्थ - (**आदा**) आत्मा [जीव] (**ववहारा**) व्यवहार नय से (**पुग्गल-कम्मा-दीणं**) ज्ञानावरणादिक पुद्गलकर्म आदि का (**णिच्छयदो**) अशुद्ध निश्चयनय से (**चेदणकम्माण**) रागादिक भावकर्मों का (**दु**) और (**सुद्धणया**) शुद्ध निश्चय नय से (**सुद्धभावाणं**) शुद्धदर्शन और शुद्ध ज्ञान आदि चैतन्य भावों का (**कत्ता**) कर्ता है।

अर्थ - जीव व्यवहार नय से ज्ञानावरणादिक पुद्गल कर्मों का तथा अशुद्ध निश्चय नय से रागादिक भावकर्मों का और शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध दर्शन, शुद्ध ज्ञान आदि चैतन्य भावों का कर्ता है।

'भोक्तृत्वाधिकार का वर्णन'

ववहारा सुहदुक्खं, पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि ।
आदा णिच्छयणयदो, चेदणभावं खु आदस्स ॥9॥

सुख दुख पुद्गल कर्म का भोग, व्यवहार नय से है संयोग।
शुद्ध भाव निश्चय से पाय, निज भावों में आत्म रमाय ॥9॥

अन्वयार्थ - (**आदा**) जीव (**ववहारा**) व्यवहार नय से (**पुग्गल-कम्मफलं**) पुद्गल कर्मों के फल (**सुहदुक्खं**) सुख और दुःख का (**पभुंजेदि**) भोक्ता है। और (**णिच्छयणयदो**) निश्चय नय से (**आदस्स**) आत्मा के (**चेदणभावं**) शुद्धदर्शन और शुद्धज्ञान रूप भावों का (**खु**) ही (**पभुंजेदि**) भोक्ता है।

अर्थ - जीव व्यवहार नय से ज्ञानावरणादिक कर्मों के फलस्वरूप सुख और दुःख का भोक्ता है और निश्चय नय से आत्मा के शुद्धदर्शन तथा शुद्धज्ञान रूप भावों का ही भोक्ता है।

'स्वदेहपरिमाणत्व अधिकार का वर्णन'

अणुगुरुदेहपमाणो, उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा, णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥10॥

बिन समुद्घात व्यवहारी जीव, अणुगुरुदेह प्रमाण सजीव।
संकोच और करता विस्तार, निश्चय असंख्य प्रदेश उर धार ॥10॥

अन्वयार्थ - (**चेदा**) आत्मा (**ववहारा**) व्यवहार नय से (**उवसंहारप्पसप्पदो**) संकोच विस्तार गुण के कारण (**असमुहदो**) समुद्घात

अवस्था के अतिरिक्त शेष सब अवस्थाओं में (**अणुगुरुदेहपमाणो**) नामकर्म के द्वारा प्राप्त छोटे या बड़े निजशरीर के बराबर (**वा**) और (**णिच्छयणयसो**) निश्चयनय से (**असंखदेसो**) असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश के बराबर है।

अर्थ - आत्मा व्यवहार नय से समुद्घात अवस्था के अतिरिक्त शेष हालतों में शरीर नामकर्म के उदय से होने वाले संकोच विस्तार गुण के कारण घट आदि में स्थित दीपक की तरह अपने छोटे बड़े शरीर के बराबर है और निश्चय नय से असंख्यात् प्रदेश वाले लोकाकाश के बराबर है।

'समुद्घात का लक्षण'

मूल-शरीर-मछंडिय, उत्तर -देहस्स जीवपिंडस्स।
णिग्गमणं देहादो, हवदि समुग्घादयं णाम।। गो.जी.668।।

अन्वयार्थ - (**मूलशरीरं**) मूल शरीर को (**अछंडिय**) नहीं छोड़कर (**उत्तरदेहस्स जीव पिंडस्स**) आत्मा के प्रदेश रूप उत्तर देह का (**देहादो**) शरीर से (**णिग्गमणं**) बाहर निकलना (**समुग्घादयंणाम**) समुद्घात (**हवदि**) कहलाता है।

अर्थ - मूल शरीर को नहीं छोड़कर वेदना आदि सात कारणों से आत्मा के प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है।

'समुद्घात के सात भेद'

वेयण-कसाय-वेगुव्वियो, य मारणंतिओ समुग्घाओ।
तेजाहारो छट्ठो, सत्तमओ केवलीणं तु।। गो.जी. 667।।

अर्थ - वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवलि ये सात समुद्घात हैं।

'संसारित्व अधिकार का वर्णन'

पुढवि जल तेउ वाऊ, वणप्फदी विविह थावरेइंदी ।
विग-तिग चदुपंचक्खा, तसजीवा होंति संखादी ॥11॥
भूजलअग्नि वायु शुभकार, स्थावर तरु कई प्रकार ।
द्वय तिय, चतु पंचेन्द्रिय जीव, शंखादिक सब कहे सजीव ॥11॥

अन्वयार्थ - (**पुढवि**) पृथ्वीकायिक, (**जल**) जलकायिक, (**तेउ**) अग्निकायिक, (**वाऊ**) वायुकायिक और (**वणप्फदी**) वनस्पतिकायिक (**विविहथावरेदंदी**) अनेक प्रकार के एकेन्द्रिय स्थावर (**होंति**) हैं और (**संखादि**) शंखादिक (**विगतिगचदुपंचक्खा**) दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय (**त्रसजीवा**) त्रसजीव (**होंति**) हैं।

अर्थ - पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, और वनस्पति कायिक अनेक प्रकार के एकेन्द्रिय स्थावर हैं और शंखादिक दो इंद्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय त्रसजीव हैं।

'चौदह जीवसमास-जीवों के संक्षिप्त भेद'

समणा अमणा णेया, पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहमेइंदी, सव्वे पज्जत इदरा य ॥12॥
समन अमन पंचेन्द्रिय जीव, शंखादिक त्रस कहे सजीव।
सूक्ष्म स्थूल एकेन्द्रिय जान, सब पर्याप्त इतर भी मान ॥12॥

अन्वयार्थ - (**पंचिंदिय**) पंचेन्द्रिय जीव (**समणा**) संज्ञी (**अमणा**) असंज्ञी (**परे सव्वे**) दूसरे सब एकेन्द्रिय आदि चारों (**णिम्मणा**) असंज्ञी (**णेया**) जानना चाहिए (**एइंदिय**) एकेन्द्रिय जीव (**बादर-सुहुमा**) बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के हैं तथा (**सव्वे**) ये सब (**पज्जत्त**) पर्याप्तक (**य**) और (**इदरा**) अपर्याप्तक होते हैं। इस प्रकार चौदह जीव समास हुए।

अर्थ - पंचेन्द्रिय जीव संज्ञी असंज्ञी दो प्रकार के होते हैं। शेष चारों असंज्ञी ही होते हैं। एकेन्द्रिय के बादर और सूक्ष्म ये दो भेद हैं। इस प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये सभी पर्याप्तक और अपर्याप्तक होते हैं। इनको चौदह जीव समास कहते हैं।

'पर्याप्ति के भेद और उनके अधिकार'

आहार-सरीरिंदिय, पज्जत्ती आण-पाण-भास-मणो।
चत्तारि पंच छप्पिय, इगि-विगला-सण्णि-सण्णीणं ।। गो.जी.

अन्वयार्थ - (**आहारसरीरिंदिय**) आहार, शरीर, इन्द्रिय (**आणपाणभासमणो**) श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन (**पज्जत्ती**) पर्याप्तियाँ हैं, उनमें (**इगिविगलासण्णिसण्णीणं**) एकेन्द्रिय, विकलत्रय, असंज्ञी

पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय के क्रम से **(चत्तारि-पंचछप्पिय)** चार, पाँच और छः पर्याप्तियाँ होती हैं।

अर्थ - आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन पर्याप्तियाँ हैं, उनमें एकेन्द्रिय, विकलत्रय, असंज्ञी, पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय के क्रम से चार, पाँच और छः पर्याप्तियाँ होती हैं।

'मार्गणा और गुणस्थान के द्वारा संसारी जीव का वर्णन'

मग्गण गुण ठाणेहिं य, चउदसहि हवंति तह असुद्धणया ।
विण्णेया संसारी, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥13॥

ये चौदह मग्गण गुणथान, नय व्यवहार से इनको जान।
आगम नय से जान विशुद्ध, सभी जीव इस नय से शुद्ध ॥13॥

अन्वयार्थ - **(तह)** तथा **(संसारी)** संसारी जीव **(असुद्धणया)** व्यवहार नय से **(चउदसहि)** चौदह-चौदह **(मग्गण गुणठाणेहि)** मार्गणाओं और गुणस्थानों की अपेक्षा **(चउदस)** चौदह-चौदह प्रकार **(हवंति)** होते हैं **(य)** और **(सुद्धणया)** निश्चय नय से **(सव्वे)** सब जीव **(सुद्धा)** शुद्ध **(हु)** ही **(विण्णेया)** जानना चाहिए।

अर्थ - संसारी जीव व्यवहार नय से मार्गणाओं और गुणस्थानों की अपेक्षा से भी चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं। किन्तु निश्चय नय से सब जीव शुद्ध ही हैं, ऐसा जानना चाहिये।

'सिद्धत्व और ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार का वर्णन'

णिक्कम्मा अट्ठगुणा, किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा ।
लोयग्गठिदा णिच्चा, उप्पाद वएहिं संजुत्ता ॥14॥

वसु गुण युत निष्कर्म सुजान, अंतिम देह से कम कुछ मान।
लोक शिखर पर स्थित सिद्ध, हो ध्रुव व्यय उत्पाद प्रसिद्ध ॥14॥

अन्वयार्थ - जो **(णिक्कम्मा)** ज्ञानावरणादि आठ कर्म रहित **(अट्ठगुणा)** सम्यक्त्व आदि आठ गुण सहित **(चरमदेहदो)** अन्तिम शरीर से **(किंचूणा)** कुछ कम होते हैं वे **(सिद्धा)** सिद्ध हैं, और वे सिद्ध **(णिच्चा)** विनाश रहित और **(उप्पादवएहि)** उत्पाद, व्यय से **(संजुत्ता)** युक्त **(लोयग्गठिदा)**

लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं।

अर्थ- जो ज्ञानावरणादि आठ कर्म रहित, सम्यक्त्व आदि आठ गुण सहित, अंतिम शरीर से कुछ कम होते हैं।वे सिद्ध हैं, और वे सिद्ध विनाश रहित एवं उत्पाद, व्यय से युक्त लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं।

'अजीव द्रव्यें व उनके मूर्तिकामूर्तिकपना'

अज्जीवो पुण णेओ, पुग्गल धम्मो अधम्म आयासं ।
कालो पुग्गल मुत्तो, रूवादिगुणो अमुत्ति सेसा दु (हु) ॥15॥

पुद्गल धर्माधर्माकाश, काल अजीव द्रव्य हैं खास।
पुद्गल मूर्त रूप गुण जान, शेष अमूर्त रूप ना मान॥15॥

अन्वयार्थ - **(पुण)** और **(पुग्गल)** पुद्गल **(धम्मो)** धर्म **(अधम्म)** अधर्म **(आयासो)** आकाश **(दु)** और **(कालो)** काल **(अज्जीवो)** अजीवद्रव्य **(णेओ)** जानना चाहिए उनमें **(रूवादिगुणो)** रूप, रस, गंध और स्पर्श गुण वाला **(पुग्गल)** पुद्गलद्रव्य **(मुत्तो)** मूर्तिक है और **(सेसा)** शेष चार द्रव्यें **(अमुत्ति)** अमूर्तिक **(णेया)** जानना चाहिए।

अर्थ - अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है क्योंकि उसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श पाया जाता है। शेष धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्यें अमूर्तिक हैं, क्योंकि उनमें रूपादि गुण नहीं होते हैं।

'पुद्गल की विभाव व्यञ्जन पर्यायें'

सद्दो बंधो सुहुमो, थूलो संठाण भेद तम छाया ।
उज्जोदादव सहिया, पुग्गल दव्वस्स पज्जाया ॥16॥

शब्द बंध स्थूल सुजान, शब्द भेद छाया संठान।
तम आतप उद्योत मिलाय, होवें दश पुद्गल पर्याय॥16॥

अन्वयार्थ - **(सद्दो)** शब्द **(बंधो)** बन्ध **(सुहमो)** सूक्ष्मत्व **(थूलो)** स्थूलत्व, **(संठाणभेदतमछाया)** आकार, खण्ड, अन्धकार और छाया **(उज्जोदादवसहिया)** उद्योत और आतप सहित ये सब **(पुग्गलदव्वस्स)** पुद्गल द्रव्य की **(पज्जाया)** पर्यायें हैं।

अर्थ- शब्द, बंध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, आकार, खण्ड, अंधकार, छाया, उद्योत, आतप ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

'धर्मद्रव्य का लक्षण'

गइ परिणयाण धम्मो, पुग्गल जीवाण गमण सहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं, अच्छंता णेव सो णेई ॥17॥

चलते पुद्गल जीव को जान, धर्म द्रव्य सहकारी मान।
मीन चले ज्यों जल को पाय, शक्ती से वह नहीं चलाय ॥17॥

अन्वयार्थ - (**जह**) जैसे (**तोयं**) जल (**गईपरिणयाण**) गमन करती हुई (**मच्छाणं**) मछलियों को (**गमणसहयारी**) चलने में सहायक है (**तह**) उसी प्रकार जो (**गईपरिणयाण**) चलते हुए (**पुग्गलजीवाणं**) पुद्गल और जीवों को (**गमणसहयारी**) चलने में सहायक होता है, वह (**धम्मो**) धर्मद्रव्य [णेओ=जानना चाहिए] किन्तु (**सो**) वह धर्मद्रव्य (**अच्छंता**) ठहरे हुए जीवों और पुद्गलों को (**णेव**) नहीं (**णेई**) चलाता है।

अर्थ - जैसे जल चलती हुई मछली को चलने में सहायता करता है, उसी प्रकार जो द्रव्य चलते हुये जीव को और पुद्गल को चलने में सहायता करता है, वह धर्म द्रव्य कहलाता है। किन्तु जैसे पानी मछली को चलने के लिये प्रेरणा नहीं करता, उसी प्रकार यह धर्मद्रव्य भी ठहरे हुये जीव और पुद्गलों को जबरजस्ती नहीं चलाता।

'अधर्मद्रव्य का लक्षण'

ठाणजुदाण अधम्मो, पुग्गल जीवाण ठाण सहयारी ।
छाया जह पहियाणं, गच्छंता णेव सो धरई ॥18॥

पुद्गल जीव ठहरता जोय, अधर्म द्रव्य सहकारी होय।
पंथी ज्यों छाया को पाय, शक्ती से यह नहीं रुकाय॥18॥

अन्वयार्थ - (**जह**) जैसे (**छाया**) छाया (**ठाणजुदाण**) ठहरते हुए (**पहियाणं**) पथिक जनों को (**ठाणसहयारी**) ठहरने में सहायक [होदि=होती है, तह = उसी प्रकार, जो = जो] (**ठाणजुदाण**) ठहरते हुए (**पुग्गलजीवाण**) पुद्गल और जीवों को (**ठाण-सहयारी**) ठहरने में

सहायक [होदि = होती है, सो = वह] (**अधम्मो**) अधर्मद्रव्य [णेओ = जानना चाहिए] (**सो**) वह अधर्म द्रव्य (**गच्छंता**) गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को (**णेव**) नहीं (**धरई**) ठहराता है।

अर्थ - जैसे यदि मुसाफिर ठहरना चाहें तो वृक्ष की छाया उसके ठहरने में सहायता करती है, किन्तु वह मुसाफिर चलना चाहे तो उसे प्रेरणा करके नहीं ठहराती, उसी प्रकार जो जीव या पुद्गल ठहर रहे हैं, उन्हें ठहरने में जो सहायता करता है, वह अधर्मद्रव्य कहलाता है। परन्तु चलने वाले जीव और पुद्गल को जबरदस्ती नहीं ठहराता है।

'आकाश द्रव्य का लक्षण'

अवगास दाण जोग्गं, जीवादीणं वियाण आयासं ।
जेण्हं लोगागासं, अल्लोगागास मिदि दुविहं ॥19॥

द्रव्य जीवादिक को अवकाश, देने योग्य होय आकाश।
जिनवर कहे हैं लोकाकाश, दूजा भेद अलोकाकाश॥19॥

अन्वयार्थ - (**जीवादीणं**) जीवादिक छहों द्रव्यों के (**अवगास दाण जोग्गं**) अवकाश देने में समर्थ द्रव्य को (**जेण्हं**) भगवान् जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ (**आयासं**) आकाश द्रव्य (**वियाण**) जानना चाहिए [तं = वह आकाश] (**लोगागासं**) लोकाकाश और (**अल्लोगागासं**) अलोकाकाश (**इदि**) इस प्रकार (**दुविहं**) दो प्रकार का है।

अर्थ - जीवादिक छहों द्रव्यों के अवकाश देने में समर्थ द्रव्य को भगवान जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ आकाश द्रव्य जानना चाहिये, वह आकाश द्रव्य लोकाकाश और अलोकाकाश इस प्रकार दो प्रकार का है।

'लोकाकाश और अलोकाकाश का लक्षण'

धम्माऽधम्मा कालो, पुग्गलजीवा य संति जावदिये ।
आयासे सो लोगो, तत्तो परदो अलोगुत्तो ॥20॥

धर्म अधर्म काल औ जीव, पुद्गल द्रव्य हैं जहाँ अजीव।
कहलाता वह लोकाकाश, बाहर रहा अलोकाकाश ॥20॥

अन्वयार्थ - (**जावदिए**) जितने (**आयासे**) आकाश में (**धम्मा-धम्मा**)

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य **(कालो)** कालद्रव्य **(य)** और **(पुग्गलजीवा)** पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य **(सन्ति)** रहते हैं **(सो)** वह **(लोगो)** लोकाकाश है **(तत्तो)** उससे **(परदो)** बाहर **(अलोगुत्तो)** अलोकाकाश कहा गया है।

अर्थ - जितने आकाश में धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य रहते हैं, वह लोकाकाश है, उससे बाहर अलोकाकाश कहा गया है।

'कालद्रव्य का लक्षण'

दव्वपरिवट्टरूवो, जो सो कालो हवेइ ववहारो ।
परिणामादीलक्खो, वट्टण लक्खो य परमट्ठो ॥21॥

द्रव्य है परिवर्तन स्वरूप, परिणामादिक लक्षण रूप।
व्यवहार काल यही पहचान, रूप वर्तना निश्चय मान॥21॥

अन्वयार्थ - **(जो)** जो **(दव्वपरिवट्टरूवो)** द्रव्यों के परिवर्तनरूप और **(परिणामादीलक्खो)** परिणमन आदि लक्षण वाला होता है **(सो)** वह **(ववहारो)** व्यवहार **(कालो)** काल **(हवेइ)** है **(हु)** और **(वट्टणलक्खो)** वर्तनालक्षण वाला **(परमट्ठो)** निश्चय काल है।

अर्थ - जो द्रव्य परिवर्तन रूप है और परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व, से जाना जाता है, वह व्यवहार काल कहलाता है तथा वर्तना जिसका लक्षण है, वह निश्चय काल कहलाता है।

'कालद्रव्य के प्रदेश'

लोयायास पदेसे, इक्केक्के जे ठिया हु इक्केक्का ।
रयणाणं रासी मिव, ते कालाणू असंखदव्वाणि ॥22॥

लोकाकाश प्रदेश पे जान, इक-इक प्रदेश पे स्थित मान।
रत्नराशि सम हो कालाणु, असंख्यात सब जानो अणु॥22॥

अन्वयार्थ - **(इक्के क्के)** एक-एक **(लोयायासपदेसे)** लोकाकाश के प्रदेश पर **(जे)** जो **(रयणाणं)** रत्नों की **(रासीमिव)** राशि के समान **(इक्केक्का)** एक-एक **(कालाणु)** कालद्रव्य के अणु **(ठिया)** स्थित हैं। **(ते)** वे **(कालाणु)** कालद्रव्य के अणु **(असंखदव्वाणि)** असंख्यात द्रव्य हैं।

अर्थ - एक एक लोकाकाश के प्रदेश पर जो रत्नों की राशि के समान एक एक कालद्रव्य के अणु स्थित हैं। वे कालद्रव्य के अणु असंख्यात् द्रव्य हैं।

'द्रव्य और अस्तिकाय के भेद'

एवं छब्भेयमिदं, जीवाजीवप्प भेददो दव्वं ।
उत्तं कालविजुत्तं, णायव्वा पंच अत्थिकाया दु ॥23॥

जीवाजीव आदि छह जान, द्रव्य बताए जिन भगवान।
तजकर काल द्रव्य को पाँच, अस्तिकाय मानो सब सांच॥23॥

अन्वयार्थ - **(एवं)** इस प्रकार **(जीवाजीवप्पभेददो)** जीव और अजीव के भेद से **(इदं)** यह **(दव्वं)** द्रव्य **(छब्भेयं)** छः प्रकार **(उत्तं)** कहा गया है और **(कालविजुत्तं)** कालद्रव्य को छोड़कर **(पंच)** पाँच **(अत्थिकाया)** अस्तिकाय **(णायव्वा)** जानना चाहिए।

अर्थ - इस प्रकार जीव और अजीव के भेद से यह द्रव्य छः प्रकार का कहा गया है और कालद्रव्य को छोड़कर पांच अस्तिकाय जानना चाहिये।

'अस्तिकाय का लक्षण तथा अस्तिकाय नाम का कारण'

संति जदो तेणेदे, अत्थित्ति भणंति जिणवरा जह्मा ।
काया इव बहुदेसा, तह्मा काया य अत्थिकाया य ॥24॥

द्रव्य पाँच सत् रहें सदैव, मिलकर अस्ति कहे जिनदेव।
बहुदेशी हैं काय समान, अतः अस्तिकाय ये पहिचान॥24॥

अन्वयार्थ - **(जदो)** क्योंकि **(एदे)** ये जीव आदि द्रव्य **(सन्ति)** हैं **(तेण)** इसलिए उनको भगवज्जिनेन्द्रदेव **(अत्थित्ति)** अस्ति ऐसा **(भणंति)** कहते हैं **(य)** और **(जम्हा)** जिस कारण से **(कायाइव)** शरीर के समान **(बहुदेसा)** बहुत प्रदेश वाले [होंति = होते हैं] **(तम्हा)** इस कारण **(काया)** काय **(य)** और मिलकर **(अत्थिकाया)** अस्तिकाय कहे गये हैं।

अर्थ- क्योंकि ये जीव आदि द्रव्य हैं इसलिये उनको भगवज्जिनेन्द्र देव अस्ति ऐसा कहते हैं और जिस कारण से शरीर के समान बहुत प्रदेश वाले हैं, इसलिये काय और दोनों मिलकर अस्तिकाय कहे गये हैं।

' द्रव्यों के प्रदेश व काल के अस्तिकायत्व का निषेध'

होंति असंखा जीवे, धम्माधम्मे अणंत आयासे ।
मुत्ते तिविह पदेसा, कालस्सेगो ण तेण सो काओ ॥25॥

धर्माधर्म जीव असंख्यात, त्रिविध मूर्त के जानो खास।
नभानंत इक काल प्रदेश, नहीं काय कहते वृषभेश॥25॥

अन्वयार्थ - (**जीवे**) एक जीव में (**धम्माधम्मे**) धर्म और अधर्म द्रव्य में (**असंखा**) असंख्यात (**आयासे**) आकाश द्रव्य में (**अणन्त**) अनन्त और (**मुत्ते**) पुद्गल द्रव्य में (**तिविह**) संख्यात, असंख्यात और अनन्त (**पदेसा**) प्रदेश (**होंति**) होते हैं। (**कालस्स**) कालद्रव्य के (**एगो**) एक [प्रदेश होता है] (**तेण**) इसलिए (**सो**) वह कालद्रव्य (**काओ**) कायवान् (**ण**) नहीं है।

अर्थ - एक जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य में असंख्यात्, आकाश द्रव्य में अनंत और पुद्गल द्रव्य में संख्यात्, असंख्यात् और अनंत प्रदेश होते हैं। कालद्रव्य के एक प्रदेश होता है, इसलिये वह कालद्रव्य कायवान् नहीं है।

'पुद्गल के परमाणु के अस्तिकायपना'

एयपदेसो वि अणु, णाणा खंधप्पदेसदो होदि ।
बहुदेसो उवयारा, तेण य काओ भणंति सव्वण्हु ॥26॥

अणु का जानो एक प्रदेश, है उपचार से बहु प्रदेश।
बहु स्कंधरूप हो जाए, ऐसी स्वयं योग्यता पाय॥26॥

अन्वयार्थ - (**एयपदेसो वि अणु**) एक प्रदेश वाला भी पुद्गल का परमाणु (**णाणाखंधप्पदेसदो**) नानास्कंधों का कारण होने से (**बहुदेसो**) बहुप्रदेशी (**होदि**) होता है (**य**) और (**तेण**) इसलिए (**सव्वण्हु**) सर्वज्ञदेव [तं = उसे] (**उवयारा**) व्यवहारनय से/उपचार से (**काओ**) कायवान् (**भणंति**) कहते हैं।

अर्थ - एक प्रदेश वाला भी पुद्गल का परमाणु नाना स्कंधों का कारण होने से बहु प्रदेशी होता है और इसलिये सर्वज्ञदेव व्यवहार नय से/उपचार से कायवान् कहते हैं।

'प्रदेश का लक्षण और शक्ति'

जावदियं आयासं, अविभागीपुग्गलाणुवट्टद्धं ।
तं खु पदेसं जाणे, सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ॥27॥

एक अणु जितना आकाश, घेर रहा हो अपना खास।
सर्व अणु को देता थान, वह प्रदेशनिश्चय से जान॥27॥

अन्वयार्थ - (**जावदियं**) जितना (**आयासं**) आकाश (**अविभागी-पुग्गलाणुवट्ठद्धं**) पुद्गल के सबसे छोटे अविभागी परमाणु से रुकने वाला है (**तं**) उसको (**खु**) निश्चय से (**सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं**) सर्वपरमाणुओं को स्थान देने में समर्थ (**पदेसं**) प्रदेश (**जाणे**) जानना चाहिए।

अर्थ- जितना आकाश पुद्गल के सबसे छोटे परमाणु से रुकने वाला है उसको निश्चय से सर्व परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ प्रदेश जानना चाहिये।

'सात पदार्थों के कहने की सकारण प्रतिज्ञा'

आसव बंधण संवर, णिज्जर मोक्खा सपुण्णपावा जे ।
जीवाजीव विसेसा, तेवि समासेण पभणामो ॥28॥

आश्रव बंध अरु संवर होय, निर्जर पुण्य पाप है सोय।
मोक्ष है जीवाजीव विशेष, और कथन आगे है शेष ॥28॥

अन्वयार्थ - (**जे**) जो (**जीवाजीवविसेसा**) जीव और अजीव के विशेष भेद (**सपुण्णपावा**) पुण्य और पाप सहित (**आसवबंधण संवरणिज्जरमोक्खा**) आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हैं (**ते**) उनको (**वि**) भी (**समासेण**) संक्षेप से (**पभणामो**) कहता हूँ।

अर्थ - जो जीव और अजीव के विशेष भेद पुण्य और पाप सहित आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष हैं, उनको भी संक्षेप से कहता हूँ।

'भावास्रव और द्रव्यास्रव का लक्षण'

आसवदि जेण कम्मं, परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो, कम्मासवणं परो होदि ॥29॥

कर्माश्रव जिस भाव से होय, भावास्रव जानों वह सोय।

कर्मागम द्रव्यास्रव जान, ऐसा कहे श्री भगवान ॥29॥

अन्वयार्थ - (**अप्पणो**) आत्मा के (**जेण**) जिस (**परिणामेण**) परिणाम से (**कम्मं**) कर्म (**आसवदि**) आता है (**स**) वह (**जिणुत्तो**) जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ (**भावासओ**) भावास्रव (**विण्णेओ**) जानना चाहिए। [च = और] (**कम्मासवणं**) ज्ञानावरणादिक पुद्गल कर्मों का आना (**परो**) दूसरा द्रव्यास्रव (**होदि**) है।

अर्थ - आत्मा के जिस परिणाम से कर्म आता है वह जिनेन्द्र देव का कहा हुआ भाव आस्रव जानना चाहिये। ज्ञानावरणादिक पुद्गल कर्मों का आना द्रव्यास्रव है।

'भावास्रव के भेद'

मिच्छत्ताविरदि पमाद, जोगकोहादओऽथ स विण्णेया ।
पण पण पणदह तिय चदु, कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥30॥

मिथ्याविरत प्रमाद अरु योग, क्रोधादिक का हो संयोग।
पाँच, पाँच, पन्द्रह, तिय, चार, क्रमशः पूर्वोक्त भेद विचार ॥30॥

अन्वयार्थ - (**दु**) और (**स**) वह (**पुव्वस्स**) प्रथम भावास्रव के (**कमसो**) क्रम से (**पण पण पणदह तिय चदु**) पाँच, पाँच, पन्द्रह, तीन और चार (**मिच्छत्ताविरदिपमादजोगकोहादयो**) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय के (**भेदा**) भेद (**विण्णेया**) जानना चाहिए।

अर्थ - और वह प्रथम भावास्रव के क्रम से पाँच, पाँच, पंद्रह, तीन और चार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और क्रोधादि कषाय के भेद जानना चाहिये।

' द्रव्यास्रव का लक्षण और भेद'

णाणावरणादीणं, जोग्गं जं पुग्गलं समासवदि ।
दव्वासवो स णेओ, अणेयभेओ जिणक्खादो ॥31॥

ज्ञानावरणादि योग्य जो होय, पुद्गल कर्म आते हैं सोय।
द्रव्यास्रव कहते जिनदेव, जो अनेक विध रहा सदैव ॥31॥

अन्वयार्थ - (**णाणावरणादीणं**) ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के (**जोग्गं**) होने योग्य (**जं**) जो (**पुग्गलं**) पुद्गल द्रव्य (**समासवदि**) आता है (**स**)

वह (**जिणक्खादो**) भगवज्जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ (**अणेयभेओ**) अनेक भेद वाला (**दव्वासओ**) द्रव्यास्रव (**णेयो**) जानना चाहिए।

अर्थ- ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को होने योग्य जो पुद्गल द्रव्य आता है, वह भगवज्जिनेंद्र देव के द्वारा कहा हुआ अनेक भेद वाला द्रव्यास्रव जानना चाहिये।

' भावबन्ध और द्रव्यबन्ध का लक्षण'

बज्झदि कम्मं जेण दु, चेदणभावेण भावबंधो सो ।
कम्माद पदेसाणं, अण्णोण्ण पवेसणं इदरो ॥32॥

कर्म बंध जिस भाव से पाय, जीव के भावास्रव कहलाय।
एकमेक हो कर्म प्रदेश, द्रव्य बंध भासे वृषभेष ॥32॥

अन्वयार्थ - (**जेण**) जिस (**चेदणभावेण**) आत्मा के परिणाम से (**कम्मं**) कर्म (**बज्झदि**) बंधता है (**सो**) वह परिणाम (**भावबंधो**) भावबन्ध है, (**दु**) और (**कम्मादपदेसाणं**) कर्म और आत्मा के प्रदेशों का (**अण्णोण्णपवेसणं**) परस्पर एकमेक होकर मिल जाना (**इदरो**) दूसरा द्रव्यबन्ध है।

अर्थ - जिस आत्मा के परिणाम से कर्म बंधता है, वह परिणाम भावबंध है, और कर्म और आत्मा के प्रदेशों का परस्पर एकमेक होकर मिल जाना दूसरा द्रव्य बंध है।

' बन्ध के भेद और उसके कारण'

पय-डिट्ठिदि-अणु-भागप्, पदेश-भेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडि-पदेसा, ठिदि-अणुभागा कसायदो होंति।।33॥

प्रकृति स्थिति अरु अनुभाग, प्रदेश सहित बंध चउ भाग।
योग से हों प्रकृति प्रदेश, बन्ध कषाय से होवें शेष ॥33॥

अन्वयार्थ - (**बंधो**) बन्ध (**पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेसभेदा**) प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के भेद से (**चदुविधो**) चार प्रकार हैं, उनमें (**पयडिपदेसा**) प्रकृतिबंध और प्रदेश बंध (**जोगा**) योग से (**दु**) और (**ठिदिअणुभागा**) स्थितिबंध और अनुभागबंध (**कषायदो**) कषाय से (**होंति**) होते हैं।

अर्थ - 1 प्रकृति बंध, 2. स्थिति बंध, 3. अनुभाग बंध, 4. प्रदेश बंध इस प्रकार बंध 4प्रकार का है। उनमें प्रकृति बंध और प्रदेश बंध योग से होते हैं तथा स्थिति बंध और अनुभाग बंध कषाय से होते हैं।

' भावसंवर और द्रव्यसंवर का लक्षण'

चेदणपरिणामो जो, कम्मस्सासव णिरोहणे हेऊ ।
सो भावसंवरो खलु , दव्वासव रोहणे अण्णो ॥34॥

जीव के हैं जो शुभ परिणाम, कर्मास्रव रोके चउ याम।
अतः भाव संवर पहिचान, कर्मरोध द्रव्य संवर जान॥34॥

अन्वयार्थ - (**जो**) जो (**चेदणपरिणामो**) आत्मा का परिणाम (**कम्मस्स**) कर्म के (**आसवणिरोहणे**) आस्रव को रोकने में (**हेदु**) कारण है (**सो**) वह परिणाम (**खलु**) निश्चय से (**भावसंवरो**) भावसंवर है और (**जो**) जो (**दव्व सवरोहणे**) द्रव्य आस्रव को रोकने में (**हेदू**) कारण है (**सो**) वह (**अण्णो**) दूसरा द्रव्यसंवर है।

अर्थ- जो आत्मा का परिणाम कर्म के आस्रव को रोकने में कारण है सो वह परिणाम निश्चय से भावसंवर है और जो द्रव्य आस्रव को रोकने में कारण है, वह दूसरा द्रव्य संवर है।

' भावसंवर के भेद'

वद समिदी गुत्तीओ, धम्माणुपेहा परीसह जओ य ।
चारित्तं बहुभेया, णायव्वा भाव संवरविसेसा ॥35॥

महाव्रत समिति गुप्ति अरु धरम, परिषह जय अनुप्रेक्षा परम।
बहु प्रकार चारित्र समेत, भाव संवर के होते भेद॥35॥

अन्वयार्थ - (**वदसमिदीगुत्तीओ**) व्रत, समिति, गुप्ति (**धम्माणुपेहा**) धर्म, अनुप्रेक्षा (**परीषहजओ**) परीषहजय (**य**) और (**बहुभेय**) बहुत प्रकार (**चारित्तं**) चारित्र ये सब (**भावसंवर विसेसा**) भावसंवर के भेद (**णायव्वा**) जानना चाहिए।

अर्थ - पांच व्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय, और अनेक प्रकार का चारित्र ये सब भावसंवर के भेद हैं। अर्थात्

ये सब कर्मों का आस्रव रोकने में कारण हैं।

' निर्जरा का लक्षण और भेद'

जह कालेण तवेण य, भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण ।
भावेण सडदि णेया, तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा ॥36॥

तप जह काल में निज फल देय, कर्म झरें जिन भाव से हेय।
कर्म निर्जरा ताको जान, दूजा द्रव्य निर्जरा मान॥36॥

अन्वयार्थ - (**जहकालेण**) कर्मों की स्थिति पूर्ण होने से (**भुत्तरसं**) जिसका फल भोगा जा चुका है ऐसा (**कम्मपुग्गलं**) पुद्गलमयकर्म (**जेण**) जिस (**भावेण**) परिणाम से (**सडदि**) छूटता है वही परिणाम सविपाक भावनिर्जरा है। (**य**) और (**तवेण**) तप के द्वारा (**जेण भावेणकम्मपुग्गलं सडदि**) आत्मा के जिस परिणाम से कर्म छूटता है वही परिणाम अविपाक भावनिर्जरा है, तथा (**जहकालेण**) स्थिति पूर्ण होने से (**य**) अथवा (**तवेण**) तप से (**तस्सडणं**) ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का छूटना [सविपाक और अविपाक द्रव्य निर्जरा है।] (**इदि**) इस प्रकार (**णिज्जरा**) निर्जरा (**दुविहा**) दो प्रकार (**णेया**) जानना चाहिए।

अर्थ - कर्मों की स्थिति पूर्ण होने से जिसका फल भोगा जा चुका है ऐसा पुद्गलमय कर्म जिस परिणाम से छूटता है वही परिणाम सविपाक भावनिर्जरा है। और तप के द्वारा आत्मा के जिस परिणाम से कर्म छूटता है वही परिणाम अविपाक भावनिर्जरा है, तथा स्थिति पूर्ण होने से अथवा तप से ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का छूटना क्रमशः सविपाक द्रव्य निर्जरा और अविपाक द्रव्य निर्जरा है, इस प्रकार निर्जरा के दो प्रकार जानना चाहिये।

' मोक्ष का लक्षण व भेद'

सव्वस्स कम्मणो जो, खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेओ स भावमोक्खो, दव्वविमोक्खो य कम्मपुहभावो ॥37॥

सर्व कर्म क्षय के जो कारण, आत्म भाव करता है धारण।
अर्हत् भाषित है भाव मोक्ष, कर्म पृथकता से द्रव्य मोक्ष॥37॥

अन्वयार्थ - (**जो**) जो (**अप्पणो**) आत्मा का (**परिणामो**) परिणाम

(सव्वस्स) समस्त **(कम्मणो)** कर्मों के **(खयहेदू)** क्षय होने में कारण है **(स)** वह परिणाम **(हु)** ही **(भावमोक्खो)** भावमोक्ष **(णेओ)** जानना चाहिए **(य)** और **(कम्मपुहभावो)** ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का छूट जाना **(दव्वविमोक्खो)** द्रव्यमोक्ष है।

अर्थ - जो आत्मा का परिणाम समस्त कर्मों के क्षय होने का कारण है वह परिणाम ही भाव मोक्ष जानना चाहिये और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का छूट जाना द्रव्य मोक्ष है।

'पुण्य और पाप का वर्णन'

सुहअसुहभावजुत्ता, पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा ।
सादं सुहाउ णामं, गोदं पुण्णं पराणि पावं च ॥38॥
जीव शुभाशुभ भाव संयुक्त, पुण्य पाप से होते युक्त।
गोत्र-नामायु साता पुण्य, शेष कर्म सब होंय अपुण्य॥38॥

अन्वयार्थ - **(सुहअसुहभावजुत्ता)** अच्छे और खोटे परिणामों सहित **(जीवा)** जीव **(खलु)** निश्चय से **(पुण्णं)** पुण्यरूप **(च)** और **(पावं)** पापरूप **(हवंति)** होते हैं और **(सादं)** साता वेदनीय **(सुहाउ)** शुभ आयु **(णामं)** शुभनाम **(गोद)** उच्च गोत्र ये कर्म **(पुण्णं)** पुण्य रूप हैं। **(च)** और **(पराणि)** शेष सब कर्म **(पावं)** पापरूप **(हवंति)** हैं।

अर्थ - अच्छे और खोटे परिणामों सहित जीव निश्चय से पुण्यरूप और पापरूप होते हैं और साता वेदनीय शुभनाम उच्च गोत्र ये कर्म पुण्य रूप हैं। और शेष सब कर्म पापरूप हैं।

' व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का लक्षण'

सम्मद्दंसण णाणं, चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ।
ववहारा णिच्छयदो, तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥39॥
सम्यक् दर्शन ज्ञान चरित्र, यही मोक्ष के कारण मित्र!।
रत्नत्रय आतम में होय, निश्चय से कारण है सोय॥39॥

अन्वयार्थ - **(ववहारा)** व्यवहार नय से **(सम्मद्दंसणणाणं चरणं)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र **(च)** और **(णिच्छयणयदो)**

निश्चय नय से **(तत्तियमइयो)** उन तीनों सहित **(णिओ)** अपनी **(अप्पा)** आत्मा **(मोक्खस्स)** मोक्ष का **(कारणं)** कारण **(जाणे)** जानना चाहिए।

अर्थ - व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का कारण जानो और निश्चय नय से उन तीनों सहित अपनी आत्मा मोक्ष का कारण जानना चाहिये।

'आत्मा को ही निश्चय मोक्षमार्ग कहने का कारण'

रयणत्तयं ण वट्टइ, अप्पाणं मुइत्तु अण्ण दवियम्हि ।
तम्हा तत्तियमइओ, होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥40॥
रत्नत्रय आतम बिन जान, अन्य द्रव्यों में रहे ना मान।
अतः त्रयात्मक मोक्ष के हेतु, आतम होती है शुभ सेतु ॥40॥

अन्वयार्थ - **(रयणत्तयं)** रत्नत्रय **(अप्पाणं)** आत्मा को **(मुइत्तु)** छोड़कर **(अण्णदवियम्हि)** अन्य द्रव्य में **(ण वट्टइ)** नहीं रहता **(तम्हा)** इसलिए **(तत्तियमइयो)** उन तीनों सहित **(आदा)** आत्मा **(हु)** ही **(मोक्खस्स)** मोक्ष का **(कारणं)** कारण **(होदि)** होता है।

अर्थ - रत्नत्रय आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में नहीं रहता इसलिये उन तीनों सहित आत्मा ही मोक्ष का कारण होता है।

'व्यवहार सम्यग्दर्शन का लक्षण'

जीवादी सद्दहणं, सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभि णिवेस विमुक्कं, णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि॥41॥
जीवादिक पर हो श्रद्धान, सम्यक् आत्म रूप का भान।
दुरभिनिवेश बिना हो ज्ञान, निश्चय से होता सद्ज्ञान॥41॥

अन्वयार्थ - **(जम्हि सदि)** जिसके होने पर **(खु)** ही **(णाणं)** ज्ञान **(दुरभिणिवेसविमुक्कं)** संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित **(सम्मं)** सत्यार्थ **(सम्यक्) (होदि)** होता है [ऐसा] **(जीवादीसद्दहणं)** जीवादिक सातों तत्त्वों का श्रद्धान **(सम्मत्तं)** सम्यग्दर्शन है **(तं)** वह सम्यग्दर्शन **(अप्पणो)** आत्मा का **(रुवं)** स्वरूप है।

अर्थ - जिसके होने पर ही ज्ञान संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित

सत्यार्थ होता है, जीवादिक सातों तत्वों का श्रृद्धान सम्यग्दर्शन है, वह सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वरूप है।

'सम्यग्ज्ञान का लक्षण'

संसय विमोह विब्भम, विवज्जियं अप्प पर सरूवस्स ।
गहणं सम्मंणाणं, सायारमणेयभेयं च ॥42॥

संशय मोह विभ्रम बिन ज्ञान, ग्रहण स्वपर स्वरूप बखान।
सम्यक्ज्ञान कहा साकार, जिनवर कथित अनेक प्रकार॥42॥

अन्वयार्थ - (**अप्पपरसरूवस्स**) अपने स्वरूप का और पर वस्तुओं के स्वरूप का (**संसयविमोहविब्भम**) संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित (**सायारं**) आकार-विकल्प सहित (**गहणं**) जैसा का तैसा जानना (**सम्मंणाणं**) सम्यग्ज्ञान है (**तु**) और वह सम्यग्ज्ञान (**अणेय भेयं**) अनेक भेद वाला है।

अर्थ - अपने स्वरूप का और पर वस्तुओं के स्वरूप का संशय, विपर्यय (विपरीत) और अनध्यवसाय रहित आकार (विकल्प) सहित जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञान अनेक भेद वाला है।

'दर्शनोपयोग का लक्षण'

जं सामण्णं गहणं, भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे , दंसणमिदि भण्णए समए ॥43॥

जो सामान्य ग्रहण के भाव, बिना विशेष पदार्थ उपाव।
ग्रहण होय सो दर्शन जान, श्री जिनवर वाणी से मान ॥43॥

अन्वयार्थ - (**अट्ठे**) पदार्थों को (**अविसेसदूण**) विशेषता नहीं करके (**आयारं**) आकार को (**णेवकट्टुं**) ग्रहण नहीं करके (**जं**) जो (**भावाणं**) पदार्थों का (**सामण्णं**) सामान्य (**गहणं**) ग्रहण करना है, वह (**समए**) शास्त्र में (**दंसणं**) दर्शनोपयोग (**भण्णए**) कहा गया है।

अर्थ - पदार्थों को विशेषता नहीं करके आकार को ग्रहण नहीं करके जो पदार्थों का सामान्य ग्रहण करता है, वह शास्त्र में दर्शनोपयोग कहा गया है।

' दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति का नियम'

दंसणपुव्वं णाणं, छदुमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा ।
जुगवं जम्हा केवलि, णाहे जुगवं तु ते दो वि ॥44॥

दर्शन पूर्वक ज्ञान बताय, छद्मस्थों के साथ न पाय।
धर दोनों उपयोग हि साथ, प्राप्त करें श्री केवलि नाथ!॥44॥

अन्वयार्थ - (**छदमत्थाणं**) क्षायोपशमिक ज्ञान वालों के (**णाणं**) ज्ञान (**दंसणपुव्वं**) दर्शनपूर्वक ही होता है (**जम्हा**) क्योंकि (**छदमत्थाणं**) क्षायोपशमिक ज्ञानियों के (**दुण्णि**) दो (**उवओगा**) उपयोग (**जुगवं**) एक साथ (**ण**) नहीं होते हैं। (**तु**) किंतु (**केवलिणाहे**) केवलज्ञानी के (**ते**) वे (**दो वि**) दोनों ही उपयोग (**जुगवं**) एक साथ होते हैं।

अर्थ - क्षायोपशमिक ज्ञान वालों के ज्ञान दर्शन पूर्वक ही होता है, क्योंकि क्षायोपशमिक ज्ञानियों के दो उपयोग एक साथ नहीं होते हैं। किन्तु केवलज्ञानी के वे दोनों ही उपयोग एक साथ होते हैं।

' व्यवहार सम्यक्चारित्र का स्वरूप और भेद'

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वद समिदि गुत्तिरुवं, ववहारणया दु जिण भणियम् ॥45॥

त्याग अशुभ शुभ में प्रवृत्ति, जानो यह चरित् की वृत्ति।
समिति, गुप्ति व्रत रूप जिनेश, व्यवहार चारित्र कहे विशेष॥45॥

अन्वयार्थ - (**असुहादो**) अशुभ क्रियाओं से (**विणिवित्ती**) निवृत्ति होना (**य**) और (**सुहे**) शुभ क्रियाओं में (**पवित्ती**) प्रवृत्ति होना (**ववहारणया**) व्यवहार नय से (**चारित्तं**) चारित्र (**जाण**) जानना चाहिए (**दु**) और (**जिणभणियं**) जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ [तं = वह चारित्र] (**वतसमिदिगुत्तिरुवं**) व्रत, समिति, गुप्ति रूप है।

अर्थ - अशुभ क्रियाओं से निवृत्ति होना और शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति होना व्यवहार नय से चारित्र जानना चाहिये और वह चारित्र जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ व्रत, समिति, गुप्त रूप है।

' निश्चय सम्यक्चारित्र का लक्षण'

बहि रब्भंतर किरिया रोहो, भव कारणप्पणासट्ठं ।
णाणिस्स जं जिणुत्तं, तं परमं सम्मचारित्तं ॥46॥

बाह्याभ्यंतर क्रिया निरोध, भव कारण में होता रोध।
ज्ञानी के हो सत् चारित्र, जिनवर भासे परम पवित्र॥46॥

अन्वयार्थ - (**णाणिस्स**) ज्ञानी का (**भवकारणप्पणासट्ठं**) संसार के कारणों का नाश करने के लिए (**बहिरब्भंतरकिरियारोहो**) बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं को रोकना (**जिणुत्तं**) जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ (**परमं**) उत्कृष्ट या निश्चय (**सम्मचारित्तं**) सम्यक्च ारित्र (**जाण**) जानना चाहिए।

अर्थ - ज्ञानी का संसार के कारणों का नाश करने के लिये बाह्य और अभ्यंतर क्रियाओं को रोकना जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ उत्कृष्ट या निश्चय सम्यक्च ारित्र जानना चाहिये।

'ध्यानाभ्यास करने की हेतुपूर्वक प्रेरणा'

दुविहं पि मोक्खहेउं, झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तम्हा पयत्तचित्ता, जूयं झाणं समब्भसह ॥47॥

नियमादिक विधि मोक्ष के हेतु, मुनि जन ध्यान से पावें सेतु।
अतः चित्त एकाग्र हो संत, ध्यानाभ्यास से हो भव अंत॥47॥

अन्वयार्थ - (**जं**) क्योंकि (**मुणि**) मुनि (**णियमा**) नियम से (**झाणे**) ध्यान में स्थित होकर (**दुविहंपि**) दोनों ही (**मोक्खहेउं**) मोक्ष के कारणों को (**पाउणदि**) प्राप्त करता है। (**तम्हा**) इसलिए (**जूयं**) तुम सब (**पयत्तचित्ता**) प्रयत्नशील होते हुये (**झाणं**) ध्यान का (**समब्भसह**) भली प्रकार अभ्यास करो।

अर्थ - क्योंकि मुनि नियम से ध्यान में स्थित होकर दोनों ही मोक्ष के कारणों को प्राप्त करता है। इसलिये तुम सब प्रयत्नशील होते हुये ध्यान का भली प्रकार अभ्यास करो।

' ध्यान में लीन होने का उपाय'

मा मुज्झह मा रज्जह, मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु ।
थिरमिच्छह जइ चित्तं, विचित्त झाणप्पसिद्धीए ॥48॥

चाहो चित्त निरोध यदि आप, विविध ध्यान सिद्धी या जाप।
इष्टानिष्ट पदार्थ में मोह, रागद्वेष नहि करना सोय॥48॥

अन्वयार्थ - (**जइ**) यदि (**विचित्तझाणप्पसिद्धीए**) अनेक प्रकार का ध्यान करने के लिए (**चित्तं**) चित्त को (**थिरं**) स्थिर करना (**इच्छह**) चाहते हो तो (**इट्ठणिट्ठअत्थेसु**) इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में (**मा मुज्झह**) मोह मत करो (**मा रज्जह**) राग मत करो (**मा दुस्सह**) द्वेष मत करो।

अर्थ - यदि अनेक प्रकार का ध्यान करने के लिये चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में मोह मत करो, राग, द्वेष मत करो।

' ध्यान करने योग्य मंत्र'

पणतीस सोल छप्पण, चदु दुगमेगं च जवह झाएह ।
परमेट्ठि वाचयाणं, अण्णं च गुरुवएसेण ॥49॥

पैंतिस सोलह छै और पाँच, दुइ चउ एक वर्ण हैं साँच।
ध्यावो और जपो पद मूल, अथवा जो गुरु दें अनुकूल ॥49॥

अन्वयार्थ - (**परमेट्ठिवाचयाणं**) परमेष्ठिवाचक (**पणतीस**) पैंतीस (**सोल**) सोलह (**छप्पण**) छह, पाँच, (**चदु**) चार, (**दुगं**) दो, (**एगं**) एक अक्षर वाले मंत्र को [तथा](**गुरुवएसेण**) सच्चे गुरु के उपदेश से (**अण्णं**) और मंत्रों को भी (**जवह**) जपो (**च**) और (**झाएह**) ध्याओ।

अर्थ - परमेष्ठि वाचक पैंतीस, सोलह, छह, पांच, चार, दो और एक अक्षर वाले तथा गुरूपदिष्ट अन्य मंत्रों का भी जाप तथा ध्यान करना चाहिये।

'अरिहंत परमेष्ठि का लक्षण'

णट्ठ चदु घाइकम्मो, दंसण सुह णाण वीरिय मइओ ।
सुहदेहत्थो अप्पा, सुद्धो अरिहो वि चिंतिज्जो ॥50॥

चार घातिया कर्म विनाश, दर्श ज्ञान सुख वीर्य ये खास।
शुद्ध आत्म शुभ देह में पाय, परम ध्यान अर्हत् को ध्याय ॥50॥

अन्वयार्थ - (**णट्ठचदुघाइकम्मो**) चार घातिया कर्म के नाशक (**दंसण**) अनन्तदर्शन, (**सुह**) अनन्तसुख, (**णाण**) अनन्तज्ञान (**वीरियमइओ**) और अनन्तवीर्य के धारक (**सुहदेहत्थो**) परमौदारिक शरीर सहित (**सुद्धो**) अठारह दोष रहित शुद्ध (**अप्पा**) आत्मा (**अरिहो**) अरिहंत परमेष्ठी हैं, सो वे अरिहन्त परमेष्ठी (**विचिंतिज्जो**) ध्यान करने योग्य हैं।

अर्थ - चार घातिया कर्मों के नाशक, चार अनंत चतुष्टय के धारक, सप्तधातुरहित-परमौदारिक शरीर सहित और अठारह दोषरहित जीव अरिहंत परमेष्ठी कहलाते हैं। उनका भी ध्यान करना चाहिये।

' सिद्ध परमेष्ठि का लक्षण'

णट्ठट्ठ कम्मदेहो, लोयालोयस्स जाणओ दट्ठा ।
पुरिसायारो अप्पा, सिद्धो झाएह लोएसिहरत्थो ॥51॥
ज्ञाता दृष्टा लोकालोक, कर्म देह से रहित विलोक।
लोक शिखर पर स्थित आत्म, पुरुष रूप ध्यावो परमात्म ॥51॥

अन्वयार्थ - (**णट्ठट्ठकम्मदेहो**) आठ कर्म और शरीर रहित (**लोयालोयस्स**) लोक और अलोक को (**जाणओ**) जानने वाले और (**दट्ठा**) देखने वाले (**पुरिसायारो**) पुरुषाकार (**लोएसिहरत्थो**) लोक के अग्रभाग में स्थित (**अप्पा**) आत्मा (**सिद्धो**) सिद्ध परमेष्ठी हैं, उन सिद्ध परमेष्ठी को भी (**झाएह**) ध्याओ।

अर्थ - अष्टकर्म और पाँच शरीर रहित, लोक और अलोक के ज्ञाता दृष्टा तथा पुरुष के आकार के धारक लोक के अग्रभाग में स्थित आत्मा सिद्ध परमेष्ठी कहलाती है। उन सिद्ध परमेष्ठी का भी ध्यान करना चाहिये।

'आचार्य परमेष्ठि का लक्षण'

दंसण णाण पहाणे, वीरिय चारित्त वर तवायारे ।
अप्पं परं च जुंजइ, सो आइरिओ मुणी झेओ ॥52॥
दर्श ज्ञान चारित्र प्रधान, वीर्याचार तप श्रेष्ठ महान।
पालन आप करें करवाय, हम आचार्य का ध्यान लगायें ॥52॥

अन्वयार्थ - (**जो**) जो (**दंसणणाणपहाणे**) दर्शनाचार और ज्ञानाचार है प्रधान जिनके ऐसे (**वीरिय चारित्त वरतवायारे**) वीर्याचार, चारित्राचार और

उत्तम तपाचार में (**अप्पं**) अपने को (**च**) और (**परं**) दूसरों को (**जुंजइ**) लगाते हैं (**सो**) वे (**मुणी**) मुनि (**आयरियो**) आचार्य परमेष्ठी हैं, वे आचार्य परमेष्ठी भी (**झेओ**) ध्यान करने योग्य हैं।

अर्थ - जो साधु दर्शन, ज्ञान, आचार हैं प्रधान जिनके ऐसे वीर्य, चारित्र और तपश्चरण इन पाँचों आचारों को स्वयं पालते हैं तथा दूसरों से पालन कराते हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी कहते हैं। उनका भी ध्यान करना चाहिये।

'उपाध्याय परमेष्ठि का लक्षण'

जो रयणत्तय जुत्तो, णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो ।
सो उवझाओ अप्पा, जदिवरवसहो णमो तस्स ॥53॥
नित्यधर्म का दें उपदेश, रत्नत्रय से युक्त विशेष।
वे मुनि श्रेष्ठ आत्म उवझाय, जिनके पद जग शीश नवाय ॥53॥

अन्वयार्थ - (**जो**) जो (**रयणत्तयजुत्तो**) रत्नत्रय सहित और (**णिच्चं**) सदा (**धम्मोवएसणे**) धर्मोपदेश देने में (**णिरदो**) तत्पर होता है (**सो**) वह (**जदिवरवसहो**) प्रधान मुनियों में प्रमुख (**अप्पा**) आत्मा (**उवझाओ**) उपाध्याय परमेष्ठी हैं (**तस्स**) उन उपाध्याय परमेष्ठी के लिए (**णमो**) नमस्कार हो।

अर्थ - जो रत्नत्रय सहित और सदा धर्मोपदेश देने में तत्पर होता है, वह प्रधान मुनियों में प्रमुख आत्मा उपाध्याय परमेष्ठी हैं, उन उपाध्याय परमेष्ठी के लिये नमस्कार हो।

'साधु परमेष्ठि का लक्षण'

दंसणणाण समग्गं, मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्चसुद्धं, साहू स मुणी णमो तस्स ॥54॥
दर्शन ज्ञान सहित हो चित्त, मोक्ष मार्ग निश्चय चारित्र।
नित्य शुद्ध जो साधें संत, उन साधू पद नमन् अनंत ॥54॥

अन्वयार्थ - (**जो**) जो (**मुणी**) मुनि (**मोक्खस्स**) मोक्ष के (**मग्गं**) मार्गस्वरूप (**दंसणणाणसमग्गं**) दर्शन और ज्ञान सहित (**णिच्चसुद्धं**) सदा शुद्ध (**चारित्तं**) चारित्र को (**साधयदि**) साधता है (**सो**) वह (**साहू**)

साधु परमेष्ठी है (**तस्स**) उस साधु के लिए (**णमो**) नमस्कार हो।

अर्थ – जो मुनि मोक्ष के मार्गस्वरूप दर्शन और ज्ञान सहित सदा शुद्ध चारित्र को साधता है, वह साधु परमेष्ठी है, उन साधु के लिये नमस्कार हो।

' निश्चय ध्यान का वर्णन'

जं किंचिवि चिंतंतो, णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूण य एयत्तं, तदाहु तं तस्स णिच्छयं झाणं ॥55॥

जब एकत्व साधु के आय, निस्पृह हो जो चिन्तन पाय।
तब वह निश्चय ध्यान कहाय, विशद कहे यह श्री जिनाय॥55॥

अन्वयार्थ – (**जदा**) जब (**साहू**) साधु (**एयत्तं**) एकाग्रता को (**लद्धूण य**) प्राप्त होकर (**जं किंचि वि**) जो कुछ भी (**चिंतंतो**) चिन्तवन करता हुआ (**णिरीहवित्ती**) इच्छा रहित (**हवे**) होता है (**तदा**) उस समय (**हु**) ही (**तस्स**) उस साधु का (**तं**) वह (**णिच्छयं**) निश्चय (**झाणं**) ध्यान होता है।

अर्थ – जब साधु एकाग्रता का प्राप्त होकर जो कुछ भी चिन्तवन करता हुआ इच्छा रहित होता है उस समय ही उस साधु का वह निश्चय ध्यान होता है।

'परमध्यान का लक्षण'

मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवे झाणं॥56॥

चिंतन वचन न चेष्टा होय, जिससे स्थिरता हो सोय।
आतम में आतम रम जाय, परम ध्यान ये ही कहलाय॥56॥

अन्वयार्थ – (**किंवि**) कुछ भी (**मा चिट्ठह**) चेष्टा मत करो (**मा जंपह**) मत बोलो (**मा चिंतय**) मत विचारो (**जेण**) जिससे (**अप्पा**) आत्मा (**आपम्मि**) आत्मा में (**रओ**) लीन (**होइ**) होकर (**थिरो**) स्थिर (**होइ**) होता है (**इणमेव**) यह ही (**परं**) उत्कृष्ट (**झाणं**) ध्यान (**हवे**) है।

अर्थ – कुछ भी चेष्टा मत करो, मत बोलो, मत विचारो जिससे आत्मा आत्मा में लीन होकर स्थिर होता है, यह ही उत्कृष्ट ध्यान है।

' ध्यान का उपाय'

तव सुद वदवं चेदा, झाण रहधुरंधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्तियणिरदा, तल्लद्धीए सदा होइ ॥57॥

चेतन तप श्रुत व्रत अनुसार, धुरी ध्यान रथ की उरधार।
अतः निरत तीनों में होय, सदा ध्यान वह पाए सोय॥57॥

अन्वयार्थ – (**जम्हा**) जिस कारण से (**तवसुदवदवं**) तप, शास्त्र और व्रतों को धारण करने वाली (**चेदा**) आत्मा (**झाणरहधुरंधरो**) ध्यानरूपी रथ को ढोने वाला (**हवे**) होता है (**तम्हा**) इसलिए (**तल्लद्धीए**) उस ध्यान की प्राप्ति के लिए (**सदा**) हमेशा (**तत्तियणिरदा**) उन तीनों में लीन (**होइ**) होओ।

अर्थ – जिस कारण से तप, शास्त्र, और व्रतों को धारण करने वाली आत्मा ध्यानरूपी रथ को ढोने वाला होता है इसलिये उस ध्यान की प्राप्ति के लिये हमेशा उन तीनों में लीन होओ।

' ग्रन्थकार की लघुता'

दव्व संगहमिणं मुणिणाहा, दोस संचय चुदा सुदपुण्णा ।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण, णेमिचन्द मुणिणा भणियं जं ॥58॥

कहा द्रव्य संग्रह मुनि नाथ, निर्दोषी हों श्रुत के साथ।
अल्प बुद्धि मैं नेमीचन्द्र, शुद्ध करें मुनियों के इन्द्र॥58॥

अन्वयार्थ – (**तणुसुत्तधरेण**) अल्पज्ञानी (**णेमिचंदमुणिणा**) मुझ नेमिचन्द मुनिने (**जं**) जो (**इणं**) यह (**दव्वसंगहं**) द्रव्यसंग्रह (**भणियं**) कहा है इसको (**दोससंचयचुदा**) रागादि तथा संशयादि दोषरहित (**सुदपुण्णा**) द्रव्य श्रुत तथा भावश्रुत के ज्ञाता (**मुणिणाहा**) प्रधानमुनि (**सोधयंतु**) संशोधन करें।

अर्थ– अल्प ज्ञानी मुझ नेमीचंद मुनि ने जो यह द्रव्य संग्रह ग्रन्थ कहा है, इसको रागादि तथा संशयादि दोष रहित 'विशद' द्रव्य श्रुत तथा भाव श्रुत के ज्ञाता प्रधानमुनि संशोधन करें।

लघु द्रव्य संग्रह

मंगलाचरण

छद्दव्व पंच अत्थी, सत्तवि तच्चाणि णव पयत्था य।
भंगुप्पाय धुवत्ता, णिद्दिट्ठा जेण सो जिणो जयउ॥1॥

चौपाई

नव पदार्थ पञ्चास्तिकाय, तत्त्व सप्त छह द्रव्य बताय।
व्यय उत्पाद ध्रौव्य तक अंत, निर्देशे जिनवर जयवंत॥

अन्वयार्थ - छद्दव्व - छः द्रव्य, **पंच अत्थी**- पाँच अस्तिकाय, **सत्त तच्चाणि**- सात तत्त्व, **वि**- और, **णव पयत्था**- नौ पदार्थ, **य** - और, **भंगुप्पाय धुवत्ता**- व्यय, उत्पाद, ध्रौव्य, **जेण**- जिन्होंने कहे हैं, **सो**- वह, **जिणो**-जिनेन्द्र देव! **जयउ**- जयवंत हों।

भावार्थ - जिन्होंने विशद छः द्रव्यों, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों तथा उत्पाद व्यय-ध्रौव्य का निर्देश दिया है वे श्री जिनेन्द्र देव जयवंत हों।

' द्रव्य और अस्तिकाय'

जीवो पुग्गल धम्माऽधम्मागासो तहेव कालो य ।
दव्वाणि कालरहिया, पदेश बाहुल्लदो अत्थिकाया य॥2॥

चौपाई

पुद्गल जीव काल आकाश, धर्माऽधर्म द्रव्य छह खास।
काल द्रव्य बिन अस्तिकाय, बहु प्रदेश जिनके कहलाय॥

अन्वयार्थ - जीवो-जीव, **पुग्गल**- पुद्गल, **धम्माऽधम्मागासो**- धर्म, अधर्म और आकाश, **तहेव य** - यह और, **कालो**- काल, **दव्वाणि**- द्रव्यें हैं, **य** - और, **काल रहिया**- काल के अतिरिक्त, **पदेश बाहुल्लदो**- बहुप्रदेशी होने से, **अत्थिकाया** - अस्तिकाय हैं

भावार्थ -जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये छः द्रव्यें हैं। काल के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय हैं।

नव पदार्थ

जीवाजीवासवबंध, संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो।
तच्चाणि सत्त एदे, सपुण्ण पावा पयत्थ य॥3॥

चौपाई

जीव अजीव अरु आस्रव बंध, संवर निर्जर और अबंध।
सप्त तत्त्व ये पुण्य अरु पाप, नव पदार्थ भाषे जिन आप॥

अन्वयार्थ - जीवाजीवास्रव-जीव,अजीव, आस्रव, **बंध**- बंध, **संवरो**- संवर **णिज्जरा** -निर्जरा, **तहा**- और, **मोक्खो**- मोक्ष, **एदे**- यह, **सत्त तच्चाणि य**- सात तत्त्व हैं और, **सपुण्य पावा** -पुण्य और पाप सहित, **पयत्थ**- नव पदार्थ हैं।

भावार्थ -जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। ये सात तत्त्व पुण्य और पाप सहित नौ पदार्थ होते हैं। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

जीवों का लक्षण और भेद

जीवो होई अमुत्तो, सदेहमित्तो सचेयणा कत्ता ।
भोत्ता सो पुण दुविहो, सिद्धो संसारिओ णाणा॥4॥

चौपाई

जीव अमूर्तिक देह प्रमाण, कर्त्ता भोक्ता चेतनवान।
सिद्ध संसारी दोय प्रकार, संसारी हैं बहु प्रकार॥

अन्वयार्थ - जीवो-जीव, **अमुत्तो**- अमूर्तिक, **सदेहमित्तो**- स्वदेह प्रमाण, **सचेयणा**-सचेतन, **कत्ता** -कर्त्ता, **भोत्ता**- भोक्ता है, **सो**- वह, **दुविहो**- दो प्रकार के हैं, **सिद्धो**-सिद्ध,**पुण संसारिओ**-और संसारी, **णाणा होई** - अनेक प्रकार के होते हैं।

भावार्थ -जीव अमूर्तिक, स्वदेह प्रमाण, सचेतन, कर्त्ता और भोक्ता है। जीव दो प्रकार के हैं- सिद्ध और संसारी। संसारी जीव अनेक प्रकार के हैं।

निश्चय से जीव का लक्षण (अमूर्तिकपना)

अरस-मरूव-मगंधं, अव्वत्तं चेयणागुण -मसद्दं।
जाण आलिंगग्गहणं, जीव-मणिदिट्ठ-संट्ठाणं॥5॥

चौपाई

रूप शब्द रस गंध विहीन, है अव्यक्त और लिंग हीन।
चेतन गुण युत आतम ज्ञान, होता अनिर्दिष्ट संस्थान॥

अन्वयार्थ - जीवम्-जीव को, **अरसं**- रस रहित, **अरूवं**- रूप रहित, **अगन्धं** -गंध रहित, **अव्वत्तं**- अव्यक्त, **चेयणागुणमसद्दं**- चेतन गुण युक्त, **आलिंगग्गहणं**- लिंग ग्रहण से रहित, **अणिदिट्ठ**- जो निर्दिष्ट नहीं है, **संट्ठाणं**- संस्थान, **जाण**- ऐसा जानो।

भावार्थ -जीव को रस रहित, रूप सहित, गंध रहित, अव्यक्त, शब्द रहित, आलिंगग्रहण (लिंग द्वारा जिसका ग्रहण न हो सके, ऐसा) अनिर्दिष्ट संस्थान जिसका आकार निश्चित नहीं है ऐसा जानो और चेतन गुण से युक्त जानना चाहिए।

पुद्गलकाय का लक्षण

वण्ण-रस-गंध-फासा, विज्जंते जस्स जिणवरुद्दिट्ठा।
मुत्तो पुग्गलकाओ, पुढवी पहुदी हु सो सोढा॥6॥

चौपाई

वर्ण गंध रस फास सुजान, मूर्तिक पुद्गल को पहिचान।
पृथ्वी आदिक के छह भेद, श्री जिनेन्द्र का यह निर्देश॥

अन्वयार्थ - जस्स वण्ण-जिसमें वर्ण, **रस**- रस, **गंध**- गंध, **फासा**- स्पर्श, **विज्जते सो**- विद्यमान हैं वे, **मुत्तो**- मूर्तिक, **पुग्गलकाओ**- पुद्गलकाय, **पुढवी पहुदी**- पृथ्वी आदि के, **सोढा** -छह भेद, **हु**- निश्चय से, **जिणवरुद्दिठा**- जिनेन्द्र देव ने कहे हैं।

भावार्थ -जिसमें वर्ण, रस, गंध और स्पर्श विद्यमान हैं वे मूर्तिक पुद्गलकाय पृथ्वी आदि के भेद से छः प्रकार का (बादर-बादर, बादर, बादर-सूक्ष्म, सूक्ष्म-बादर, सूक्ष्म, सूक्ष्म-सूक्ष्म) श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।

पुद्गलकाय के भेद (उदाहरण)

पुढवी जलं च छाया, चउरिंदिय-विसय कम्म परमाणु।
छव्विह भेयं भणियं पुग्गल-दव्वं जिणिंदेहिं॥7॥

चौपाई

पृथ्वी जल छाया अरु चार, इन्द्रिय विषय कर्म उरधार।
अणु सहित पुद्गल के भेद, श्री जिनवर कीन्हे निर्देश॥

अन्वयार्थ - पुढवी-पृथ्वी, **जलं**- जल, **छाया**- छाया, **चउरिंदयविसय**- चार इंद्रियों के विषय, **कम्म परमाणु**- कर्म एवं परमाणु, **च**- और, **पुग्गलदव्वं**- पुद्गल द्रव्य, **छव्विहभेयं**-छः प्रकार से, **जिणिंदेहिं**- जिनेन्द्र देव ने, **भणियं** - कहे हैं।

भावार्थ -पृथ्वी, जल, छाया, (नेत्रेन्द्रिय के अतिरिक्त) चार इंद्रियों के विषय, कर्मवर्गणा और परमाणु ये छः पुद्गल द्रव्य श्री जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं।

धर्म द्रव्य का लक्षण

गइपरिणयाण धम्मो, पुग्गल जीवाण गमण सहयारी।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई॥8॥

चौपाई

जीवाजीव को गति जो देय, धर्म द्रव्य जिनराज कहेय।
मछली को सहकारी तोय, बल से नहीं चलावे कोय॥

अन्वयार्थ - जह-जैसे, **गइपरिणयाण**- चलती हुई (गति परिणत), **मच्छाणं**- मछलियों को, **गमणसहयारी तोयं** - चलने में जल सहायक होता है, **तह**- उसी प्रकार चलते हुए, **पुग्गल जीवाण**- पुद्गल और जीव को, **गमण सहयारी**- चलने में सहायक, **धम्मो सो**- धर्म द्रव्य होता है किन्तु वह धर्म द्रव्य, **अच्छंता**- न चलते हुए जीव और पुद्गल को, **णेव णेई** - नहीं चलाता है।

भावार्थ -जैसे जल चलती हुई मछलियों को चलने में सहायक होता है उसी प्रकार धर्म द्रव्य गतिमान (चलते हुए) जीव और पुद्गल को चलने में सहायक होता है, ठहरे हुए को नहीं।

अधर्म द्रव्य का लक्षण

ठाणजुदाण अधम्मो, पुग्गल जीवाण ठाण सहयारी।
छाया जह पहियाणं, गच्छंता णेव सो धरई॥9॥

चौपाई

सहकारी चलने को होय, द्रव्य अधर्म कहा वह सोय।
जीवाजीव ज्यों छाया पाय, बलपूर्वक ना उसे रुकाय॥

अन्वयार्थ - जह छाया-जैसे छाया- **ठाण जुदाण**- ठहरते हुए, **पहियाणं**- राहगीरों को, पथिकों को, **ठाण सहयारी** - ठहरने में सहायक होती है, **तह**- उसी प्रकार, **पुग्गल जीवाण**- पुद्गल और जीव को, **अधम्मो**- अधर्म द्रव्य होता है किन्तु, **सो**- वह अधर्म द्रव्य, **गच्छंता**- चलते हुए जीव और पुद्गलों को, **णेव धरई** - नहीं ठहराता है।

भावार्थ -जैसे छाया ठहरते हुए राहगीरों को ठहरने में सहायता पहुँचाती है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य रुकते हुए जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायता पहुँचाती है। चलते हुए को नहीं।

आकाश द्रव्य का लक्षण और भेद

अवगासदाण जोग्गं, जीवादीणं वियाण आयासं।
जेण्हं लोगागासं, अल्लोगागास-मिदि दुविहं॥10॥

चौपाई

सब द्रव्यों को दे अवकाश, कहलाता है वह आकाश।
लोकाकाश आलोकाकाश, भेद कहे जिनवर यह खास॥

अन्वयार्थ - जीवादीणं- जीवादि समस्त द्रव्यों को, **अवगास**- अवकाश, **दाणजोग्गं**- देने योग्य, **जेण्हं**- जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया, **आयासं**- आकाश द्रव्य, **वियाण**- जानो तथा, **लोगागासं**- लोकाकाश, **अल्लोगागासं**- अलोकाकाश, **इदि**- इस प्रकार आकाश, **दुविहं** -दो प्रकार का है।

भावार्थ -जो जीवादि द्रव्यों को अवकाश देने वाला है वह आकाश द्रव्य है। लोकाकाश और अलोकाकाश के भेद से वह आकाश दो प्रकार का है। (छह द्रव्य युक्त लोकाकाश है इसके बाहर अलोकाकाश है)

व्यवहार और निश्चय काल का लक्षण

दव्व परियट्ट जादो, जो सो कालो हवेई ववहारो।
लोगागास पएसो, एक्केक्काणु य परमट्ठो॥11॥

चौपाई

द्रव्यों के परिणमन से होय, व्यवहार काल कहा वह सोय।
लोकाकाश प्रदेश पर जान, निश्चय काल उसे पहचान॥

अन्वयार्थ - जो- जो, **दव्व परियट्ट**- द्रव्यों के परिवर्तन से, **जादो**- उत्पन्न होता, **सो**-वह, **ववहारो कालो** - व्यवहार काल है, **य**- और, **लोगागासपएसो**- लोकाकाश के प्रदेशों पर स्थित, **एक्केक्काणु**- एक, एक कालाणु है, **से**- वह, **परमट्ठो**- परमार्थ (निश्चय) काल है।

भावार्थ -जो द्रव्यों के परिवर्तन में सहायक परिणाम आदि लक्षण वाला है वह व्यवहार काल है और वर्तना लक्षण वाला निश्चय काल है।

काल द्रव्य के प्रदेश

लोयायास पदेसे, इक्किक्के , जे ठिया हु एक्किक्का।
रयणाणं रासीमिव, ते कालाणू असंख दव्वाणि॥12॥

चौपाई

हर प्रदेश पर करके यत्न, कालाणू ठहरा ज्यों रत्न।
लोकाकाश में होते ज्ञात, कालाणू होते असंख्यात्॥

अन्वयार्थ - इक्किक्के - एक-एक, **लोयायासपदेसे**- लोकाकाश के प्रदेश पर, **जे रयणाणं**- जो रत्नों की, **रासमिव**- राशि के समान, **इक्किक्का**- एक-एक, **कालाणु**- काल द्रव्य के अणु, **ठिया ते हु**- स्थित हैं वे निश्चय से, **असंख्यदव्वाणि**- असंख्यात द्रव्यें हैं।

भावार्थ - जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान परस्पर भिन्न होकर एक-एक स्थित हैं वे कालाणू असंख्यात द्रव्यें हैं।

द्रव्यों का प्रदेश

संखातीदा जीवे, धम्माधम्मे अणंत आयासे।
संखादासंखदा, मुत्ति पदेसाउ संति णो काले॥13॥

चौपाई

धर्म अधर्म जीव तक अन्त, संख्यातीत आकाश अनन्त।
तिय विध पुद्गल द्रव्य के जान, विरहित काल प्रदेश सुजान॥

अन्वयार्थ - **जीवे**- एक जीव में, **धम्माधम्मे**- धर्म और अधर्म द्रव्य में, **संखातीदो**- असंख्यात, असंख्यात, **आयासे**- आकाश द्रव्य में, **अणंत**- अनंत, **मुत्ति**- मूर्तिक, **संखादासंखादा**-संख्यात असंख्यात (अनंत), **प्रदेशा**- प्रदेश होते हैं, **काले**- काल द्रव्य में प्रदेश, **णो संति**- नहीं होते (बहु प्रदेशी नहीं होता)

भावार्थ - एक जीव द्रव्य में, धर्म द्रव्य में और अधर्म द्रव्य में असंख्यात-असंख्यात प्रदेश हैं। आकाश द्रव्य में अनंत प्रदेश हैं, पुद्गल में संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश हैं काल दव्य में प्रदेश नहीं हैं, (वह कालाणू एक प्रदेश है, उसमें शक्ति अथवा व्यक्ति की अपेक्षा से बहुप्रदेशीपना नहीं है।)

प्रदेश का लक्षण

जावदियं आयासं, अविभागी पुग्गलाणु उट्टद्धं।
तं खु पदेसं जाणे, सव्वाणु-ट्ठाण दाणरिहं॥14॥

चौपाई

गगन में अणु रुकता है एक, जिनवर कहते उसे प्रदेश।
एक प्रदेश का वह आकाश, कई अणुओं को दे अवकाश॥

अन्वयार्थ - **जावदियं**- जितना, **आयासं**- आकाश, **अविभागी**- एक अविभागी, **पुग्गलाणुउट्ठद्धं**- पुद्गल परमाणु से व्याप्त हो, **तं खु**- उसे निश्चय से, **सव्वाणुठाण**- समस्त अणुओं को स्थान, **दाणरिहं**- देने में समर्थ, **पदेशं**- प्रदेश, **जाणे**-जानो।

भावार्थ - जितना आकाश अविभागी पुद्गल परमाणु से व्याप्त (घेरा जाता) होता है। उसे सब परमाणुओं को स्थान देने में समर्थ 'प्रदेश' जानना चाहिए।

द्रव्यों में चेतन अचेतनपना

जीवो णाणी पुग्गल, धम्माधम्मायासा तहेव कालो य।
अज्जीवा जिणभणिओ, ण हु मण्णइ जो हु सो मिच्छो॥15॥

चौपाई

ज्ञानवान होता है जीव, शेष द्रव्य कहलाएँ अजीव।
इस प्रकार कहते जिनदेव!, जो ना माने मूढ़ सदैव॥

अन्वयार्थ - **जीवो णाणी**, जीव ज्ञानी है, **पुग्गल**- पुद्गल, **धम्माधम्मायासा** - धर्म, अधर्म और आकाश, **या कालो**- और काल, **अज्जीवा**- अजीव हैं, **जिणभणिओ**- जिनेन्द्र देव ने ऐसा कहा है, **जो हु**- जो ऐसा, **ण मण्णइ सो**- नहीं मानता वह, **मिच्छाइट्ठी**- मिथ्यादृष्टि, **अस्ति**- है।

भावार्थ - जीव ज्ञानी है, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अजीव हैं। इस प्रकार श्री जिनेन्द्र ने कहा है जो ऐसा नहीं मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

आस्रव और बंध का लक्षण

मिच्छत्तं हिंसाई, कसाय जोगा य आसवो बंधो।
सकसाई जं जीवो, परिगिण्हइ पोग्गलं विविहं॥16॥

चौपाई

हिंसादिक मिथ्यात्व कषाय, योगों से आस्रव हो जाए।
जीव कषाय सहित जो सोय, कर्मबंध पुद्गल से होय॥

अन्वयार्थ - **मिच्छत्तं**- मिथ्यात्व, **हिंसाई**- हिंसा आदि, **कसाय**- कषाय, **जोगा य**- और योग से, **आसवो**- आस्रव होता है, **जं जीवो**- जो जीव, **सकसाई**- कषाय सहित, **विविहं**- विविध प्रकार, **पोग्गलं**- कर्म पुद्गलों को, **परिगिण्हइ**- ग्रहण करता है, **बंधो अस्ति**- वह बंध है।

भावार्थ - मिथ्यात्व हिंसा आदि (अव्रत) कषाय और योगों से आस्रव होता है। कषाय सहित जीव विविध प्रकार के जिन कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बंध है।

संवर और निर्जरा का लक्षण भेद

मिच्छत्ताई चाओ, संवर जिण भणइ णिज्जरादेसे।
कम्माण खओ सो पुण, अहिलसिओ अणहिलसिओ य॥17॥

चौपाई

मिथ्यात्वादि रोध से संवर, एक देश क्षय से हो निर्जर।
अभिलाषा युत होय सकाम, बिन अभिलाषा होय अकाम॥

अन्वयार्थ - **जिण**- जिनेन्द्र देव ने, **मिच्छत्ताईचाओ**- मिथ्यात्व आदि त्याग को, **संवर**-संवर **भणइ**-कहा है, **कम्माण देस**- कर्मों का एक देश, **खओ**-

क्षय, **णिज्जरा**- निर्जरा कही है, **सो पुण**- वह पुनः, **अहिलसिओ**- अभिलाषा सहित (सकाम) और, **अणहिलसिओ**- अभिलाषा रहित (अकाम) दो प्रकार की है।

भावार्थ - श्री जिनेन्द्र देव ने मिथ्यात्व आदि के त्याग को संवर कहा है, कर्मों का एक देश क्षय निर्जरा है। वह निर्जरा अभिलाषा सहित (सकाम) और अभिलाषा रहित (अकाम) दो प्रकार की है।

मोक्ष का लक्षण

कम्म बंधण बद्धस्स, सब्भूदस्संत-रप्पणो।
पुण्णं तित्थयरादी, अण्णं पावं तु आगमे॥18॥

चौपाई

साता गोत्र आयु शुभ नाम, तीर्थंकर प्रकृति परिणाम।
पुण्य प्रकृतियाँ कहीं विशेष, पाप रूप हैं सभी अशेष॥

अन्वयार्थ - **सादाऽऽउ**- साता वेदनीय शुभ आयु, **णामगोदाणं**- शुभ नाम और गोत्र, **तित्थयरादी**- तीर्थंकर आदि, **पुण्णं**- पुण्य, **पयडीओ**- प्रकृतियाँ, **हवे**- हैं, **तु अण्णं**- और शेष, **पावं**- पाप प्रकृतियाँ, **आगमे**- आगम में, **भणियं**- कही हैं।

भावार्थ - साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र, तीर्थंकर आदि प्रकृतियाँ पुण्य प्रकृतियाँ हैं, शेष पाप प्रकृतियाँ हैं, इस प्रकार परमागम में कहा है।

उत्पाद व्यय और धौव्य

णासइ णर पज्जाओ, उप्पज्जइ देव पज्जओ तत्थ।
जीवो स एव सव्वस्स, भंगुप्पाया धुवा एवं॥19॥

चौपाई

नर पर्याय ज्यों होय विनाश, देव सुगति में हो उत्पाद।
सब द्रव्यों में भंगुत्पाद, ध्रौव्य सुजीव होय विख्यात॥

अन्वयार्थ - **णरपज्जाओ**- नर पर्याय का, **णासइ**- नष्ट होना, **देव पज्जओ**- देव पर्याय का, **उप्पज्जइ**- उत्पाद होना, **तत्थ**- उस समय, **जीवो**- जीव,

एव- वही रहता है, **एवम्**- इस प्रकार, **सव्वस्स**- सभी द्रव्यों में, **भंगुप्पाया**- व्यय, उत्पाद, **धुवा**- ध्रौव्य होता है।

भावार्थ - मनुष्य पर्याय नष्ट होती है, देव पर्याय उत्पन्न होती है और जीव वहीं का वहीं रहता है। इस प्रकार सभी द्रव्यों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता है।

वस्तु का नित्य और अनित्यपना

उत्पादप्पद्धंसा, वत्थूणं होंति पज्जय-णयेण (णएण)।
दव्वट्ठिएण णिच्चा, बोधव्वा सव्व जिणवुत्ता॥20॥

चौपाई

भंग उत्पाद पर्याय में होय, वस्तु द्रव्य से नित्य है सोय।
श्री सर्वज्ञ प्रभू जिनदेव! 'विशद' कथन युत कहें सदैव॥

अन्वयार्थ - **वत्थूणं**- वस्तु में, **उत्पादप्पद्धंसा**- उत्पाद व्यय, **पज्जय णयेण**- पर्याय नय से, **होंति**- होता है, **दव्वट्ठिएण**- द्रव्य दृष्टि से, **णिच्चा**- वस्तु नित्य, **बोधव्वा**- जानना चाहिए, **सव्वजिणवुत्ता**- ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

भावार्थ - वस्तु में उत्पाद और व्यय पर्यायनय से होता है। द्रव्य दृष्टि से वस्तु नित्य है, ऐसा जानना चाहिए श्री सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ने ऐसा ही कहा है।

राग द्वेष त्याग का निर्देश

एवं अहिगयसुत्तो, सट्ठाणजुदो मणो णिरुंभिता ।
छंडउ रायं रोसं, जइ इच्छइ कम्मणो णासं (णास)॥21॥

चौपाई

कर्मनाश की हो यदि चाह, तो आतम में कर अवगाह।
मन स्थिर कर निज में लीन, रागद्वेष से होय विहीन॥

अन्वयार्थ - **जइ**- यदि, **कम्मणो णासं**- कर्म नाश की, **इच्छइ**- इच्छा है तो, **अहिगयसुत्तो**- सूत्र के ज्ञाता होकर, **एवं**- और **सट्ठाणजुदो**-स्वयं में स्थित हो, **मणो**- मन को, **णिरुंभिता**- रोककर, **रायं रोसं**- रागद्वेष को, **छंडउ**- छोड़ो।

भावार्थ - यदि कर्मों का नाश करना चाहते हो तो सूत्र के ज्ञाता होकर, स्वयं

में स्थित होकर तथा मन को रोककर राग और द्वेष को छोड़ो।

आत्मध्यान का फल

विसएषु पवट्टंतं, चित्तं धारेत्तु अप्पणो अप्पा।
झायइ अप्पाणमिणं, जो सो पावेइ खलु सेयं ॥22॥

चौपाई

जीव विषय में रत जो होय, फिर भी मन को रोके सोय।
निज आतम से आतम ध्यान, करके सुख पावे विद्वान॥

अन्वयार्थ - **जो अप्पा**- जो आत्मा, **विसएषु**- विषयों में, **पवट्टंतं**- प्रवर्तमान होते, **चित्तं**- चित्त को (मन को), **धारेत्तु**- रोककर, **अप्पणो**- आत्मा का, **अप्पाण मिणं**- आत्मा द्वारा, **झायइ**- ध्यान करता है, **सो खलु**- वह वास्तविक, **सेयम**- श्रेय (सुख) **पावेई**- प्राप्त करता है।

भावार्थ - जो आत्मा विषयों में प्रवर्तते हुए भी मन को रोककर, अपने आत्मा को आत्मा के द्वारा ध्यान करता है, वह वास्तव में सुख प्राप्त करता है।

मोह विजयी साधु को नमन्

सम्मं जीवादीया, णच्चा सम्मं सुकित्तिदा जेहिं।
मोहगय केसरीणं, णमो-णमो ठाण साहूणं ॥23॥

चौपाई

जीवादिक का भली प्रकार, वर्णन किया है तत्त्व विचार।
मोह रूप गज को सिंह संत, विशद संत पद नमन अनन्त॥

अन्वयार्थ - **जीवादीया**- जीवादिक को, **सम्मं**- सम्यक् प्रकार से, **णच्चा**- जानकर, **जेहिं**- जिन्होंने, **सम्मं सुकित्तिदा**- यथार्थ वर्णन किया, **मोहगय**- मोहरूप हाथी के लिए, **केसरीणं**- जो सिंह के, **ठाण**- समान हैं, **साहूणं**- उन साधुओं को, **णमो-णमो**-नमस्कार हो, नमस्कार हो।

भावार्थ - जीवादिक तत्त्वों को सम्यक् प्रकार से जानकर जिन्होंने उन जीवादि पदार्थों का यथार्थ वर्णन किया है, जो मोहरूपी हाथी के लिए केसरी (सिंह) के समान हैं उन साधुओं को हमारा नमस्कार हो नमस्कार हो।

ग्रंथ लेखन का निमित्त

सोमच्छलेण रइया, पयत्थ-लक्खण कराउ गाहाओ।
भव्वुवयार णिमित्तं, गणिणा सिरि णेमिचंदेण ॥24॥

चौपाई

सोम श्रेष्ठि का ले आधार, भवि जीवों का हो उपकार।
गाथाएँ गणि नेमीचंद, रचे पदार्थ के लक्षण वंत॥

अन्वयार्थ - **सोमच्छलेण**- श्री सोम श्रेष्ठि के लक्ष्य से, **भव्वुवयार**- भव्व जीवों के उपकार के, **णिमित्तं** - निमित्त से, **सिरि णेमिचंदेण**- श्री नेमिचंद, **गणिणा**- गणी (आचार्य) ने, **पयत्थ**- पदार्थों के, **लक्खण**-लक्षण, **कराउ**- करने वाली, **गाहाओ**- गाथाएँ, **रइया**- रची हैं।

भावार्थ - श्री सोम श्रेष्ठी के निमित्त से तथा जीवों के उपकार के लिए श्री नेमिचंद गणि आचार्य देव ने पदार्थों के लक्षण बतलाने वाली विशद गाथायें रची हैं।

॥ इति समाप्तम॥

छियालीस मुलगुणों को पाते, अनन्त चतुष्टय के धारी।
ऋषभादिक चौबीस जिनेश्वर, रहे लोक में अविकारी॥
काल अनादी मैट रहे हैं, भवि जीवों केा विशद भ्रमण।
ऐसे श्री महावीर प्रभु पद, मेरा बारम्बार नमन॥

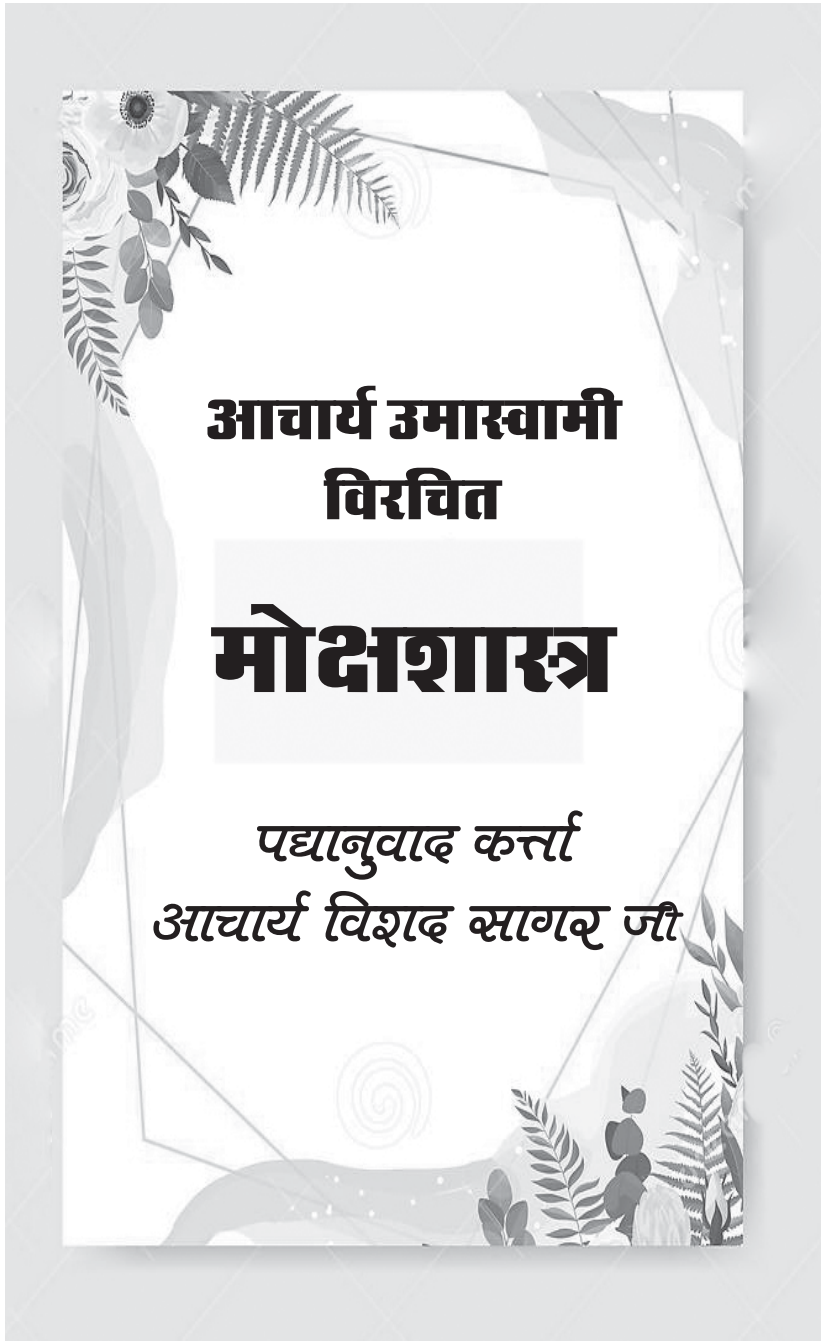

आचार्य उमास्वामी जी

दोहा - उमास्वामी ऋषिराज ने, किया विशद उपकार।
रचे ग्रन्थ मोक्ष शास्त्र यह, वन्दन बारम्बार ॥

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के प्रणेता श्री उमास्वामी जी आचार्य के जीवन परिचय का कुछ विशेष पता नही मिलता। वे कुन्दकुन्दाचार्य के पट्टशिष्य थे। उनकी परम्परा में आपके समान अन्य विद्वान शिष्य मण्डली में नहीं था । आपने 18 वर्ष की अवस्था में मुनि दीक्षा ली। 25 वर्ष बाद आचार्य पद का लाभ मिला। आप 40 वर्ष 8 दिन आचार्य पद पर रहे। कुल आयु आपकी 84 वर्ष की थी। आप समन्तभद्र से पूर्व प्रथम शताब्दी के विद्वान आचार्य थे ।

आप अनेक ऋद्धियों से सम्पन्न थे। आपके शरीर के स्पर्शमात्र से पवित्र वायु हालाहल विष को भी अमृत बना देता था, आप अपनी ऋद्धि के प्रभाव से आकाश में चला करते थे । एक बार मयूर पिच्छ गिर जाने पर प्राणिरक्षा की शुभ भावना से आपने गिद्ध के पंखों से पीच्छी का काम चलाया था जिससे आप 'ग्रद्ध पिच्छ' कहे जाने लगे थे । लिखा भी है -

'तत्त्वार्थसूत्र कर्तारं, ग्रद्ध पिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्र संजात-मुमास्वामी मुनीश्वरम् ॥

रचना के विषय में कहा गया है कि सौराष्ट्र प्रान्त में ऊर्जयन्त गिरि के निकट गिरनार नगर में आसन्न भव्य, स्वहितार्थी द्वैपायक ब्राह्मण नामक एक विद्वान था । उसने ''दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः'' सूत्र बनाया और एक पटिये पर लिख छोड़ा चर्या से लौटने के बाद एक दिन श्री उमास्वामी जी, मुनिराज की दृष्टि उस पटिये पर पड़ी। तब आपने उस सूत्र में 'सम्यक्' शब्द जोड़ दिया ।

जब वह द्वैपायक अपने घर आया और उसने उस सूत्र में 'सम्यक्' शब्द जुड़ा देखा तो उसका अर्थ लगाया तब प्रसन्न होकर अपनी माता से पूछा कि, किन महानुभाव ने यह शब्द जोड़ा है ? माता ने उत्तर दिया कि एक निर्ग्रन्थाचार्य ने यह शब्द जोड़ा है । तब वह तलाशता हुआ उनके स्थल पर पहुँचा और भक्तिभाव से नम्रीभूत होकर वन्दना करके उक्त मुनिराज से पूछने लगा कि आत्मा का हित क्या है ? मुनिराज ने कहा 'मोक्ष' है । इस पर मोक्ष का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय पूछा गया जिसके उत्तर में ही इस ग्रन्थ का अवतार हुआ है । इसी कारण इस ग्रन्थ का अपरनाम 'मोक्षशास्त्र' भी है । श्वेताम्बर मत के अनुसार उनकी माँ का नाम उमा एवं पिता का नाम स्वाति था दोनों के मिलाने पर 'उमास्वाति' पड़ा कुछ समय बाद परिवर्तित नाम उमा स्वामी प्रचलित हो गया।

मोक्षशास्त्र सटीक

(तत्त्वार्थसूत्र सार्थ)

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं, नवपदसहितं जीव षट्काय लेश्याः,[1]
पञ्चान्ये चास्तिकाया, व्रतसमितिगति-ज्ञानचारित्रभेदाः ।
इत्येतन्मोक्ष मूलं, त्रिभुवन महितैः प्रोक्त मर्हद्भि-रीशैः,
[1]प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः॥

अर्थः- तीन काल, छह द्रव्य, नव पदार्थ, छहकाय, छह लेश्या, पाँच अस्तिकाय, पाँच व्रत, पाँच समिति, गति, पाँच ज्ञान और पाँच चारित्र भेद रूप ये सब मोक्ष के मूल हैं, ऐसा तीनों लोकों के पूज्य अर्हन्त भगवान के द्वारा कहा गया है। जो बुद्धिमान इनकी प्रतीति करता है, श्रद्धान करता है और स्पर्श करता है। इनके नजदीक जाता है वह निश्चय से शुद्ध दृष्टि है।

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणाफलं पत्ते ।
वंदित्ता अरहंते, वोच्छं आराहणा कमसो ॥

अर्थः- जगत में प्रसिद्ध चार प्रकार की आराधना के फल को प्राप्त सिद्धों और अर्हन्तों को नमस्कार करके क्रम से आराधना को कहूँगा।

उज्जोवण-मुज्जवणं, णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं ।
दंसण-णाण-चरित्तं, तवाण-माराहणा भणिया ॥

अर्थः- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चारों का यथायोग्य रीति से उद्यवन करना, उसमें परिणति करना, इनको दृढ़ता पूर्वक धारण करना, उसके मंद पड़ जाने पर पुनः पुनः जागृत करना उनका आमरण पालन करना सो (निश्चय) आराधना कहलाती है।

१. सौधर्म इन्द्र का बटुक के भेष में इन्द्रभूति गौतम से पूँछा गया था यह प्रश्न जब गौतम को उत्तर नहीं सूझा तो गौतम ने कहा था मैं तुम्हारे गुरु (महावीर) के पास जाकर उत्तर दूँगा वहाँ जाकर मानस्तंभ के दर्शन करते ही सम्यक्त्वी हो गया।

प्रथम अध्याय - मङ्गलाचरण

मोक्षमार्गस्य [1]नेतारं, भेत्तारं [2]कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये॥

अर्थः- मैं मोक्षमार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतों के भेदन करने वाले और समस्त तत्त्वों को जानने वाले आप्त को उनके गुणों की प्राप्ति के लिये वन्दना करता हूँ ''विशद'' नमस्कार करता हूँ ।

विशेषः- यद्यपि इस श्लोक में विशेष्य-आप्तका निर्देश नहीं किया गया है तथापि विशेषणों द्वारा उसका बोध हो जाता है, क्योंकि मोक्षमार्ग का नेतृत्व, कर्मरूपी पर्वतों का भेतृत्व और समस्त तत्त्वों का ज्ञातृत्व आप्त अर्थात् अर्हंत देव में ही संभव होता है। यहाँ विशेष्य का उल्लेख न कर मात्र विशेषणों का निर्देश कर वन्दना करने वाले आचार्य ने अपना यह अभिप्राय प्रकट किया है कि मैं व्यक्ति विशेष का पूजक न होकर गुणों का पूजक हूँ जिसमें मोक्षमार्ग का नेतृत्व-हितोपदेशीपना, कर्मभूभृद्भेत्तृत्व-वीतरागता और विश्वतत्त्वज्ञातृत्व-सर्वज्ञता ये तीन गुण हों, मैं उसी का पूजक हूँ, वही मेरा आराध्य देव है। राग-द्वेष आदि रहित, सर्वज्ञ और हितोपदेशी ही आप्त हो सकता है।

मोक्षप्राप्ति का उपाय

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः[3] ॥१॥

अर्थः- **(सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर **(मोक्षमार्गः)** मोक्ष का मार्ग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के उपाय हैं।

सम्यग्ज्ञान- [4]संशय, [5]विपर्यय और [6]अनध्यवसाय रहित जीवादि पदार्थों का जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सम्यक्चारित्रः- मिथ्यादर्शन, कषाय तथा हिंसा आदि संसार के कारणों से विरक्त होना सम्यक्चारित्र कहलाता है। सम्यग्दर्शन का लक्षण आगे के सूत्र में कहते हैं॥

१. जो स्वयं मार्ग पर चलकर अन्य पुरुषों को मार्ग प्रदर्शित करता है वह नेता कहलाता है।
२. इष्टसिद्धि में पर्वतों के समान बाधक होने के कारण कर्मों में पर्वतों का आरोप किया गया है।
३. 'मोक्षमार्गः', इस पद में व्याकरण के नियम के अनुसार बहुवचन होना चाहिये था पर आचार्य ने एकवचन ही रखा है इससे सूचित होता है कि सम्यक्दर्शन आदि तीनों का मिलना ही मोक्ष का मार्ग है।
४. अनिश्चित ज्ञान, जैसे यह सीप है या चाँदी। ५. उल्टा ज्ञान, जैसे रस्सी में साँप का ज्ञान।
६. अनिश्चित तथा विकल्परहित ज्ञान, जैसे चलते समय पावों से छुए हुए पत्थर वगैरह में 'कुछ हैं' इस प्रकार का ज्ञान।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

अर्थः- (**तत्त्वार्थश्रद्धानम्**) तत्त्व-वस्तु के यथार्थ स्वरूप सहित अर्थ (मोक्ष मार्ग में कारणभूत) जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना (**सम्यग्दर्शनम्**) सम्यग्दर्शन है। सम्यक्-अर्थात् समीचीन, यथार्थ, सत्यार्थ।

भावार्थः- मोक्ष मार्ग में कारण भूत जीव आदि सात तत्त्वों का जैसा स्वरूप वीतराग-सर्वज्ञ भगवान ने कहा है उसका उसी प्रकार श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के, उत्पत्ति की अपेक्षा भेद

तन्निसर्गा-दधिगमाद्-वा ॥३॥

अर्थः- (**तत्**) वह सम्यग्दर्शन (**निसर्गात्**) स्वभावसे (**वा**) अथवा (**अधिगमात्**) परके उपदेश आदिसे (**उत्पद्यते**) उत्पन्न होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के, उत्पत्ति की अपेक्षा दो भेद हैं-

निसर्गजः- जो पर उपदेश के बिना (**पूर्वभव के संस्कार से**) उत्पन्न हो उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अधिगमजः- जो पर के उपदेश आदि से होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

तत्त्वों के नाम

जीवाऽजीवाऽस्रव-बंध-संवर-निर्जरा मोक्षास्तत्त्वम्॥४॥

अर्थः- (**जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः**) जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात (**तत्त्वम्**) तत्त्व (**सन्ति**) हैं।

इन्हीं सात तत्त्वों में पुण्य और पाप मिला देने से ९ पदार्थ हो जाते हैं। यहाँ आस्रव और बन्ध में अन्तर्भाव हो जाने से अलग कथन नहीं किया गया है।

जीव :- जिसमें ज्ञानदर्शनरूप चेतना पाई जावे उसे जीव कहते हैं।

अजीव :- जिसमें चेतना न पाई जावे उसे अजीव कहते हैं।

आस्रव :- बन्ध के कारण को आस्रव कहते हैं।

बन्धः- आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्मों का दूध-पानी की तरह मिल जाना बन्ध है।

१. उक्त दोनों भेदों में मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्त्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्ध क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात कर्म प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम का होना आवश्यक है।

२. इन्हीं सात तत्त्वों में पुण्य और पाप मिला देने से नौ पदार्थ हो जाते हैं। यहाँ आस्रव और बन्ध में अन्तर्भाव हो जाने से अलग कथन नहीं किया गया है।

संवर :- आस्रव के रुकने को संवर कहते हैं।

निर्जरा :- आत्म प्रदेशों में बँधे हुए कर्मों का एकदेश पृथक होना निर्जरा है।

मोक्षः- समस्त कर्मों के बिल्कुल क्षय हो जाने को मोक्ष कहते हैं।

सात तत्त्व तथा सम्यग्दर्शन आदि के व्यवहार के कारण

नाम स्थापना द्रव्य भावतस्-तन्न्यासः ॥५॥

अर्थः- (**नामस्थापनाद्रव्यभावतः**) नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से (**तन्न्यासः**) उन सात तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शन आदिका लोकव्यवहार (**भवति**) होता है। नाम आदि चार पदार्थ ही चार निक्षेप कहलाते हैं।

निक्षेपः- प्रमाण और नय के अनुसार प्रचलित लोक व्यवहार को निक्षेप कहते हैं।

(**१**) **नामनिक्षेप :**- गुण, जाति, द्रव्य और क्रिया की अपेक्षा के बिना ही इच्छानुसार किसी का नाम रखने को नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे किसी का नाम 'जिनदत्त' है। यद्यपि वह जिनदेव द्वारा नहीं दिया गया है तथापि लोकव्यवहार चलाने के लिये उसका जिनदत्त नाम रख लिया गया है।

(**२**) **स्थापनानिक्षेप :**- धातु, काष्ठ, पाषाण आदि की प्रतिमा तथा अन्य पदार्थों में 'यह वह है' इस प्रकार की कल्पना करना स्थापनानिक्षेप है। इसके दो भेद हैं- (१) तदाकार स्थापना और (२) अतदाकार स्थापना। जिस पदार्थ का जैसा आकार है उसमें उसी आकारवाले की कल्पना करना **तदाकार** स्थापना है-जैसे- पार्श्वनाथ की प्रतिमा में पार्श्वनाथ की कल्पना करना और भिन्न आकार वाले पदार्थों में किसी भिन्न आकार वाले की कल्पना करना **अतदाकार** स्थापना है। जैसे शतरंज की गोटों में बादशाह, वजीर वगैरह की कल्पना करना[१]। अथवा धरणेन्द्र और क्षेत्रपाल की स्थापना।

(**३**) **द्रव्यनिक्षेपः**- भूत, भविष्यत् पर्याय की मुख्यता लेकर वर्तमान में कहना सो द्रव्यनिक्षेप है। जैसे- पहले कभी पूजा करने वाले पुरुष को वर्तमान में पुजारी कहना और भविष्य में राजा होने वाले राजपुत्र को राजा कहना।

(**४**) **भावनिक्षेपः**- वर्तमान पर्याय की मुख्यता से अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसको उसी रूप कहना भावनिक्षेप है। **जैसे**-काष्ठ को काष्ठ अवस्था में काष्ठ, आग होने पर आग और कोयला हो जाने पर कोयला॥ अथवा राज्य अवस्था में

१. नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेप में अन्तर- नामनिक्षेप में पूज्य-अपूज्यका व्यवहार नहीं होता, परन्तु स्थापनानिक्षेप में पूज्य-अपूज्यका व्यवहार होता है।

रहने वाले को राजा कहना।

सम्यग्दर्शन आदि तथा तत्त्वों के जानने के उपाय

प्रमाण-नयै-रधिगमः ॥६॥

अर्थः- **सम्यग्दर्शन** आदि रत्नत्रय और **जीव आदि** तत्त्वों का **(अधिगमः)** ज्ञान **(प्रमाणनयैः)** प्रमाण और नयों से **(भवति)** होता है।

प्रमाणः- जो पदार्थ के सर्वदेश (सर्व अवस्थायों) को ग्रहण करे उसे प्रमाण कहते हैं। इसके दो भेद हैं।

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण- आत्मा जिस ज्ञान के द्वारा किसी बाह्य निमित्त की सहायता के बिना ही पदार्थों को स्पष्ट जाने उसे प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं, **(२) परोक्ष प्रमाण** - इन्द्रिय और मन तथा प्रकाश आदि की सहायता से पदार्थों को एक-देश जाने उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

नयः- जो पदार्थ के एकदेश को विषय करे-जाने उसे नय कहते हैं। इसके दो भेद हैं- **(१) द्रव्यार्थिक नय**- जो मुख्य रूप से द्रव्य को विषय करे उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। **(२) पर्यायार्थिक नय**- जो मुख्य रूप से पर्याय को विषय करे उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

निर्देश स्वामित्व साधनाधिकरण स्थिति विधानतः ॥७॥

अर्थः- निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इनसे भी जीवादिक तत्त्व तथा सम्यग्दर्शन आदि गुणों का व्यवहार होता है।

निर्देशः- वस्तु के स्वरूप का कथन करना सो निर्देश है।

स्वामित्वः- वस्तु के अधिकार को स्वामित्व कहते हैं।

साधनः- वस्तु की उत्पत्ति के कारण को साधन कहते हैं।

साधन के दो भेद है :- अन्तरंङ्ग और बाह्य।

दर्शन मोह के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम को **अंतरंग साधन** कहते हैं। यह सबके एक सा होता है। **बाह्य साधन** कई प्रकार का होता है जैसे **नरक गति** में तीसरे नरक तक 'जाति स्मरण' , 'धर्मश्रवण' और 'वेदनाअनुभव' ये तीन साधन हैं। **देव गति** में बारहवें स्वर्ग तक 'जाति स्मरण', 'धर्मश्रवण', 'जिन कल्याणक दर्शन और 'देवर्द्धिदर्शन' ये चार, इसके आगे सोलहवें स्वर्ग तक 'देवर्द्धिदर्शन' को छोड़कर तीन तथा नवग्रैवेयकों में 'जाति स्मरण' और 'धर्मश्रवण' ये दो साधन हैं। इसके आगे सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं।

अधिकरणः- वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं। अधिकरण के दो भेद हैं:- १. आभ्यंतर और २. बाह्य। सम्यग्दर्शन का **आभ्यन्तर अधिकरण** आत्मा है और **बाह्य अधिकरण** एक राजू चौड़ी और चौदह राजू लम्बी त्रसनाड़ी है।

स्थितिः- वस्तु के काल की अवधि को स्थिति कहते हैं। तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है तथा औपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त है। क्षायोपशमिक की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर और क्षायिक की संसार में रहने की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर तथा अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम दो कोटि वर्ष पूर्व की है। इसी तरह सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र तथा जीव आदि तत्त्वों का भी वर्णन यथायोग्य रूप से लगा लेना चाहिये।

विधानः- वस्तु के प्रकार, भेदों को विधान कहते हैं। सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं- १. औपशमिक, २. क्षायोपशमिक और ३. क्षायिक।

सत्संख्या क्षेत्र स्पर्शन कालान्तर भावाल्पबहुत्त्वैश्च ॥८॥

अर्थः- **(च)** और सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी पदार्थ का ज्ञान [भवति] होता है।

सत्ः- वस्तु के अस्तित्व को सत् कहते हैं।

संख्याः- वस्तु के परिणामों की गिनती को संख्या कहते हैं।

क्षेत्रः- वस्तु के वर्तमान काल के निवास को क्षेत्र कहते हैं।

स्पर्शनः- वस्तु के तीनों काल संबंधी निवास को स्पर्शन कहते हैं।

कालः- वस्तु के ठहरने की मर्यादा को काल कहते हैं।

अन्तरः- वस्तु के विरहकाल को अन्तर कहते हैं।

भावः- औपशमिक, क्षायिक आदि परिणामों को भाव कहते हैं।

अल्पबहुत्वः- अन्य पदार्थों की अपेक्षा किसी वस्तु की हीनाधिकता वर्णन करने को अल्पबहुत्व कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान का वर्णन, ज्ञान के भेद और नाम

मति श्रुतावधि मनःपर्यय केवलानि ज्ञानम् ॥९॥

अर्थः- **(मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि)** मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच प्रकार के **(ज्ञानं)** ज्ञान [सन्ति] हैं।

मतिज्ञान :- जो पाँच इन्द्रियों और मन की सहायता से पदार्थ को जाने उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान :- जो पाँच इन्द्रियों और मनकी सहायता से मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञानः- जो इन्द्रियों की सहायता के बिना ही रूपी पदार्थों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुये स्पष्ट जाने उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञानः- जो किसी की सहायता के बिना ही अन्य पुरुष के मन में स्थित, रूपी पदार्थों को स्पष्ट जाने उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान :- जो सब द्रव्यों तथा उनकी सब पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जाने उसे केवलज्ञान कहते हैं।

प्रमाण का लक्षण और भेद

तत्प्रमाणे ॥१०॥

अर्थः- (**तत्**) ऊपर कहा हुआ पाँच प्रकार का ज्ञान ही (**प्रमाणे**) प्रमाण [**अस्ति**] है।

भावार्थः- सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। उसके दो भेद हैं - १. प्रत्यक्ष, २. परोक्ष

सामव्यवहारिक प्रत्यक्ष - जो इन्द्रिय और मन की सहायता से जाना जाए।

आगम प्रत्यक्ष- जो इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जाना जाए आगम प्रत्यक्ष।

परोक्षप्रमाण के भेद

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

अर्थः- (**आद्ये**) आदि के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान (**परोक्षम्**) परोक्ष प्रमाण [**स्तः**] हैं। जो किसी सहायता से वस्तु को विषय करते हैं।

प्रत्यक्षप्रमाण के भेद

प्रत्यक्ष मन्यत् ॥१२॥

अर्थः- (**अन्यत्**) शेष तीन अर्थात् अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान (**प्रत्यक्षम्**) प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान **एक देश प्रत्यक्ष** है केवल ज्ञान **सकल प्रत्यक्ष** है।

मतिज्ञान के दूसरे नाम

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

अर्थः- मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इत्यादि अन्य नहीं हैं अर्थात् मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं।

मतिः- मन और इन्द्रियों से वर्तमानकाल के पदार्थों का जानना मति है।

'मननं मतिः'

स्मृतिः- पहले जाने हुए, पदार्थ का वर्तमान में स्मरण आने को स्मृति कहते हैं।

'स्मरणं स्मृतिः'

संज्ञाः- वर्तमान में किसी पदार्थ को देखकर 'यह वही है' इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़रूप ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। इसी का दूसरा नाम 'प्रत्यभिज्ञान' है।

चिन्ता :- 'जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है-जैसे 'रसोईघर'। इस प्रकार के व्याप्ति ज्ञान को चिन्ता कहते हैं।

अभिनिबोधः- साधन से साध्य का ज्ञान होने को अभिनिबोध कहते हैं-जैसे- 'उस पहाड़ में अग्नि है, क्योंकि उस पर धूम है' इसी का दूसरा नाम 'अनुमान' है[१]।

मतिज्ञान की उत्पत्ति का कारण और स्वरूप

तदिन्द्रियाऽनिन्द्रिय निमित्तम् ॥१४॥

अर्थः- (**तत्**) वह मतिज्ञान (**इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्**) पाँच इन्द्रिय और मनके निमित्त से होता है। वस्तु को जानता है।

मतिज्ञान के भेद

अवग्रहे-हाऽवाय धारणाः ॥१५॥

अर्थः- मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं।

अवग्रह- दर्शन[२] के बाद शुक्ल, कृष्ण आदि रूपविशेषका ज्ञान होना अवग्रह है। फिर भी समझने के लिए रास्ते में चलते हुए पैर में कुछ चुभने पर मन में भाव आया कुछ है इस प्रकार की भावना अवग्रह। अनिर्णीत ज्ञान अवग्रह है।

ईहा- अवग्रह के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानने की चेष्टा करना ईहा है। जैसे- वह शुक्लरूप बगुला है या पताका। ईहा ज्ञान को 'यह चाँदी है या सीप' इत्यादि की तरह संशयरूप नहीं समझना चाहिये, क्योंकि संशय में अनिश्चित अनेक कोटियों का अवलम्बन रहता है जो कि यहाँ नहीं है यहाँ बगुला का और पताका का कथन दो उदाहरणों की अपेक्षा है। उसका स्पष्ट भाव यह हैं यदि वह

१. ये सब ज्ञान मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं इसलिये निमित्त सामान्य की अपेक्षा से सबको एक कहा है परन्तु इन सब में स्वरूप भेद-अर्थ भेद अवश्य है।

२. छद्मस्थ जीवों के ज्ञान के पहले दर्शन होता है। किसी वस्तु की सत्ता मात्रा के देखने को दर्शन कहते हैं। इसका विषय बहुत सूक्ष्म होता है जो कि उदाहरण से नहीं समझाया जा सकता।

बगुला है तो बगुला होना चाहिये और यदि पताका है तो पताका होना चाहिये। ईहा में भवितव्यता रूप प्रत्यय ज्ञान होता है। **अवायः**- विशेष चिन्ह देखने से उसका निश्चय हो जाना सो अवाय है। जैसे-उस शुक्ल पदार्थ में पंखों का फड़फड़ाना, उड़ना आदि चिन्ह देखने से बगुला का निश्चय होना। **धारणा**- अवाय से निश्चय किये हुए पदार्थ को कालान्तर में नहीं भूलना धारणा है।

अवग्रह आदि के विषय भूत पदार्थ

बहु-बहुविध क्षिप्राऽनिःसृतानुक्त ध्रुवाणां सेतराणां ॥१६॥

अर्थ - (सेतराणाम्-बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां) अपने उल्टे भेदों सहित बहु आदि अर्थात् बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव और इनसे उल्टे एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त तथा अध्रुव इन बारह प्रकार के पदार्थों का अवग्रह ईहादिरूप ज्ञान होता है।

१. बहु[१]- एकसाथ बहुत पदार्थों का अवग्रहादि होना। **जैसे**- गेहूँ की राशि देखने से बहुत से गेहुँओं का ज्ञान।

२. बहुविध- बहुत प्रकार के पदार्थों का अवग्रहादि होना। **जैसे**- गेहूँ, चना, चावल आदि कई पदार्थों का ज्ञान।

३. क्षिप्र- शीघ्रता से पदार्थ का ज्ञान होना। चलती हुई बस से किसी को देखना।

४. अनिःसृत- एकदेश के ज्ञान से सर्वदेश का ज्ञान होना- **जैसे**-बाहर निकली हुई सूँड़ देखकर जल में डूबे हुए पूरे हाथी का ज्ञान होना।

५. अनुक्त- वचन से कहे बिना अभिप्राय से जान लेना। जैसे-मुँह की सूरत तथा हाथ आदि के इशारे से प्यासे मनुष्य का ज्ञान होना।

६. ध्रुव- बहुत काल तक जैसा का तैसा ज्ञान होते रहना।

७. एक- अल्प वा एक पदार्थ का ज्ञान।

८. एकविध - एक प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान होना एकविध ज्ञान है। जैसे- एक सदृश गेहुँओं का ज्ञान।

९. अक्षिप्र- **(चिरग्रहण)**-किसी पदार्थ को धरे-धरे बहुत समय में जानना।

१०. निःसृत- बाहर निकले हुए प्रकट पदार्थों का ज्ञान होना।

११. उक्त- शब्द सुनने के बाद ज्ञान होना।

१२.अध्रुव- जो क्षण-क्षण हीन अधिक होता रहे उसे अध्रुव ज्ञान कहते हैं।

१. यद्यपि बहु आदि बारह प्रकार के पदार्थ हैं तथापि सुविधा की दृष्टि से यहाँ उनका ज्ञानपरक लक्षण लिखा गया है।

अर्थस्य ॥१७॥

अर्थ- ऊपर कहे हुए बहु आदि बारह भेद पदार्थ द्रव्य के हैं अर्थात् बहु आदि विशेषण विशिष्ट पदार्थ के ही अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं[१]।

अवग्रह ज्ञान में विशेषता

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥

अर्थ- **(व्यञ्जनस्य)** अप्रकट रूप शब्दादि पदार्थों का **(अवग्रह)** सिर्फ अवग्रह ज्ञान होता है। ईहादिक तीन ज्ञान नहीं होते।

भावार्थ- अवग्रह के दो भेद हैं- १.व्यञ्जनावग्रह और २. अर्थावग्रह।

व्यञ्जनावग्रह- अव्यक्त- अप्रकट पदार्थ के अवग्रह को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह- व्यक्त-प्रकट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं॥ 6॥

न चक्षु-रनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

अर्थ- **(चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्)** नेत्र और मनसे व्यञ्जनावग्रह **(न)** नहीं होता है।

श्रुतज्ञान का वर्णन, श्रुतज्ञान की उत्पत्ति का क्रम और भेद

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेक द्वादश भेदम् ॥२०॥

अर्थ- **(श्रुतम्)** श्रुतज्ञान **(मतिपूर्वम्:**[३] **)** मतिज्ञानपूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञान के पश्चात् होता है। और वह श्रुतज्ञान **(द्व्यनेकद्वादशभेदम्)** दो, अनेक तथा बारह भेदवाला है।

भावार्थ- श्रुतज्ञान मतिज्ञान के बाद में होता है। उसके दो भेद हैं १. अङ्ग बाह्य २.अङ्ग प्रविष्टि। उनमें से अङ्ग बाह्य के अनेक भेद हैं और **अङ्ग प्रविष्ट** के १.आचारांग, २.सूत्रकृताङ्ग ३.स्थानाङ्ग ४.समवायाङ्ग ५.व्याख्याप्रज्ञप्ति अङ्ग ६. ज्ञातृ धर्मकथाङ्ग ७. उपासकाध्यनांग, ८. अंतःकृद्दशांग, ९.अनुत्तरोपपादिकदशांग, १०.प्रश्नव्याकरणांग, ११.विपाकसूत्रांग, और १२.दृष्टिप्रवादांग, ये बारह भेद हैं।

१. किसी का मत है कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ, रूप आदि गुणों को ही जानती हैं क्योंकि इन्द्रियों का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) उन्हीं के साथ होता हैं। उस मत का खण्डन करने के लिये ही ग्रंथ कर्त्ता ने 'अर्थस्य' यह सूत्र लिखा है इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियों का सम्बन्ध पदार्थ के ही साथ होता है, केवल गुण के साथ नहीं होता।

२. बहु आदि १२ पदार्थों के अवग्रह आदि ४ प्रकार के ज्ञान, पाँच इन्द्रियाँ और मन इन छह की सहायता से होते है, इसलिये १२×४=४८×६=२८८ भेद हुए। इनमें व्यजनावग्रह के १२×४=४८ भेद जोडने से कुल २८८+४८=३३६ मतिज्ञान के प्रभेद होते हैं। अथवा ६४×४+४ = २८×१२=३३६

३. पूर्व का अर्थ कारण भी होता है, इसलिये 'मतिपूर्वक' इस पद का अर्थ 'मतिज्ञान है कारण जिसका' यह भी हो सकता है।'मतिः पूर्वस्य मतिपूर्वं- मतिकारणं इत्यर्थः।'

इनमें से **दृष्टिप्रवाद नामक बारहवें अंग** के ५ भेद हैं -१.परिकर्म, २.सूत्र, ३.प्रथमानुयोग, ४.पूर्वगत और ५. चूलिका। **परिकर्म** के ५ भेद हैं। १.व्याख्याप्रज्ञप्ति, २.द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, ३.जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४.सूर्यप्रज्ञप्ति और ५.चंद्रप्रज्ञप्ति।

चूलिका के ५ भेद हैं—१.जलगता, २.स्थलगता, ३.मायागता, ४.आकाशगता और ५. रूपगता। **सूत्रगत** और **प्रथमानुयोग** के एक-एक ही भेद हैं। **पूर्वगत** के १४ भेद हैं - १.उत्पाद पूर्व, २.अग्रायणी पूर्व, ३.वीर्यानुवाद पूर्व, ४. अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व, ५.ज्ञानप्रवाद पूर्व, ६.सत्यप्रवाद पूर्व, ७.आत्मप्रवाद पूर्व, ८.कर्मप्रवाद पूर्व, ९.प्रत्याख्यान पूर्व, १०.विद्यानुवाद पूर्व, ११. कल्याणानुवाद पूर्व, १२.प्राणावायप्रवाद पूर्व, १३.क्रियाविशाल पूर्व और १४. लोकबिन्दुसार पूर्व इन सब के पदों का प्रमाण तथा विषय वगैरह राजवार्तिक आदि उच्च ग्रन्थों से जानना चाहिये।

अवधिज्ञान का वर्णन

भवप्रत्ययोऽवधिर्-देवनारकाणाम्[1] **॥२१॥**

अर्थः- **(भवप्रत्ययः)** भवप्रत्यय **(अवधिः)** अवधिज्ञान **(देवनारकाणाम्)** देव और नारकियों के होता है[2]।

भावार्थः- अवधिज्ञान के दो भेद हैं-१-भवप्रत्यय और २-गुणप्रत्यय (अर्थात् **क्षयोपशमनिमित्तक ।)**

भवप्रत्ययः- देव और नरक भव **(पर्याय)** के कारण जो उत्पन्न हो उसे भवप्रत्यय कहते हैं।

गुणप्रत्ययः- जो किसी पर्याय विशेष की अपेक्षा न रखकर अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होवे उसे गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान कहते हैं। जो मनुष्य तिर्यञ्चों को होता।

नोटः- यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिये कि भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम रहता है। पर वह क्षयोपशम देव और नरक पर्याय में नियम से प्रकट हो जाता है।

क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान के भेद और स्वामी

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२२॥

१. तीर्थकरों के भी भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है।

२. सम्यग्दृष्टि देव नारकियों के सुवधिज्ञान और मिथ्यादृष्टि देव नारकियों के कुअवधिज्ञान होता है।

मतिज्ञान के 336 भेद

मतिज्ञान

1		2	3	4
अवग्रह		ईहा	अवाय	धारणा
व्यञ्जनावग्रह	अर्थावग्रह	बहु	बहु	बहु
बहु	बहु	बहुविध	बहुविध	बहुविध
बहुविध	बहुविध	क्षिप्र	क्षिप्र	क्षिप्र
क्षिप्र	क्षिप्र	अनिःसृत	अनिःसृत	अनिःसृत
अनिःसृत	अनिःसृत	अनुक्त	अनुक्त	अनुक्त
अनुक्त	अनुक्त	ध्रुव	ध्रुव	ध्रुव
ध्रुव	ध्रुव	एक	एक	एक
एक	एक	एकविध	एकविध	एकविध
एकविध	एकविध	अक्षिप्र	अक्षिप्र	अक्षिप्र
अक्षिप्र	अक्षिप्र	निःसृत	निःसृत	निःसृत
निःसृत	निःसृत	उक्त	उक्त	उक्त
उक्त	उक्त	अध्रुव	अध्रुव	अध्रुव
अध्रुव	अध्रुव	स्पर्शन	स्पर्शन	स्पर्शन
स्पर्शन	स्पर्शन	रसना	रसना	रसना
रसना	रसना	घ्राण	घ्राण	घ्राण
घ्राण	घ्राण	चक्षु	चक्षु	चक्षु
	चक्षु	कर्ण	कर्ण	कर्ण
कर्ण	कर्ण	मन	मन	मन
12334	1236	1236	1236	1236
48	72	72	72	72
		कुल 336		

(दिगंम्बर जैन धर्म अनुसार)

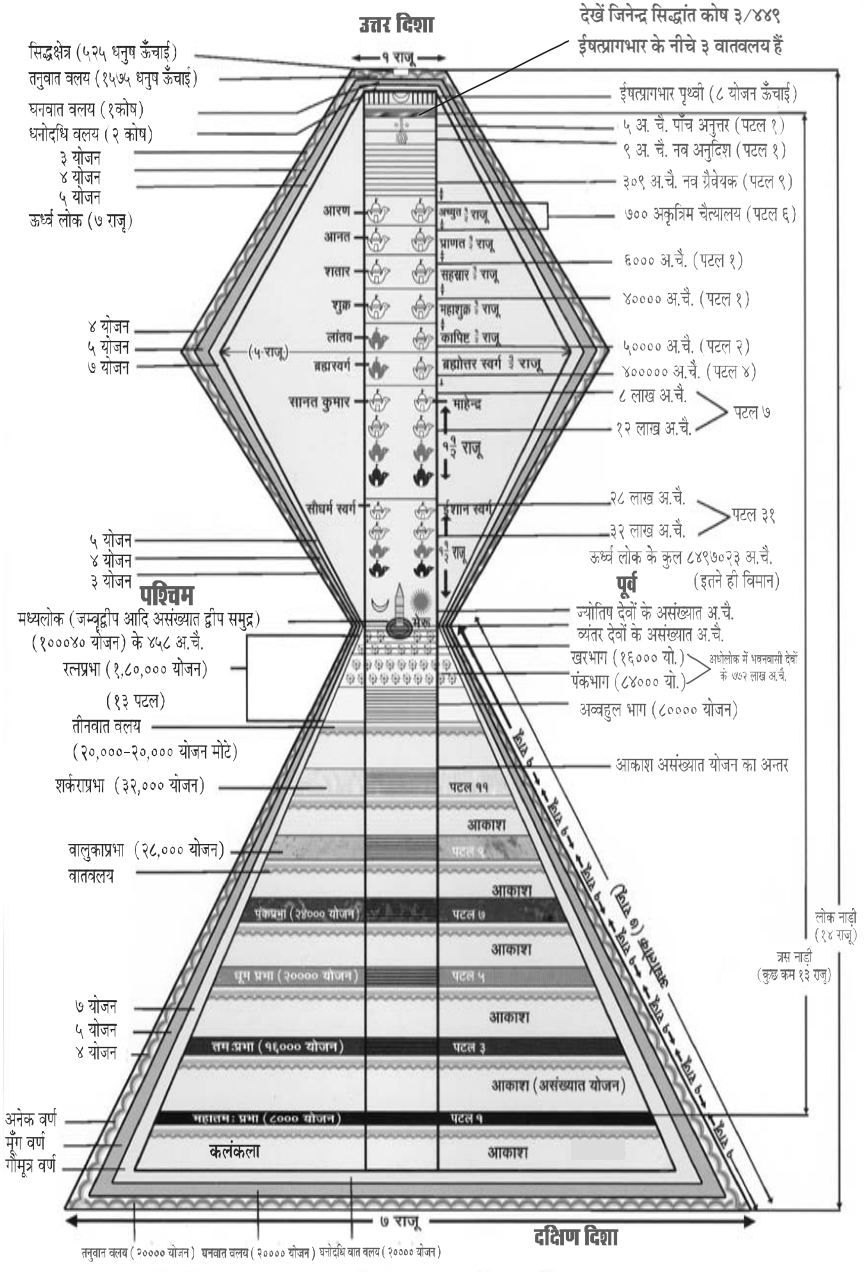

अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान का विस्तार

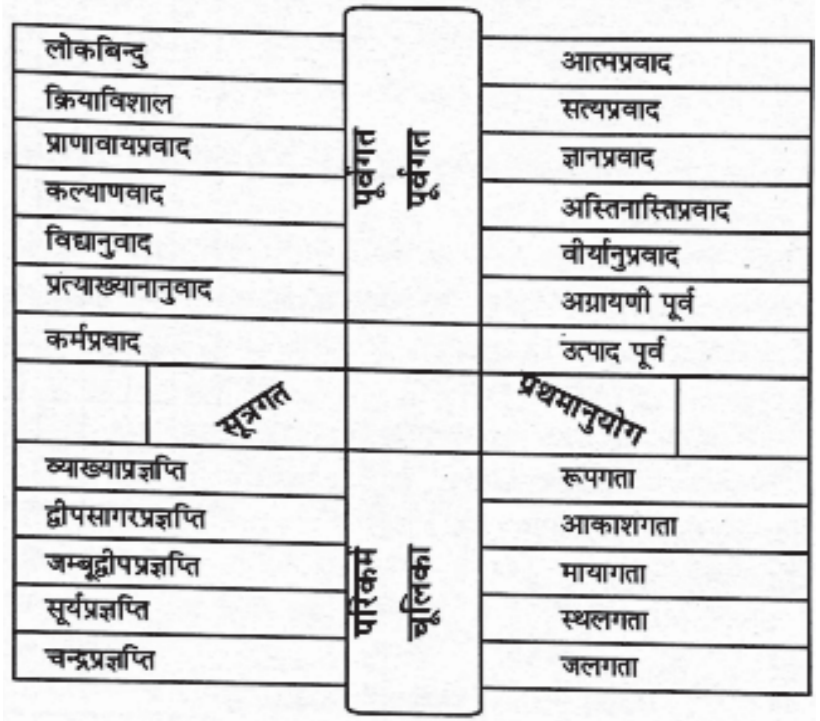

अर्थः- **(क्षयोपशमनिमित्तः)** क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान **(षड्विकल्पः)** अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित, इस प्रकार छह भेदोंवाला है और वह **(शेषाणाम्)** मनुष्य तथा तिर्यंचों के [भवति] होता है।
अनुगामीः- जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश में छाया की तरह जीव के साथ-साथ जावे उसे अनुगामी कहते हैं। इसके तीन भेद हैं-१. क्षेत्रानुगामी, २.भवानुगामी, और ३.उभयानुगामी। **अननुगामीः**- जो अवधिज्ञान साथ नहीं जावे उसे अननुगामी कहते हैं। इसके तीन भेद हैं-१.क्षेत्राननुगामी, २.भवाननुगामी, और ३. उभयाननुगामी। **वर्धमानः**- जो शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की तरह बढ़ता रहे उसे वर्धमान कहते हैं। **हीयमानः**- जो कृष्णपक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की तरह घटता रहे उसे हीयमान कहते हैं। **अवस्थित**- जो अवधिज्ञान एकसा रहे, न घटे, न बढ़े उसे अवस्थित कहते हैं। जैसे- तिल आदि के चिन्ह। **अनवस्थित** :- जो हवा से प्रेरित जल की तरह अथवा मेघ की तरह घटता बढ़ता रहे, एकसा न रहे उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं।
दूसरे ग्रन्थों में अवधिज्ञान के नीचे लिखे हुए तीन भेद भी बतलाये हैं। **१.देशावधि, २.परमावधि, ३.सर्वावधि।** इनमें देशावधि चारों गतियों में हो सकता है। परन्तु परमावधि और सर्वावधि चरम शरीरी मुनियों को ही होता है। इनका स्वरूप और विषय अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिये।

मनःपर्ययज्ञान के भेद

ऋजु-विपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

अर्थः- **(मनःपर्ययः)** मनःपर्ययज्ञान **(ऋजुविपुलमति)** ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है।
ऋजुमतिः- जो मन, वचन, काय की सरलता से चिंतित दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जाने, उसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।
विपुलमतिः- जो सरल तथा कुटिल रूप से चिंतित पर के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जाने उसे विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं।

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्-विशेषः ॥२४॥

अर्थः- **(विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्याम्)** परिणामों की शुद्धता और अप्रतिपात-केवलज्ञान होने के पहले नहीं छूटना, इन दो बातों से **(तद्विशेषः)** ऋजुमति और

विपुलमति में विशेषता है।
भावार्थः- [1]ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति में आत्मा के भावों की विशुद्धता अधिक होती है तथा ऋजुमति होकर छूट भी जाता है पर विपुलमति केवलज्ञान के पहले नहीं छूटता। [2]ऋजुमति उन मुनियों के भी हो जाता है जो ऊपर के गुणस्थानों से गिरकर नीचे आ जाते हैं पर विपुलमति जिन्हें होता है उन मुनियों का नीचे के गुणस्थानों में पतन नहीं होता, दोनों भेदों में मनःपर्ययज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से हीनाधिकता रहती है मनःपर्ययज्ञान मुनियों के ही होता है।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में विशेषता

विशुद्धि क्षेत्र स्वामि विषयेभ्योऽवधिमनः पर्याययोः ॥२५॥

अर्थः- **(अवधिमनःपर्याययोः)** अवधि और मनःपर्ययज्ञान में **(विशुद्धक्षेत्रस्वामिविषयेभ्यः)** विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी[1] और विषय की अपेक्षा **(विशेषः भवति)** विशेषता होती है।
भावार्थः- विशुद्धि आदि की न्यूनाधिकता से अवधि और मनः पर्ययज्ञान में भेद होता है।

मति और श्रुतज्ञान का विषय

मति श्रुतयोर्-निबन्धो द्रव्येष्-वसर्वपर्यायेषु ॥२६॥

अर्थः- **(मतिश्रुतयोः)** मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का **(निबन्धः)** विषय सम्बन्ध **(असर्वपर्यायेषु)** सब पर्यायों से रहित **(द्रव्येषु)** जीव पुद्गल आदि सब द्रव्यों में **[अस्ति]** है।
भावार्थः- इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न हुए मतिश्रुतज्ञान, रूपी-अरूपी सभी द्रव्यों को जानते हैं पर उनकी सभी पर्यायों को नहीं जान पाते। इसलिये उनका विषय सम्बन्ध द्रव्यों की कुछ पर्यायों के साथ होता है।

अवधिज्ञान का विषय

रूपिष्-ववधेः ॥२७॥

अर्थः- **(अवधेः)** अवधिज्ञान का विषय-सम्बन्ध **(रूपिषु)**[2] रूपी द्रव्यों में है

१. मनः पर्ययज्ञान उत्तम ऋद्धिधारी मुनियों के ही होता है, पर अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को हो सकता है
२. जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द पाया जावे ऐसे पुद्गलद्रव्य तथा पुद्गलद्रव्य से सम्बन्ध रखने वाले संसारी जीव भी रूपी कहलाते हैं।

अर्थात् अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को जानता है॥ २७॥

मन:पर्ययज्ञान का विषय

त-दनन्तभागे मनः पर्ययस्य ॥२८॥

अर्थः- (**तदनन्तभागे**) सर्वावधि[१] ज्ञान के विषयभूत रूपी द्रव्य के अनंतवें भाग में (**मन:पर्ययस्य**) मन:पर्ययज्ञान का विषय सम्बन्ध है।

भावार्थः- सर्वावधि जिस रूपी द्रव्य को जानता है उसके बहुत सूक्ष्म रूपी द्रव्य को मन:पर्यय ज्ञान जानता है। **मन:पर्यय ज्ञान के दो भेद** -

१. ऋजुमति २. विपुलमति

केवलज्ञान का विषय व लक्षण

सर्वद्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

अर्थः- (**केवलस्य**) केवलज्ञान का विषय- सम्बन्ध (**सर्वद्रव्यपर्यायेषु**) सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों में है। अर्थात् केवलज्ञान एक साथ सब पदार्थों को जानता है॥ २९॥

एक जीव के एकसाथ कितने ज्ञान हो सकते हैं

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥३०॥

अर्थः- (**एकस्मिन्**) एक जीव में (**युगपत्**) एकसाथ (**एकादीनि**) एकको आदि लेकर (**चतुर्भ्यः**) चार ज्ञान तक (**भाज्यानि**) विभक्त करने के योग्य हैं अर्थात् हो सकते हैं।

भावार्थः- यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है। दो हों तो मति, श्रुत होते हैं। तीन हों तो मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत और मन:पर्यय होते हैं। यदि चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ज्ञान होते हैं। एक साथ पाँचों ज्ञान किसी भी जीव के नहीं होते। प्रारम्भ के चार ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं। और अन्त का केवलज्ञान ज्ञानावरणी कर्म के क्षय से होता है॥३०॥

मति श्रुत और अवधिज्ञान में मिथ्यापन

मति-श्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३१॥

अर्थः- (**मतिश्रुतावधयो**) मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान (**विपर्ययश्च**) विपर्यय भी होते हैं। ऊपर कहे हुए पाँचों ज्ञान सम्यग्ज्ञान होते हैं परंतु मति, श्रुत

१. ५ सम्यक् और ३ मिथ्या इस प्रकार सब मिलाकर ज्ञानोपयोग के ८ भेद होते हैं ।

और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं। इन्हें क्रम से कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और कुअवधि ज्ञान (**विभङ्गावधि**) कहते हैं[१]।

नोटः- इन तीन ज्ञानों में मिथ्यापन मिथ्यादर्शन के संसर्ग से होता है। जैसे-मीठे दूध में कडुवापन कडुवी तूम्बड़ी के संसर्ग से होता है।

मिथ्यापने का लक्षण

स-दसतो-रविशेषाद्-यदृच्छोपलब्धे-रुन्मत्तवत् ॥३२॥

अर्थः- (**यदृच्छोपलब्धेः**) अपनी इच्छानुसार जैसा-तैसा जानने के कारण (**सदसतोः**) सत् और असत् पदार्थों में (**अविशेषात्**) विशेष ज्ञान न होने से (**उन्मत्तवत्**) पागल पुरुष के ज्ञान की तरह मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्याज्ञान ही होता है।

भावार्थ :- जैसे पागल पुरुष जब माँ को स्त्री और स्त्री को माँ समझता है तब तो मिथ्यात्वी है ही किन्तू जब स्त्री को स्त्री और माता को माता समझ रहा है तब भी उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है, क्योंकि उसके माता और स्त्री के बीच में कोई स्थिर अन्तर नहीं है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि जब पदार्थों को ठीक जान रहा है तब भी सत् असत् का निर्णय नहीं होने से उसका ज्ञान मिथ्या ज्ञान ही कहलाता है।

नयों के भेद

नैगम-संग्रह-व्यवहार्जुसूत्र शब्द समभिरूढैवंभूता नयाः ॥३३॥

अर्थः- नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं। वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म की मुख्यता कर अन्य धर्मों का विरोध न करते हुए पदार्थ का जानना नय है।

नैगम नयः- जो नय अनिष्पन्न अर्थ के संकल्प मात्र को ग्रहण करता है वह नैगम नय है। जैसे- लकड़ी, पानी आदि सामग्री इकट्ठी करने वाले पुरुष से कोई पूछता है कि आप क्या कर रहे हैं, तब वह उत्तर देता है मैं रोटी बना रहा हूँ यद्यपि उस समय रोटी नहीं बना रहा है तथापि नैगम नय उसके उत्तर को सत्यार्थ मानता है।

संग्रह नयः- जो नय अपनी जाति का विरोध न करता हुआ एकपने से समस्त पदार्थों को ग्रहण करता है उसे संग्रह नय कहते हैं **जैसे**-जीव कहने पर सभी जीवों का ग्रहण हो जाता है सत्, द्रव्य, घट इत्यादि।

व्यवहार नयः- जो नय संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों को विधि पूर्वक

१. अवधिज्ञान का सबसे ऊँचा भेद।

भेद करता है वह व्यवहार नय है। जैसे-सत् दो प्रकार का है- द्रव्य और गुण। द्रव्य के ६ भेद हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। गुण के दो भेद हैं- सामान्य और विशेष। इस तरह यह नय वहाँ तक भेद करता जाता है जहाँ तक भेद हो सकते हैं।

ऋजुसूत्र नयः- जो सिर्फ वर्तमान काल के पदार्थों को ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं। इसके दो भेद हैं :-

(१) सूक्ष्म ऋजु सूत्र, (२) स्थूल ऋजु सूत्र। **(१) सूक्ष्म ऋजुसूत्र**-भूत भविष्य की पर्याय को छोड़कर प्रतिक्षण होने वाला परिवर्तन सूक्ष्म ऋजु सूत्र का विषय है। जैसे-बच्चा १ वर्ष में १ अंगुल बढ़ता है तो एक दिन या एक घंटे में कितना बड़ा हुआ। **(२) स्थूल ऋजुसूत्र**- जिसमें भूत भविष्य की पर्याय को छोड़कर वर्तमान पर्याय को विषय किया जाता है जैसे- किसी मनुष्य की बाल, युवा, प्रौढ़, वृद्ध आदि पर्याय जो देखने जानने में आवें।

शब्द नयः- जो नय शब्द लिङ्ग, संख्या, कारक आदि के व्यभिचार को दूर करता है वह शब्द नय है। यह नय लिंगादि के भेद से पदार्थ को भेद रूप ग्रहण करता है। **जैसे**- दारा (पु०), भार्या (स्त्री०), कलत्र (न०) ये तीनों शब्द भिन्न लिङ्ग वाले होकर भी एक ही स्त्री पर्याय के वाचक हैं पर यह नय स्त्री को लिङ्ग के भेद से तीन रूप मानता है।

समभिरूढ़ नय :- जो नय नाना अर्थों का उल्लंघन कर एक अर्थ को रूढ़ि से ग्रहण करता है उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं। जैसे वचन आदि अनेक[१] अर्थों का वाचक गो शब्द किसी प्रकरण में गाय अर्थ का वाचक होता है। यह नय पर्याय के भेद से अर्थ को भेद रूप ग्रहण करता है। जैसे- इन्द्र, शक्र, पुरन्दर ये तीनों शब्द इन्द्र के नाम हैं पर यह नय इन तीनों के भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करता है।

एवंभूत नय :- जिस शब्द का जिस क्रिया रूप अर्थ है उसी क्रियारूप परिणमते हुए पदार्थ को जो नय ग्रहण करता है उसे **एवंभूत नय** कहते हैं। **जैसे**- पुजारी को पूजा करते समय ही पुजारी कहना या वस्त्र धोते समय धोबी को धोबी कहना।

इति श्री उमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः

१. गौःपुमान् वृषभे स्वर्गे, खण्डवज्रहिमांशुषु । स्त्री गवि भूमिदिग्नेत्र वाग्बाणसलिले स्त्रियः॥ इति विश्वलोचनः। गौ शब्द के ११ अर्थ हैं - १. बल, २. स्वर्ग, ३. खण्ड, ४. वज्र, ५. चन्द्रमा, ६. गाय, ७. भूमि, ८. दिशा, ९. नेत्र, १०. वाणी (स्त्री), और १२. जल **(स्त्री बहुवचनांत)** ।

२. नय और निक्षेप में अन्तर - नय ज्ञान के भेद हैं और निक्षेप उस ज्ञान के अनुसार किये गये व्यवहार को कहते हैं । इनमें ज्ञान और ज्ञेय, विषयों अथवा विषय का भेद है ।

द्वितीय अध्याय

जीव के असाधारण भाव

औपशमिक-क्षायिकौ-भावौ-मिश्रश्च-जीवस्य
स्वतत्व-मौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

अर्थः- **(जीवस्य)** जीव के **(औपशमिकक्षायिकौ)** औपशमिक और क्षायिक **(भावौ)** भाव **(च मिश्रः)** और मिश्र तथा **(औदयिकपारिणामिकौ च)** औदयिक और पारिणामिक ये पाँचों **(स्वतत्वम्)** निज के भाव हैं अर्थात् जीव को छोड़कर अन्य किसी में नहीं पाये जाते हैं।

१. औपशमिक भावः- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति के प्रकट न होने को उपशम कहते हैं और कर्मों के उपशम से आत्मा का जो भाव होता है उसे **औपशमिक भाव** कहते हैं। **जैसे**- निर्मली के संयोग से पानी का कीचड़ नीचे बैठ जाता है और पानी साफ हो जाता है।

२. क्षायिकभावः- कर्मों के समूल विनाश होने को क्षय कहते हैं। जैसे- पूर्व उदाहरण में जो कीचड़ नीचे बैठ गया था उस कीचड़ का बिल्कुल अलग हो जाना। अर्थात् कर्मों के क्षय से जो भाव होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं।

३. क्षयोपशम तथा क्षायोपशमिक भाव (मिश्र) का लक्षण :- वर्तमान काल में उदय में आने वाले [१]सर्वघाती-स्पर्द्धकों का[२] उदयाभावी क्षय तथा उन्हीं के आगामी काल में उदय आने वाले निषेकों[३] का सदवस्थारूप उपशम और [४]देशघातिस्पर्द्धकोंका उदय होने को क्षयोपशम कहते हैं। जैसे पानी की स्वच्छता को बिलकुल नष्ट करने वाले कीचड़ के परमाणुओं के क्रमशः नीचे बैठ जाने तथा कुछ मटमैलेपन के परमाणुओं के मिले रहने पर पानी में स्वच्छास्वच्छ अवस्था होती है। इसी प्रकार जीवों में कर्मों के क्षयोपशम से जो भाव होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

४. उदय तथा औदयिक भावः- स्थिति को पूरी करके कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं और कर्मों के उदय से जो भाव होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं।

१. जो जीव के सम्यक्त्व तथा ज्ञानादि अनुजीवी गुणों को पूरी तौर से घाते उसे सर्वघाती कहते हैं।
२. बिना फल दिये हुये उदयागत कर्मों का खिर जाना।
३. एक समय में जितने कर्मपरमाणु उदय में आवें उन सब के समूह को निषेक कहते हैं।
४. जो जीव के ज्ञानादि गुणों को एकदेश घाते।

५. पारिणामिक भावः- जो भाव कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा उदय की अपेक्षा न रखता हुआ आत्मा का स्वभाव मात्र हो उसे पारिणामिक भाव कहते हैं[५]। यानि आत्मा का स्वभाव ही पारिणामिक भाव है।

भावों के भेद

द्वि नवाष्टादशैकविंशति त्रिभेदा यथाक्रमम् ॥२॥

अर्थः- ऊपर कहे हुए पाँचों भाव (यथाक्रमम्) क्रम से **(द्विनवाष्टादशैक विंशतित्रिभेदा)** दो, नव, अठारह, इक्कीस और तीन भेदवाले हैं॥२॥

औपशमिक भाव के दो भेद

सम्यक्त्व-चारित्रे ॥३॥

अर्थः- औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ये औपशमिक भाव के दो भेद हैं।

१. औपशमिक सम्यक्त्व :- अनन्तानुबन्धी , क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति इन सात[२] प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

२. औपशमिक चारित्रः- अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों के उपशम से जो चारित्र होता है उसे औपशमिक चारित्र कहते हैं।

क्षायिकभाव के नौ भेद

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च ॥४॥

अर्थः- केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य तथा 'च' कार से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र ये नौ क्षायिक भाव के भेद हैं।[३]

केवलज्ञान :- जो ज्ञानावरण के क्षय से हो। **केवलदर्शन**- जो दर्शनावरण के क्षय से हो। **क्षायिकदान** आदि पाँच भाव अन्तरायकर्म के भेदों के क्षय से होते हैं। **क्षायिक सम्यक्त्व**- जो ऊपर कही हुई सात प्रकृतियों के क्षय से हो

१. ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों की उदय, क्षय और क्षयोपशम ये तीन, मोहनीय कर्म की उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम ये चारों तथा शेष कर्मों की उदय और क्षय ये दो अवस्थाएँ होती हैं।

२. अनादि मिथ्यादृष्टि और किसी-किसी सादि मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी की ४ और मिथ्यात्व १ इन पाँच प्रकृतियों के उपशम से होता है।

३. इन नौ भावों को नौ लब्धियाँ भी कहते हैं।

क्षायिकचारित्र- मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों से सम्यक्त्व सम्बन्धी ७ प्रकृतियों के अलावा २१ प्रकृतियों के क्षय से हो।

क्षयोपशमिक भाव के अठारह भेद

ज्ञानाज्ञान-दर्शन-लब्धयश् चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्व चारित्र संयमासंयमाश्च ॥५॥

अर्थः- **(ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः)** मति, श्रुत अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये तीन दर्शन, क्षयोपशमिक दान, लाभ, भोग उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ तथा **(सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च)** क्षयोपशमिक सम्यक्त्व, क्षयोपशमिक चारित्र और संयमासंयम ये अठारह भाव क्षयोपशमिक भाव के हैं।

क्षयोपशमिक सम्यक्त्वः- अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व इन सर्वघाति प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा उन्हीं के आगामी काल में उदय आने वाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और देशघाति सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने पर जो सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसे **क्षयोपशमिक सम्यक्त्व** कहते हैं। इसी का दूसरा नाम **वेदक सम्यक्त्व** भी है।

क्षयोपशमिक चारित्रः- अनन्तानुबन्ध आदि बारह कषायों का उदयाभावी क्षय तथा उन्हीं के निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और संज्वलन तथा नोकषाय का यथासम्भव उदय होने पर जो चारित्र होता है उसे क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं। इसी का दूसरा नाम सराग-संयम है।

संयमासंयमः- अनन्तानुबन्धी आदि ८ प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय और उन्ही निषेधकों का सदवस्थारूप उपशम तथा प्रत्याख्यानावरणादि १७ प्रकृतियों का यथासम्भव उदय होने पर आत्मा की जो विरताविरत अवस्था होती है उसे संयमासंयम (संयतासंयत या देश विरत) कहते हैं।

१. औदयिकभाव में जो अज्ञान भाव है वह अभावरूप होता है और क्षायोपशमिक अज्ञानभाव मिथ्यादर्शन के कारण दूषित होता है। २. कषाय के उदय से मिली हुई योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।

औदयिकभाव के इक्कीस भेद

गति कषाय लिङ्ग मिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयता
सिद्ध लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्यकैकैकैककषड्भेदाः ॥६॥

अर्थः- नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गति, क्रोध, मान - माया और लोभ ये चार कषाय- स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये तीन लिंग- मिथ्यादर्शन, [१]अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ये छह लेश्याएँ इस तरह सब मिलाकर औदयिकभाव के इक्कीस भेद हैं।

पारिणामिकभाव के भेद

जीव-भव्याऽभव्यत्वानि च ॥७॥

अर्थः- जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव हैं।

नोटः- सूत्र में आये हुए 'च' शब्द से अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणों का भी ग्रहण होता है। इस तरह जीव के सब मिलाकर कुल २+९+१८+२१+३ = ५३ त्रेपन भेद होते हैं ॥७॥

जीव का लक्षण

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

अर्थः- जीव का **(लक्षणम्)** लक्षण **(उपयोगः)** उपयोग **(अस्ति)** है।

उपयोगः- आत्मा के चैतन्य गुण से सम्बन्ध रखने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। उपयोग जीव का तद्भूत लक्षण है।

उपयोग के भेद

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥९॥

अर्थः- **(सः)** वह उपयोग मूल में **(द्विविधः)** ज्ञानोपयोग[१] और दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का है। फिर क्रम से **(अष्टचतुर्भेदः)** आठ और चार भेद से सहित है, अर्थात् ज्ञानोपयोग के मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय और केवलज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये आठ भेद हैं एवं दर्शनोपयोग के चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार भेद हैं। इस प्रकार दोनों को मिलाने से उपयोग के बारह भेद हो जाते हैं।

जीव के भेद

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

१ ज्ञानोपयोग पदार्थ को विकल्प सहित जानता है और दर्शनोपयोग विकल्प रहित जानता है।

५३ भाव

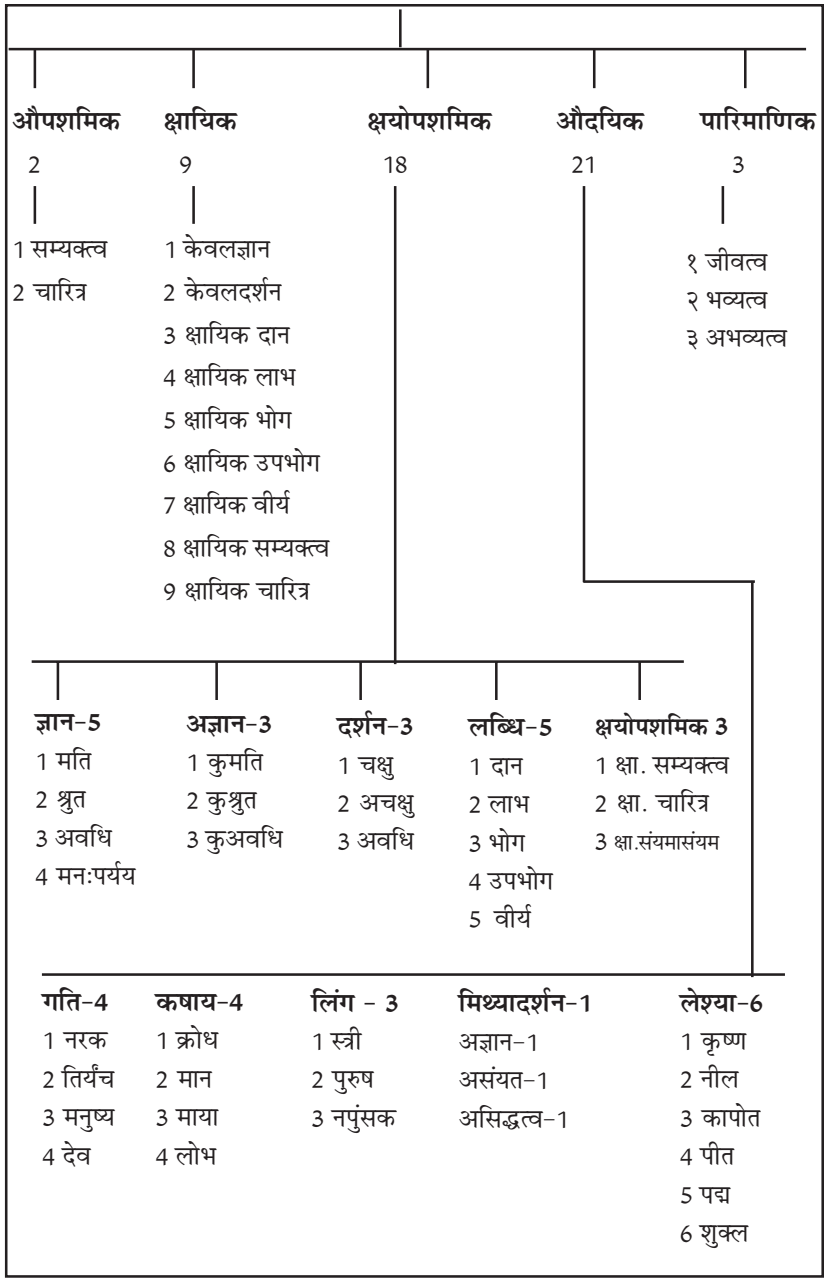

अर्थः- वे जीव (**संसारिणः**) संसारी (**च**) और (**मुक्ताः**) मुक्त इस प्रकार दो भेद वाले हैं। कर्म सहित जीवों को संसारी और कर्मरहित जीवों को मुक्त जीव कहते हैं।

संसारी जीवों के भेद

समनस्काऽमनस्काः ॥११॥

अर्थः- संसारी जीव समनस्क-सैनी और अमनस्क-असैनी के भेद से दो प्रकार के होते हैं। **समनस्क**- मनसहित जीव । **अमनस्क**- मनरहित जीव ॥११॥[१]

संसारी जीवों के अन्य प्रकार से भेद

संसारिणस्-त्रस-स्थावराः ॥१२॥

अर्थः- (**संसारिणः**) संसारी जीव (**त्रस स्थावराः**) त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं।

स्थावरों के भेद

पृथिव्यप्-तेजो वायु वनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

अर्थः- पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच प्रकार के स्थावर हैं। इनके सिर्फ स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

स्थावरः- स्थावर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई जीव की अवस्था-विशेष को स्थावर कहते हैं।

त्रस जीवों के भेद

द्वीन्द्रियादयस्-त्रसाः ॥१४॥

अर्थः- दो इन्द्रिय आदि अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं।

त्रसः- त्रस नामकर्म के उदय से प्राप्त हुई जीव की अवस्था विशेष को त्रस कहते हैं॥ १४॥

इन्द्रियों की गणना

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

अर्थः- सब इन्द्रियाँ पाँच हैं।

इन्द्रियः- जिनसे जीव की पहिचान हो उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं।

इन्द्रियों के मूल भेद

द्वि-विधानि ॥१६॥

१. एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक जीव नियम से असैनी होते हैं। तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों में सैनी असैनी दोनों होते हैं। शेष तीन गतियों के जीव नियम से सैनी ही होते हैं।

अर्थः- वे इन्द्रियाँ द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय के भेद से दो प्रकार की हैं॥१६॥

द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

अर्थः- निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

निर्वृत्तिः- पुद्गलविपाकी नामकर्म के उदय से निर्वृत्त-रची गई नियत आकारवाली पुद्गल की रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं। जैसे-कर्ण की रचना विशेष इसके २ भेद हैं- १. अभ्यन्तर निर्वृत्ति और २. बाह्य निर्वृत्ति ।

उत्सेधअंगुल के असंख्येय भाग प्रमाण शुद्ध आत्मा के प्रदेशों का चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार रूप होने वाले परिणमन को **अभ्यन्तर निर्वृत्ति** कहा है, तथा इन्द्रिय व्यपदेश को प्राप्त हुए आत्मा के उन प्रदेशों में नामकर्म के उदय से होने वाले चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार परिणत पुद्गल प्रचय को **बाह्य निर्वृत्ति** कहते हैं। जैसे-कर्ण में प्रयोग हड्डी चमड़ी रक्त आदि।

उपकरणः- जो निर्वृत्ति का उपकार करे उसे उपकरण कहते हैं, इसके दो भेद हैं- १. अभ्यन्तर उपकरण और २.बाह्य उपकरण । जैसे चक्षु इन्द्रिय में जो कृष्ण-शुक्ल मण्डल है वह **अभ्यन्तर उपकरण** है और पलकें तथा बिरूनी वगैरह **बाह्य उपकरण** हैं॥ १७॥

भाव इन्द्रिय का स्वरूप

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

अर्थः- लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं।

लब्धिः- ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं।

उपयोगः- जिसके निमित्त से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की निर्वृत्ति के प्रति व्यापार करता है उस निमित्त से होने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं। अर्थात् सुनने की योग्यता लब्धि तथा ध्यान से सुनना उपयोग है।

पञ्च इन्द्रियों के नाम

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः श्रोत्राणि ॥१९॥

अर्थः- स्पर्शन (**त्वचा**) रसना (**जीभ**) घ्राण (**नाक**) चक्षु (**आँख**) और श्रोत्र (**कान**) ये पाँच इन्द्रियाँ हैं॥ १९॥

इन्द्रियों के विषय

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण शब्दास्-तदर्थाः ॥२०॥

अर्थः- स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पाँच क्रम से ऊपर कही हुई पाँच

इन्द्रियों के विषय हैं । अर्थात् उक्त इन्द्रियाँ इन विषयों को जानती हैं॥ २०॥

मन का विषय

श्रुत-मनिन्द्रियस्य ॥२१॥

अर्थः- (**अनिन्द्रियस्य**) मन का विषय (**श्रुतम्**) श्रुतज्ञान है। अथवा मन का प्रयोजन श्रुतज्ञान है ॥ २१॥

नोट- सामान्य श्रुतज्ञान मनसहित और मन रहित- दोनों प्रकार के जीवों के होता है यहाँ शास्त्र ज्ञान रूप जो श्रुत है उसे मन का विषय कहा गया है।

इन्द्रियों के स्वामी

वनस्पत्यन्ताना-मेकम् ॥२२॥

अर्थः- (**वनस्पत्यन्तानाम्**) वनस्पतिकाय है अन्त में जिनके ऐसे जीवों के अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के (**एकम्**) एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है॥ २२॥

कृमि पिपीलिका भ्रमर मनुष्यादीना-मेकैक वृद्धानि॥२३॥

अर्थः- लट आदि, चिऊँटी आदि, भौंरा आदि तथा मनुष्य आदि के क्रम से एक-एक इन्द्रिय बढ़ती हुई हैं। अर्थात् लट आदि के प्रारम्भ की दो, चिऊँटी आदि के तीन, भौंरा आदि के चार और मनुष्य आदि के पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं॥२३॥

समनस्क की परिभाषा

संज्ञिनः स-मनस्काः॥२४॥

अर्थः- (**समनस्काः**) मन सहित जीव (**संज्ञिनः**) संज्ञी[१] कहलाते हैं।

संज्ञा- हित अहित की परीक्षा तथा गुणदोष का विचार वा स्मरणादिक करने को संज्ञा कहते हैं॥ २४॥

प्रश्न- जब कि जीवों की हिताहित में प्रवृत्ति मन की सहायता से ही होती है, तब वे विग्रहगति में मन के बिना भी नवीन शरीर की प्राप्ति के लिये गमन क्यों करते हैं? इस का कारण

योग की प्रवृत्ति

विग्रहगतौ कर्मयोगः॥२५॥

अर्थः- (**विग्रहगतौ**)[२] विग्रहगति में (**कर्मयोगः**) कार्माण काययोग होता है। उसी की सहायता से जीव एक गति से दूसरी गति में गमन करता है।

१. संज्ञी जीव पंचेन्द्रिय ही होते हैं ।

२. विग्रह-शरीर के लिये जो गति हो वह विग्रहगति है ।''शरीरं वष्मं विग विग्रहः'' इत्यमरः ।

विग्रहगतिः- एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिये गमन करना विग्रहगति है।

कर्मयोगः- ज्ञानावरणादि कर्मों के समूह को कार्माण कहते हैं उसके निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे कर्मयोग अथवा कार्माणयोग कहते हैं।

गमन किस प्रकार होता है?

अनुश्रेणि गतिः॥२६॥

अर्थः- (**गतिः**) जीव और पुद्गलों का गमन (**अनुश्रेणि**) श्रेणिके अनुसार ही होता है।

श्रेणिः- लोक के मध्य भाग से ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशा में क्रम से सन्निवेश (**रचना**) को प्राप्त हुए आकाश-प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणि कहते हैं।

नोटः- जो जीव मरकर दूसरे शरीर के लिये गमन करता है उसी का गमन विग्रहगति में श्रेणि के अनुसार होता है, अन्य का नहीं। इसी तरह जो पुद्गल का शुद्ध परमाणु एक समय में चौदह राजु गमन करता है उसी का श्रेणिके अनुसार गमन है, सब पुद्गलों का नहीं।

मुक्त जीवों की गति

अविग्रहा जीवस्य ॥२७॥

अर्थः- (**जीवस्य**)[१] मुक्त जीव की गति (**अविग्रहा**) वक्रता रहित-सीधी होती है। अर्थात् शुद्ध जीव की गति मोड़े से रहित होती है।

भावार्थः- श्रेणिके अनुसार होने वाली गति के दो भेद हैं- १. विग्रहगति (**जिसमें मुड़ना पड़े**) २. अविग्रहगति (**जिसमें मुड़ना न पड़े**) इनमें कर्मों का क्षयकर सिद्ध शिला के प्रति गमन करने वाले जीवों के अविग्रह गति होती है॥ २७॥

संसारी जीवों की गति और समय

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्-चतुर्भ्यः ॥२८॥

अर्थः- (**संसारिणः**) संसारी जीव की गति (**चतुर्भ्यः प्राक्**) चार समय से पहले-पहले (**विग्रहवती च**) विग्रहवती और अविग्रहवती दोनों प्रकार की होती है। समय की गड़ना मोड़ पड़ने पर होती है।

भावार्थः- संसारी जीव की गति मोड़ा रहित भी होती है। और मोड़ा सहित भी

१. आगे के सूत्र में संसारी जीव का ग्रहण है इसलिये यहाँ पर 'जीवस्य' इस सामान्य पद से भी मुक्त जीव का ग्रहण होता हैं।

है। जो मोड़ा रहित होती है उसमें एक समय लगता है । जिसमें एक मोड़ा लेना पड़ता है उसमें दो समय, जिसमें दो मोड़ा लेना पड़ते हैं उसमें तीन समय और जिसमें तीन मोड़ा लेना पड़ते हैं उसमें चार समय लगते हैं।[१] पर यह जीव चौथे समय में कहीं न कहीं नवीन शरीर नियम से धारण कर लेता है, इसलिये विग्रहगति का समय चार समय के पहले-पहले तक कहा गया है।

अविग्रह गति का समय

एकसमयाऽविग्रहा ॥२९॥

अर्थ :- (**अविग्रहा**) मोड़ा रहित गति (**एकसमया**) एक समय मात्र की होती है अर्थात् उसमें एक समय ही लगता है॥२९॥

विग्रहगति में अनाहारक की व्यवस्था

एकं-द्वौ-त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥

अर्थः- विग्रहगति में जीव एक दो अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है।

आहारः- औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर तथा ६ पर्याप्तियों - आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा, मन के योग्य पुद्गल परमाणुओं के ग्रहण को आहार कहते हैं।

भावार्थः- जब तक जीव ऊपर कहे हुए आहार को ग्रहण नहीं करता तब तक वह अनाहारक कहलाता है। संसारी जीव अविग्रह गति में आहारक ही होता है। किन्तु एक दो और तीन मोड़ावाली गतियों में क्रम से एक, दो, और तीन समय तक अनाहारक रहता है। चौथे समय में नियम से आहारक हो जाता है।

जन्म के भेद

सम्मूर्च्छन गर्भोपपादा जन्म ॥३१॥

अर्थः- (**जन्म**) नवीन शरीर धारण करना जन्म (**सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा**) सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद के भेद से तीन प्रकार का होता है।

सम्मूर्च्छन जन्मः- अपने शरीर के योग्य पुद्गल परमाणुओं के द्वारा माता-पिता के रज और वीर्य के बिना ही अवयवों की रचना होने को सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं।

गर्भजन्मः- स्त्री के उदर में रज और पुरुष के वीर्य के मिलने से जो जन्म होता है उसे गर्भजन्म कहते हैं। **उपपाद जन्मः**- माता-पिता के रज और वीर्य के बिना

१. उक्त गतियों के ४ भेद हैं- १. ऋजुगति (इषुगति), २. पाणिमुक्तागति, ३. लाङ्गलिका गति, ४. गोमूत्रिका गति। ऋजुगति वाला जीव अनाहारक नहीं होता। ३. यह एकेन्द्रिय जीवों में ही सम्भव है।

देव, नारकियों के निश्चित स्थान विशेष पर उत्पन्न होने को उपपाद जन्म कहते हैं।

योनियों के भेद

सचित्त शीत संवृताः सेतरा मिश्राश्-चैकशस्-तद्योनयः[१] ॥३२॥

अर्थः- (**सचित्तशीतसंवृताः**) सचित्त, शीत, संवृत्त तीन (**सेतराः**) इनसे उल्टी तीन अचित्त, उष्ण, विवृत (**च**) और (**एकशः**) एक एक कर (**मिश्राः**) क्रम से मिली हुई तीन सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृत्त-विवृत्त ये नौ (**तद्योनयः**) सम्मूर्च्छन आदि जन्मों की योनियाँ हैं।

सचित्तयोनिः- जीव सहित योनि को सचित्तयोनि कहा, इसके विपरीत **अचित योनि** है जीवों की उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। योनि और जन्म में आधार आधेय सम्बन्ध होता है।

शीतयोनि- जिसमें शीतलता हो वह शीत योनि है इसके विपरीत **उष्ण योनि** है।

संवृतयोनिः- जो किसी के देखने में न आवे ऐसे जीव के उत्पत्ति स्थान को संवृतयोनि कहते हैं। संवृत अर्थात् ढकी हुई जैसे-बीजांकुर आदि।

विवृतयोनिः- जो सबके देखने में आवे उस उत्पत्ति स्थान को विवृतयोनि कहते हैं। शेष योनियों का अर्थ स्पष्ट है इसी के आधार पर लगा लेना चाहिए।

नोटः- कौन सी योनि किस जीव के होती है, इन विषयों को आगे के चार्ट पर देखिये।

योनि भेद और उनके स्वामी

	योनि नाम	स्वामी
१.	सचित्त	साधारण शरीर निगोद
२.	अचित्त	देव, नारकी
३.	सचित्ताचित्त	गर्भज
४.	शीत	तेजस्कायिक और देवनारकियों को छोड़कर
५.	उष्ण	तेजस्कायिक
६.	शीतोष्ण	देव, नारकी
७.	संवृत	देव, नारकी, एकेन्द्रिय
८.	विवृत	विकलेन्द्रिय
९.	संवृतविवृत	गर्भज

१. जीवों की उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। योनि और जन्म में आधार आधेय का अन्तर है।

गर्भजन्म किसके होता है ?

जरायुजाण्डज-पोतानां गर्भः ॥३३॥

अर्थः- (जरायुज) जरायुज, (अण्डज) अण्डज और (पोतानां) पोतज इन तीन प्रकार के जीवों के गर्भजन्म ही होता है। अथवा गर्भजन्म उक्त जीवों के ही होता है शेष को नहीं।

जरायुजः- जाल के समान मांस और खून से व्याप्त एक प्रकार की थैली से लिपटे हुए, जो जीव पैदा होते हैं उन्हें जरायुज कहते हैं। **जैसे**- गाय, भैंस, बकरी, मनुष्यी वगैरह।

अण्डजः- जो जीव अण्डे से उत्पन्न हों, उन्हें अण्डज कहते हैं। **जैसे**- चिड़िया, कबूतरी, मुर्गी वगैरह।

पोतजः- पैदा होते समय जिन जीवों पर किसी प्रकार का आवरण नहीं हो और जो पैदा होते ही चलने फिरने लग जावें उन्हें पोतज कहते हैं, **जैसे**- हिरण, सिंह वगैरह।

उपपाद जन्म किसके होता है ?

देव नारकाणा-मुपपादः ॥३४॥

अर्थः- **(देवनारकाणाम्)** देव और नारकियों के **(उपपादः)** उपपाद जन्म ही होता है अथवा उपपाद जन्म देव और नारकियों के ही होता है॥ ३४॥

सम्मूर्च्छन जन्म किसके होता है ?

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥

अर्थः- **(शेषाणां)** गर्भ और उपपाद जन्म वालों से बाकी बचे हुए जीवों के **(सम्मूर्च्छनम्)** सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है। अथवा सम्मूर्च्छन जन्म शेष जीवों के ही होता है।

नोटः- एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का नियम से सम्मूर्च्छन जन्म होता है। बाकी तिर्यंचों के गर्भ और सम्मूर्च्छन दोनों जन्म होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों का भी सम्मूर्च्छन जन्म होता है॥ ३५॥

शरीर के नाम व भेद

औदारिक वैक्रियकाऽहारक तैजस-कार्माणानि शरीराणि ॥३६॥

अर्थः- औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण ये पाँच शरीर हैं।

औदारिक शरीर- स्थूल शरीर (जो दूसरे को रोके और दूसरे से रुक सके) को औदारिक शरीर कहते हैं। यह मनुष्य और तिर्यंचों के होता है।

वैक्रियक शरीर- जिसमें हल्के भारी तथा कई प्रकार के रूप बनाने की शक्ति हो उसे वैक्रियक शरीर कहते हैं। यह देव और नारकियों के होता है। विक्रिया ऋद्धि इससे भिन्न है।

आहारक शरीर- सूक्ष्म पदार्थ के निर्णय के लिये या संयम की रक्षा के लिये छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के मस्तक से एक हाथ का जो श्वेत रंग का पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं। आहारक ऋद्धि भिन्न है।

तैजस शरीर- जिसके कारण शरीर में तेज रहे उसे तैजस शरीर कहते हैं।

कार्मण शरीर- ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्माण शरीर कहते हैं।

शरीरों की सूक्ष्मता का वर्णन

परं-परं सूक्ष्मम् ॥३७॥

अर्थः- पूर्व से **(परं-परम्)** आगे आगे का शरीर **(सूक्ष्मम्)** सूक्ष्म सूक्ष्म है। अर्थात् औदारिक से वैक्रियक, वैक्रियक से आहारक, आहारक से तैजस और तैजस से कार्माण शरीर सूक्ष्म हैं।

नोट- औदारिक शरीर का प्रदेशों प्रमाण प्राप्त नहीं है सम्भवतः अनन्त हैं-

शरीर के प्रदेशों का विचार

प्रदेशतोऽसंख्येय गुणं प्राक्तैजसात् ॥३८॥

अर्थः- **(प्रदेशतः)** प्रदेशों की अपेक्षा **(तैजसात् प्राक्)** तैजस शरीर से पहले पहले के शरीर **(असंख्येयगुणम्)** असंख्यातगुणे हैं।

भावार्थः- औदारिक शरीर की अपेक्षा असंख्यातगुणे प्रदेश **(परमाणु)** वैक्रियक में और वैक्रियक की अपेक्षा असंख्यातगुणे आहारक शरीर में हैं।

अनन्तगुणे परे ॥३९॥

अर्थः- **(परे)** बाकी के दो शरीर **(अनन्तगुणे)** अनन्तगुणे प्रदेशवाले हैं। अर्थात् आहारक शरीर से अनन्तगुणे प्रदेश तैजस शरीर में और तैजस शरीर की अपेक्षा अनन्तगुणे प्रदेश कार्माण शरीर में हैं।[१]

तैजस और कार्माण शरीर की विशेषता

अप्रतिघाते ॥४०॥

अर्थः- तैजस और कार्माण ये दोनों शरीर (अप्रतिघाते) अप्रतिघात-बाधा रहित

१. आगे-आगे के शरीर में प्रदेशों की अधिकता होने पर भी उनका सन्निवेश लोहपिण्ड की तरह सघन होता है इसलिये वे बाह्य में अल्परूप होते हैं।

हैं अर्थात् किसी भी मूर्तिक पदार्थ से न स्वयं रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं।

अनादिसम्बन्धे च ॥४१॥

अर्थः- (च) ये दोनों शरीर आत्मा के साथ (अनादिसम्बन्धे) अनादिकाल से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

नोटः- यह कथन सामान्य तैजस और कार्माण की अपेक्षा से है, विशेष की अपेक्षा पहले के शरीरों का सम्बन्ध नष्ट होकर उनके स्थान में नये-नये शरीरों का सम्बन्ध होता रहता है।

सर्वस्य ॥४२॥

अर्थः- ये दोनों शरीर (सर्वस्य) समस्त संसारी जीवों के होते हैं।

एक साथ एक जीव के कितने शरीर हो सकते हैं?

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना-चतुर्भ्यः ॥४३॥

अर्थः- **(तदादीनि)** उन तैजस और कार्माण शरीर को आदि लेकर **(युगपद्)** एकसाथ **(एकस्य)** एक जीव के **(चतुर्भ्यः)** चार शरीर तक **(भाज्यानि)** विभक्त करना चाहिए। अर्थात् दो शरीर हों तो तैजस, कार्माण, तीन हों तो तैजस, कार्माण और औदारिक अथवा तैजस, कार्माण और वैक्रियक तथा चार हों तो तैजस, कार्माण, औदारिक और आहारक तथा तैजस, कार्माण औदारिक और वैक्रियक[१] होते हैं।

कार्माण शरीर की विशेषता

निरुपभोग-मन्त्यम् ॥४४॥

अर्थः-**(अन्त्यम्)** अन्त का कार्माण शरीर **(निरुपभोगम्)** उपभोग रहित होता है।

उपभोग- इन्द्रियों के द्वारा शब्दादिक के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं।

औदारिक शरीर का लक्षण

गर्भसम्मूर्छनज-माद्यम् ॥४५॥

अर्थः- **(गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम्)** गर्भ और सम्मूर्छन जन्म से उत्पन्न हुआ शरीर **(आद्यम्)** औदारिक शरीर कहलाता है।

वैक्रियक शरीर का वर्णन

औपपादिकं वैक्रियकम् ॥४६॥

१. लब्धिप्रत्यय वैक्रियक की अपेक्षा।

अर्थः- **(औपपादिकं)** उपपाद जन्म से होने वाला देव, नारकियों का शरीर **(वैक्रियकम्)** वैक्रियक कहलाता है।

लब्धि-प्रत्ययं च ॥४७॥

अर्थः- (च) वैक्रियक शरीर (लब्धिप्रत्यय) लब्धि निमित्तक भी होता है।

लब्धिः- तपोविशेष से प्राप्त हुई ऋद्धि को लब्धि कहते हैं।

तैजस-मपि ॥४८॥

अर्थः- तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय **(ऋद्धिनिमित्तक)** होता है॥ ४८॥

नोटः- यह तैजस शुभ-अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है। शुभ तैजस सफेद रंग का होता है और दाहिने कन्धे से निकलता है और अशुभ तैजस सिन्दूर के समान लाल रंग का होता है तथा बाँये कन्धे से प्रकट होता है। शुभ तैजस से १२ योजन सुभिक्ष आदि होते हैं और अशुभ तैजस से १२ योजन प्रमाण क्षेत्र भस्म हो जाता है।

आहारक शरीर का स्वामी व लक्षण

शुभं विशुद्ध-मव्याघाति चाहारकं प्रमत्त-संयतस्यैव ॥४९॥

अर्थः- **(आहारकम्)** आहारक शरीर **(शुभम्)** शुभ है अर्थात् शुभ कार्य को करता है **(विशुद्धम्)** विशुद्ध है अर्थात विशुद्ध कर्म का कार्य है **(च)** और **(अव्याघाति)** व्याघात बाधा रहित है तथा **(प्रमत्तसंयतस्यैव)** प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि के ही होता है।

शरीर भेद स्वामी और जन्म

१. औदारिकः- मनुष्य-तिर्यंच **(गर्भज सम्मूर्छन-उपपाद)**, २. **वैक्रियकः**- देव नारकी लब्धि प्रत्यय की अपेक्षा मनुष्य भी **(उपपाद)** ३. **आहारकः**- छठवें गुणस्थानवर्ती मुनि **(गर्भ)**, ४. **तैजसः**- समस्त संसारी, ५. **कार्माणः**- समस्त संसारी।

लिंग **(वेद)** के स्वामी

नारक-सम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

अर्थः- **(नारक)** नारकी और **(सम्मूर्छिनो)** सम्मूर्छन जन्मवाले जीव नपुंसक होते हैं।

न देवाः ॥५१॥

अर्थः- **(देवाः)** देव नपुंसक **(न)** नहीं होते। अर्थात् देवों में स्त्रीलिंग और

पुरुषलिंग ये दो ही लिंग होते हैं।

शेषास्-त्रिवेदाः ॥५२॥

अर्थः- (**शेषाः**) शेष बचे हुए मनुष्य और (**त्रिवेदाः**) तिर्यंच तीनों वेदवाले होते हैं। अर्थात् मनुष्य और तिर्यन्चों में तीनों वेद होते हैं

अकाल मृत्यु किनकी नहीं होती ?

औपपादिक चरमोत्तमदेहाऽसंख्येय वर्षायुषोऽनप वर्त्यायुषः

अर्थः- उपपाद जन्मवाले देव, नारकी, तद्भवमोक्षगामियों में श्रेष्ठ तीर्थङ्कर आदि तथा असंख्यात वर्षों की आयुवाले-भोगभूमि के जीव परिपूर्ण आयुवाले होते हैं। अर्थात् इन जीवों की असमय में मृत्यु नहीं होती।

भावार्थः- आयुकर्म के निषेकों का क्रम क्रम से न खिरकर एक साथ खिर जाना अकाल मरण कहलाता है। यह **अकाल मरण** कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों के ही सम्भव होता है। कर्मभूमि में भी तद्भवमोक्षगामी मनुष्यों के नहीं होता।

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रो द्वितीयोऽध्याय

अकाल मरण किस प्रकार से होता है आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी अष्ट पाहुड में एवं श्री नेमिचंद जी गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहते हैं -

विषवेयण रक्तक्षय, भय संक्लेशयरं।
आहार उच्छवासं, जीवोछिज्जदे आऊं॥

अर्थात् विष वेदना, रक्त क्षय, भय, संक्लेश परिणाम, आहार उच्छवास निरोध से जीव की आयु का क्षय होता देखा जाता है। इसी को अकाल मरण कहा जाता है।

मरण के 5 भेद बताए हैं जो इस प्रकार से हैं -

वालं-वालं वालं, वाल पण्डिय, पण्डिय मरणंय, पण्डिय- पण्डिस मरणं

तृतीय अध्याय

(अधोलोक का वर्णन)

नरक की सात पृथिवियाँ

रत्न-शर्करा-बालुका-पङ्क-धूम तमो महातमः प्रभा-
भूमयो घनाम्बुवाताकाश प्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥१॥

अर्थः- (**रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा**) रत्नप्रभा[१], शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमः प्रभा और महातमप्रभा, ये भूमियाँ (**सप्त**) सात हैं और क्रम से (**अधोऽधः**) नीचे-नीचे (**घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः**) घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाश के आधार हैं।

विशेषः- रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग हैं- १. खरभाग, २. पङ्क भाग और ३. अब्बहुल भाग। इनमें से ऊपर के दो भागों में व्यन्तर तथा भवनवासी देव रहते हैं, और नीचे के अब्बहुल भाग में नारकी रहते हैं। इस पृथ्वी की कुल मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन[२] की है।

सात पृथिवियों में नरकों (बिलों) की संख्या

तासु त्रिंशत्-पञ्चविंशति-पंचदश-दश-त्रि-पंचोनैक-
नरक-शत-सहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् ॥२॥

अर्थः- (**तासु**) उन पृथिवियों में (**यथाक्रमम्**) क्रम से (**त्रिंशत्-पञ्चविंशति पञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैक नरकशतसहस्राणि**) तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दश लाख, तीन लाख पाँच कम एक लाख (**च**) और (**पंच एव**) पाँच ही नरक-बिल हैं। ये बिल जमीन में गड़े हुए ढोल की पोल के समान होते हैं।

नारकियों के दुःख का वर्णन

नारका नित्याशुभतरलेश्या परिणाम देह वेदना विक्रियाः ॥३॥

अर्थः- (**नारका**) वे नारकी जीव (**नित्याशुभतर लेश्या परिणाम देह वेदना विक्रियाः**) हमेशा ही अत्यंत अशुभ लेश्या अशुभतर, परिणाम अशुभतर, शरीर अशुभतर, वेदना अशुभतर और विक्रिया अशुभतर के धारक होते हैं।

१. लेश्याः- यह द्रव्यलेश्याओं का वर्णन है जो आयु पर्यन्त रहती हैं। भाव

१. रत्नप्रभा आदि पृथ्वी के नाम सार्थक हैं। रूढ़ नाम इस प्रकार हैं- १. धम्मा, २. वंशा, ३. मेघा, ४. अञ्जना, ५. अरिष्टा, ६. मघवा और ७. माघवी।

२. दो हजार कोश।

लेश्यायें अन्तर्मुहूर्त में बदलती रहती हैं। परन्तु वह परिवर्तन अपने ही अवान्तर भेदों में होता है। पहली और दूसरी पृथ्वी में कापोतलेश्या, तीसरी पृथ्वी के ऊपरी भाग में कापोत और निचले भाग में नील, चौथी पृथ्वी में नील, पाँचवी के ऊपरी भाग में नील और निचले भाग में कृष्ण तथा छठवीं और सातवीं पृथ्वी में कृष्णलेश्या होती है। **२. परिणामः**- स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द को परिणाम कहते हैं। **३. देहः**- पहली पृथ्वी में देह की ऊँचाई ७ धनुष, ३ हाथ और ६ अंगुल है। नीचे के नरकों में क्रम-क्रम से दूनी-दूनी ऊँचाई होती है। इसको इस तरह समझें सातवीं पृथ्वी में ५०० धनुष ऊँचाई है इसके ऊपर आधी-आधी होती जाती है। **४. वेदनाः**- १, २, ३ और ४ पृथ्वी में सिर्फ उष्ण वेदना, ५वीं पृथ्वी के ऊपरी भाग में उष्ण और नीचे भाग में शीत तथा ६ और ७वीं पृथ्वी में महाशीत की वेदना है। **५. विक्रियाः**- छोटे बड़े, एक अनेक रूप धारण करना विक्रिया है।

नोट- नारकी जीव परस्पर में एक दूसरे को दुःख उत्पन्न करते हैं। वे कुत्तों की तरह परस्पर लड़ते हैं।

परस्परोदीरित-दुःखाः ॥४॥

वे नारकी (**परस्परो**) आपस में, (**दीरित**) घोर, भयंकर, (**दुःखाः**) दुख देते हैं।

संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

अर्थः- (**च**) और वे नारकी (**चतुर्थ्याः प्राक्**) चौथी पृथ्वी से पहले-पहले अर्थात् तीसरी पृथ्वी पर्यन्त (**संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाः**) अत्यंत संक्लिष्ट परिणामों के धारक अम्बावरीष जाति के असुरकुमार देवों के द्वारा उत्पन्न दुःख से युक्त होते हैं। अर्थात् तीसरे नरक तक जाकर अम्बावरीष-असुरकुमार उन्हें पूर्व बैर का स्मरण दिलाकर आपस में लड़ाते हैं उन्हें दुखी देखकर हर्षित होते हैं। उनके इसी प्रकार की कषाय का उदय रहता है।

नोटः- नरकों में भयानक दुःख होने पर भी असमय में मृत्यु नहीं होती।

नरकों में उत्कृष्ट आयु का प्रमाण

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-
त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमा-सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

अर्थः- (**तेषु**) उन नरकों में (**सत्त्वानां**) नारकी जीवों की (**परास्थितिः**) उत्कृष्ट स्थिति क्रम से (**एक त्रि सप्त दश सप्तदश द्वाविंशति त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा**)

नरक व्यवस्था

क्र.	पृथिवी	प्रस्तार	बिल	शरीर की ऊँचाई	लेश्या	शीतोष्ण वेदना	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु
1.	रत्नप्रभा	13	30,00000	7 धनुष 3 हाथ 6 अंगुल	जघन्य कापोत	उष्ण वेदना	1 सागर	दस हजार वर्ष
2.	शर्कराप्रभा	11	25,00000	14 धनुष 2 हाथ 12 अंगुल	मध्यम कापोत	उष्ण वेदना	3 सागर	1 सागर
3.	बालुकाप्रभा	9	15,00000	31 धनुष 1 हाथ	उत्कृष्ट कापोत जघन्य नील	उष्ण वेदना	7 सागर	3 सागर
4.	पङ्कप्रभा	7	10,00000	62 धनुष 2 हाथ	मध्यम नील	उष्ण वेदना	10 सागर	7 सागर
5.	धूमप्रभा	5	3,00000	125 धनुष	उत्कृष्ट नील जघन्य कृष्ण	उष्ण शीत	17 सागर	10 सागर
6.	तमःप्रभा	3	99995	250 धनुष	मध्यम कृष्ण	शीत	22 सागर	17 सागर
7	महातमःप्रभा	1	5	500 धनुष	उत्कृष्ट कृष्ण	महाशीत	33 सागर	22 सागर

नोट - 1 यह लेश्या का क्रम 'स्वायुषः प्रमाणावधृताः द्रव्यलेश्या उक्ताः भावलेश्यास्वन्तर्मुहूर्तं परिवर्तिन्यः' इस सर्वार्थसिद्ध के मतानुसार लिखा है। गोम्मटसार तथा धवलसिद्धान्त के मतानुसार सभी नारकियों के विग्रहगति में शुक्ल, अपर्याप्तक अवस्था में कापोत तथा पर्याप्तक अवस्था में कृष्णद्रव्यलेश्या होती है और भावलेश्याएँ,कृष्ण, नील तथा कापोत होती हैं जिनका क्रम ऊपर चित्र में बताया गया है।

एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तेतीस सागर है।

मध्य लोक का वर्णन कुछ द्वीप समुद्र के नाम

जम्बूद्वीप-लवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥७॥

अर्थः- इस मध्यलोक में **(शुभनामानः)** अच्छे-अच्छे नाम वाले **(जम्बूद्वीपलवणोदादयः द्वीपसमुद्राः)** जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र हैं।

भावार्थः- सबके बीच में थाली के आकार का जम्बूद्वीप है, उसके चारों तरफ लवणसमुद्र है, उसके चारों तरफ धातकीखण्ड द्वीप है, उसके चारों तरफ कालोदधि समुद्र है, उसके चारों तरफ पुष्करवर द्वीप है, इस प्रकार एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। सबसे अन्त के द्वीप का नाम स्वयंभूरमण द्वीप और अन्त के समुद्र का नाम स्वयंभूरमण समुद्र है।

द्वीप और समुद्रों का विस्तार और आकार

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

अर्थः- प्रत्येक द्वीप समुद्र **(द्वि-र्दि-र्विष्कम्भा)** दूने-दूने विस्तार वाले, **(पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो)** पहले-पहले के द्वीप समुद्र को घेरे हुए तथा **(वलयाकृतयः)** चूड़ी के समान गोल आकार वाले हैं॥ 6॥

जम्बूद्वीप का विस्तार और आकार

तन्मध्ये मेरु नाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्र विष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

अर्थः- **(तन्मध्ये)** उन सब द्वीप समुद्रों के बीच में **(मेरुनाभिः)**[1] सुदर्शन मेरुरूप नाभि से युक्त **(वृतः)** थाली के समान गोल और **(योजनशत-सहस्रविष्कम्भः)**[2] एक लाख योजन विस्तार वाला **([3]जम्बूद्वीपः)** जम्बूद्वीप **(अस्ति)** है।

१. सुदर्शन मेरूकी ऊँचाई एक लाख योजन की है। जिसमें १ हजार योजन नीचे जमीन में और ९९ हजार योजन ऊपर ४० योजन चूलिका है। सब अकृत्रिम चीजों के नाप में २००० कोश का बड़ा योजन लिया जाता है।

२. किसी भी गोल चीज की परिधि उसकी गोलाई से कुछ अधिक तिगुनी हुआ करती है। इस प्रकार जम्बूद्वीप की परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन तीन कोश एक सौ अट्ठाइस धनुष और साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक है।

३. इस द्वीप में विदेह क्षेत्रान्तर्गत 'उत्तर कुरूभोगभूमि' में अनादि निधन पृथ्वीकाय और अकृत्रिम जम्बू (जामुन) का वृक्ष है, इसलिये इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप पड़ा है।

सात क्षेत्रों के नाम

भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

अर्थः- इस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत,हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

क्षेत्रों का विभाग करने वाले ६ कुलाचलों के नाम

तद्-विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषध
नील रुक्मि शिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥११॥

अर्थः-**(तद्विभाजिनः)** उन सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले **(पूर्वाऽपरायताः)** पूर्व से पश्चिम तक लम्बे **(हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणः)** हिमवन, महाहिमवन, निषध, नील, रुक्मिन् और शिखरिन् ये छह **(वर्षधरपर्वताः)** वर्षधर कुलाचल पर्वत हैं। ॥११॥

कुलाचलों का वर्णन

हेमार्जुन-तपनीय-वैडूर्य-रजत-हेममयाः ॥१२॥

अर्थः- ऊपर कहे हुए पर्वत क्रम से **(हेमार्जुनतपनीय)** सुवर्ण, चाँदी, तपाया हुआ सुवर्ण, **(वैडूर्यरजत- हेममयाः)** वैडूर्य **(नील)** मणि, चाँदी और सुवर्ण के समान वर्ण वाले हैं।

कुलाचलों का आकार

मणिविचित्र-पार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥१३॥

अर्थः- **(मणिविचित्रपार्श्वाः)** कई तरह की मणियों से चित्र विचित्र तटों से युक्त **(उपरि मूले च)** ऊपर नीचे और मध्य में **(तुल्यविस्ताराः)** एक समान विस्तार वाले हैं।

कुलाचलों पर स्थित सरोवरों के नाम

पद्म-महापद्म-तिगिञ्छ-केशरी-महापुण्डरीक-पुण्डरीका
ह्रदास्तेषा-मुपरि॥१४॥

अर्थः- **(तेषाम् उपरि)** उन पर्वतों के ऊपर क्रम से **(पद्ममहापद्म-तिगिञ्छ-केशरी-महापुण्डरीक पुण्डरीकाह्रदाः)** पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केशरिन्, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के (ह्रद)- सरोवर हैं ॥ १४॥

प्रथम सरोवर की लम्बाई चौड़ाई

प्रथमो योजन सहस्रायामस्-तदर्द्ध विष्कम्भो ह्रदः ॥१५॥

अर्थः-(**प्रथमह्रदः**) पहला सरोवर (**योजनसहस्रायामः**) एक हजार योजन लम्बा और (**तदर्द्धविष्कम्भः**) लम्बाई से आधा अर्थात् पाँच सौ योजन चौड़ा विस्तार वाला है ॥ १५॥

प्रथम सरोवर की गहराई

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

अर्थः- पहला सरोवर (**दशयोजनावगाहः**) दशयोजन गहरा है ॥ १६॥

उसके मध्य में क्या है?

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७॥

अर्थः- (**तन्मध्ये**) उसके बीच में एक (**योजनं**) योजन विस्तार वाला (**पुष्करम्**) कमल है ॥ १७॥

महापद्म आदि सरोवर तथा उनमें रहने वाले कमलों की प्रभा

तद्-द्विगुण द्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥

अर्थः- (**तद्**) वे आगे के (**ह्रदाःपुष्कराणि**) सरोवर और कमल क्रम से प्रथम सरोवर तथा उसके कमल से (**द्विगुण-द्विगुणा**) दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

नोट- यह दूने-दूने का क्रम तिगिञ्छ नामक तीसरे सरोवर तक ही है। उसके आगे तीन सरोवर और कमल इनके विपरीत दक्षिण सरोवर के कमलों के समान विस्तार वाले हैं॥१८॥

कमलों में रहने वाली छह देवियाँ

तन्-निवासिन्यो देव्यः श्री ह्री धृति कीर्ति बुद्धि
लक्ष्म्यःपल्योपम स्थितयः ससामानिक परिषत्काः॥१९॥

अर्थः-(**पल्योपमस्थितयः**) एक पल्य की आयु वाली तथा (**ससामानिक परिषत्काः**) सामानिक और पारिषद जाति के देवों से सहित (**श्रीह्रीधृतिकीर्तिलक्ष्म्याः**) श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम की (**देव्यः**) देवियाँ क्रम से (**तन्निवासिन्यः**) उन सरोवरों के कमलों पर निवास करती हैं[१] ॥१९॥

१. उक्त कमलों की कर्णिका के मध्य भाग में एक कोश लम्बे आधे कोश चौड़े और कुछ कम एक कोश ऊँचें सफेद रंग के भवन बने हुए हैं। उन्हीं में ये देवियाँ रहती हैं तथा उन्हीं तालाबों में जो अन्य परिवार कमल हैं उन पर सामानिक और पारिषद् देव रहते हैं।

ह्रदों का विस्तार आदि

क्र.	ह्रद नाम	स्थान	लम्बाई	ऊँचाई	गहराई	कमल	देवी
1	पद्म	हिमवन	1000 योजन	500 योजन	10 योजन	1 योजन	श्री
2	महापद्म	महाहिमवन	2000 योजन	1000 योजन	20 योजन	2 योजन	ह्री
3	तिगिञ्छ	निषध	4000 योजन	2000 योजन	40 योजन	4 योजन	धृति
4	केशरी (केशरिन्)	नील	4000 योजन	2000 योजन	40 योजन	4 योजन	कीर्ति
5	महापुण्डरीक	रुक्मि	2000 योजन	1000 योजन	20 योजन	2 योजन	बुद्धि
6	पुण्डरीक	शिखरिन्	1000 योजन	500 योजन	10 योजन	1 योजन	लक्ष्मी

द्वीप - जो स्थल चारों ओर जल से घिरा हो उसे द्वीप कहते हैं तथा जो स्थान तीन ओर जल से एक ओर स्थल से जुड़ा हो उसे प्रायद्वीप कहते है - जैसे भारत देश।

चौदह महानदियों के नाम

गङ्गा-सिन्धु-रोहिद्-रोहितास्या हरिद्धरिकान्ता-सीता-सीतोदा-नारी- नरकान्ता स्वर्ण रुप्यकूला रक्ता रक्तोदा सरितस्-तन् मध्यगाः ॥२०॥

अर्थः- गङ्गा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला और रक्ता, रक्तोदा ये चौदह नदियाँ जम्बूद्वीप के (मध्यगाः) पूर्वोक्त ७ क्षेत्रों के बीच में बहती हैं।

विशेषः-पहले पदम् और छठवें पुण्डरीक नामक सरोवर से तीन-तीन नदियाँ निकली हैं तथा बाकी के सरोवर से दो-दो नदियाँ निकली हैं। नदियों और क्षेत्रों का क्रम इस प्रकार है-**भरतक्षेत्र** में गंगा, सिन्धु, **हैमवत** में-रोहित, रोहितास्या, **हरि** में- हरित-हरिकान्ता, **विदेह** में-सीता, सीतोदा, **रम्यक** में-नारी नरकांता, **हैरण्यवत** में- सुवर्णकूला, रूप्यकूला और **ऐरावत** में- रक्ता - रक्तोदा नदियाँ बहती हैं।

नोट : पद्म सरोवर से गंगा सिन्धु-रोहितास्या, महापद्म से रोहित-हरित, तिगिञ्छ से हरित्-सीता, केसरी से सीतोदा नारी, महापुण्डरीक से नरकान्ता रूप्यकूला पुण्डरीक से सुवर्ण कूला रक्ता रक्तोदा नदियाँ निकलती हैं।

नदियों में बहने का क्रम

द्वयोर्-द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

अर्थः- सूत्र के क्रमानुसार गंगा, सिंधु इत्यादि **(द्वयोर्-द्वयोः)** दो-दो नदियों में से **(पूर्वाः पूर्वगाः)** पहली-पहली नम्बर वाली नदियाँ पूर्व समुद्र में जाती हैं। जैसे- गंगा-सिन्धु में से गंगा नदी आदि॥२१॥

शेषास्-त्वपरगाः ॥२२॥

अर्थः- **(शेषास्)** बाकी बची हुई सात नदियाँ **(अपरगाः)** पश्चिम की ओर जाती हैं। **जैसेः**-गंगा सिन्धु में से सिन्धु आदि॥ २२॥

महानदियों की सहायक नदियाँ

चतुर्दश नदी सहस्र परिवृता गङ्गा-सिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

अर्थः- **(गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः)** वे गंगा, सिन्धु आदि नदियों के युगल **(चतुर्दश नदी सहस्र परिवृता)** चौदह हजार सहायक नदियों से घिरे हुए हैं।

नोटः- सहायक नदियों का क्रम भी विदेहक्षेत्र तक आगे-आगे के युगलों में पूर्व के युगलों से दूना दूना है और उत्तर के तीन क्षेत्रों में दक्षिण के विपरीत तीन क्षेत्रों के समान हैं ॥ २३॥

नदी युगल	**सहायक नदी संख्या**
गंगा सिन्धु	१४ हजार
रोहित-रोहितास्या	२८ हजार
हरित-हरिकान्ता	५६ हजार
सीता-सीतोदा	१ लाख बारह हजार
नारी-नरकांता	५६ हजार
सुवर्णकूला-रूप्यकूला	२८ हजार
रक्ता-रक्तोदा	१४ हजार

भरतः षड्विंशति पञ्चयोजन शत विस्तारः षट् चैकोनविंशति भागा योजनस्य ॥२४॥

अर्थः-**(भरतः)** भरतक्षेत्र **(षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः)** पाँच सौ छब्बीस योजन विस्तारवाला **(च)** और **(योजनस्य)** एक योजन के **(एकोनविंशतिभागाः)** उन्नीस भागों में से **(षट्)** छह भाग अधिक है।

भावार्थः- भरत क्षेत्र का विस्तार ५२६ योजन है ॥ २४॥[१]

आगे के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार

तद् द्विगुण द्विगुण विस्तारा वर्षधर वर्षा विदेहान्ताः ॥ २५॥

अर्थः- **(विदेहान्ताः)** विदेहक्षेत्र पर्यन्त के **(वर्षधरवर्षा)** पर्वत और क्षेत्र **(तद्द्विगुणद्विगुण)** भरत क्षेत्र से दूने-दूने विस्तार वाले हैं॥ २५॥

विदेहक्षेत्र के आगे के पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार

उत्तरा-दक्षिणतुल्याः ॥ २६॥

अर्थः- विदेहक्षेत्र से उत्तर के तीन पर्वत और तीन क्षेत्र (दक्षिणतुल्याः) दक्षिण के पर्वत और क्षेत्रों के समान विस्तार वाले हैं ॥ २६॥ इनका क्रम इस प्रकार है:-

भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र का परिवर्तन

भरतैरावतयोर्-वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्या-मुत्सर्पिण्-यवसर्पिणीभ्याम् ॥२७॥

अर्थः- **(षट्समयाभ्याम्)** छह कालों से युक्त **(उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्)** उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा **(भरतैरावतयोः)** भरत और ऐरावत क्षेत्र में

१. भरत और ऐरावत क्षेत्र के बीच में पूर्व व पश्चिम तक लम्बे विजयार्द्ध पर्वत हैं। जिनमें गङ्गा-सिन्धु और रक्ता-रक्तोदा नदियों के कारण दोनों क्षेत्रों के छह-छह खण्ड हो जाते हैं। उनमें बीच का आर्यखंड और शेष के पाँच म्लेच्छखण्ड कहलाते हैं। तीर्थंकर आदि पदवीधारी पुरुष भरत, ऐरावत के आर्यखण्ड में और विदेहक्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं।

क्षेत्र और पर्वत	विस्तार	ऊँचाई	गहराई
भरत क्षेत्र	$526\frac{6}{19}$ योजन	+	+
हिमवत् कुलाचल	$1052\frac{12}{19}$ योजन	100 योजन	25 योजन
हैमवत् क्षेत्र	$2105\frac{6}{19}$ योजन	+	+
महाहिमवत् कुलाचल	$4210\frac{10}{19}$ योजन	200 योजन	50योजन
हरिक्षेत्र	$8421\frac{1}{19}$ योजन	+	
निषध कुलाचल	$16842\frac{2}{19}$ योजन	400 योजन	100 योजन
विदेह क्षेत्र	$33684\frac{4}{19}$ योजन	+	+
नील कुलाचल	$16842\frac{2}{19}$ योजन	400 योजन	100 योजन
रम्यक् क्षेत्र	$8421\frac{1}{19}$ योजन	+	
रुक्मि कुलाचल	$4210\frac{10}{19}$ योजन	200 योजन	50 योजन
हैरण्यवत क्षेत्र	$1105\frac{10}{19}$ योजन	+	
शिखरी कुलाचल	$1052\frac{12}{19}$ योजन	100 योजन	25 योजन
ऐरावत क्षेत्र	$526\frac{6}{19}$ योजन	+	+

जीवों के अनुभव आदि की **(वृद्धिह्रासौ)** बढ़ती तथा न्यूनता होती रहती है।

भावार्थः- बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। उसके दो भेद हैं- १. **उत्सर्पिणी**-जिसमें जीवों के ज्ञान आदि की वृद्धि होती है और २. **अवसर्पिणी**- जिसमें जीवों के ज्ञान आदि का ह्रास होता है। अवसर्पिणी के छह भेद हैं- १.सुषमासुषमा २. सुषमा, ३. सुषमादुषमा, ४. दुषमासुषमा, ५. दुषमा और ६. अतिदुषमा। इसी प्रकार उत्सर्पिणी के भी अतिदुषमा, दुषमा, दुषमा सुषमा, सुषमा दुषमा, सुषमा, सुषमा सुषमा छह भेद हैं।

इन छह भेदों के काल का नियम इस प्रकार है- **१. सुषमासुषमा**- चार कोड़ाकोड़ी सागर, **२. सुषमा**- तीन कोड़ाकोड़ी सागर, **३. सुषमादुषमा**- दो कोड़ाकोड़ी सागर, **४. दुषमा-सुषमा**- व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर, **५. दुषमा**- इक्कीस हजार वर्ष, **६. अतिदुषमा**- इक्कीस हजार वर्ष का कुल दस कोड़ाकोड़ी सागर होता है। भरत और ऐरावत क्षेत्र में इन छह भेदों

सहित उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का परिवर्तन होता रहता है। असंख्यात अवसर्पिणी बीत जाने के बाद एक हुण्डावसर्पिणी काल होता है। अभी हुण्डावसर्पिणी काल चल रहा है ॥ २७॥

नोटः- भरत और ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी म्लेच्छखण्डों तथा विजयार्ध पर्वत की श्रेणियों में अवसर्पिणी काल के समय चतुर्थकाल के आदि से लेकर अन्त तक परिवर्तन होता है, और उत्सर्पिणी काल के समय तृतीय काल के अन्त से लेकर आदि तक परिवर्तन होता है। इनमें आर्यखण्डों की तरह छहों कालों का परिवर्तन नहीं होता है और न इनमें प्रलय काल पड़ता है।

अन्य भूमियों की व्यवस्था

ताभ्या-मपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥२८॥

अर्थः- **(ताभ्याम्)** भरत और ऐरावत के सिवाय **(अपराः)** अतिरिक्त अन्य **(भूमयः)** क्षेत्र **(अवस्थिताः)** एक ही अवस्था में रहते हैं- उनमें काल का परिवर्तन नहीं होता॥२८॥

हैमवत आदि क्षेत्रों में आयु की व्यवस्था

एक-द्वि-त्रि-पल्योपम-स्थितयो-हैमवतक-हारिवर्षक दैवकुरवकाः ॥२९॥

अर्थः- हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरू [विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत एक विशेष स्थान] के निवासी मनुष्य, तिर्यंच क्रम से एक पल्य दो पल्य और तीन पल्य की आयु वाले होते हैं [१] ॥ २९॥

हैरण्यवत आदि क्षेत्रों में आयु की व्यवस्था

तथोत्तराः ॥३०॥

अर्थः- **(तथा)** और **(उत्तराः)** उत्तर के क्षेत्रों में रहने वाले मनुष्य भी हैमवत आदि के मनुष्यों के समान आयु वाले होते हैं।

भावार्थः- हैरण्यवत क्षेत्र की रचना हैमवत क्षेत्र के समान, रम्यक की रचना हरिक्षेत्र के समान और उत्तरकुरू **(विदेहक्षेत्र के अन्तर्गत स्थान-विशेष)** की रचना देवकुरू के समान है। इस प्रकार उत्तम, मध्यम और जघन्यरूप तीनों भोगभूमियों के दो-दो क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीप में छः भोगभूमियाँ और अढ़ाईद्वीप में

१. इन तीन क्षेत्रों में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई क्रम से एक, दो और तीन कोश की होती है। शरीर का रंग क्रम से नील, शुक्ल और पीत होता है। दो हजार धनुष का एक कोश होता है और चार हाथ का एक धनुष होता है। शरीर की अवगाहना छोटे योजन से होती है। चार कोश का छोटा योजन होता है।

कुल ३० भोगभूमियाँ हैं[1] ॥ ३०॥

विदेहक्षेत्र में आयु की व्यवस्था

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१॥

अर्थः- (**विदेहेषु**) विदेह क्षेत्र में मनुष्य और तिर्यंच (**संख्येयकालाः**) संख्यात वर्ष की आयु वाले होते हैं[2] ॥३१॥

भरत क्षेत्र का अन्य प्रकार से विस्तार

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

अर्थः- (**भरतस्य विष्कम्भो**) भरत क्षेत्र का विस्तार (**जम्बूद्वीपस्य**) जम्बूद्वीप के (**नवतिशतभागः**) एक सौ नव्वे वाँ भाग है।

नोटः- २३वे सूत्र में भरत क्षेत्र का जो विस्तार बतलाया है उसमें और इसमें कोई भेद नहीं है। सिर्फ कथन करने का प्रकार दूसरा है। यदि एक लाख के एक सौ नब्बे हिस्से किये जायें तो उनमें हर एक का प्रमाण ५२६ योजन होगा ॥ ३२॥

धातकीखण्डका वर्णन

द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥

अर्थः- (**धातकीखण्ड**) धातकीखण्ड[3] नामक दूसरे द्वीप में क्षेत्र, कुलाचल] मेरु नदी आदि समस्त पदार्थों की रचना जम्बूद्वीप से (**द्विः**[1]) दूनी-दूनी है ॥ ३३॥

पुष्करवर द्वीप का वर्णन

पुष्करार्द्धे च ॥३४॥

अर्थः- (**च**)और (**पुष्करार्द्धे**) पुष्करार्द्ध द्वीप में भी जम्बूद्वीप की अपेक्षा सब रचना दूनी-दूनी है।

विशेषः- पुष्करवर द्वीप का विस्तार १६ लाख योजन है, उसके ठीक बीच में चूड़ी के आकार का मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है, जिससे इस द्वीप के दो हिस्से हो गये हैं। पूर्वार्ध में सब रचना धातकीखण्ड के समान है और जम्बूद्वीप से दूनी-

१. जिनमें सब तरह की भोगोपभोग की सामग्री कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं उन्हें भोगभूमि कहते हैं।
२. विदेहक्षेत्र में मनुष्यों की ऊँचाई पाँच सौ धनुष और आयु एक करोड़ वर्ष पूर्व की होती है। चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गों का एक पूर्व होता है। एक पूर्व में एक करोड़ का गुणा करने पर एक करोड़ पूर्व होता है।
३. धातकीखण्ड द्वीप लवणसमुद्र को घेरे हुए है इसका विस्तार ४ लाख योजन है। इसके उत्तरकुरू में प्रान्त में धातकी (आंवला) का वृक्ष है, उसके संयोग से इसका नाम धातकीखण्ड पड़ा है।

दूनी है। इस द्वीप के उत्तरकुरूप्रान्त में एक पुष्कर [कमल] है, उसके संयोग से ही उसका नाम पुष्करवर द्वीप पड़ा है ॥ ३४॥

मनुष्य क्षेत्र

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥३५॥

अर्थः- (**मानुषोत्तरान्**) मानुषोत्तर पर्वत के (**प्राङ्**) पहले अर्थात् अढ़ाईद्वीप[1] में ही (**मनुष्याः**) मनुष्य होते हैं। मानुषोत्तर पर्वत के आगे ऋद्धिधारी मुनीश्वर तथा विद्याधर भी नहीं जा सकते ॥३५॥

मनुष्यों के भेद

आर्या-म्लेच्छाश्च ॥३६॥

अर्थः- (**आर्या**) आर्य (**च**) और (**म्लेच्छाश्**) म्लेच्छ के भेद से मनुष्य दो प्रकार के होते हैं।

आर्यः- जो अनेक गुणों से सम्पन्न हों तथा गुणी पुरुष जिनकी सेवा करें उन्हें आर्य कहते हैं।

म्लेच्छः- जो आचार विचार से भ्रष्ट हों तथा जिन्हें धर्म कर्म का कुछ विवेक न हो उन्हें म्लेच्छ कहते हैं॥ ३६॥

नोटः- आर्यों के २ भेद (१) ऋद्धि प्राप्त आर्य (बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषधि, रस, अक्षीण) (२) अनऋद्धि प्राप्त आर्य (क्षेत्रादि आर्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य, दर्शनार्य) एवं म्लेच्छ भी २ प्रकार के होते हैं (१) क्षेत्रार्य (२) कर्मार्य।

कर्मभूमि का वर्णन

भरतैरावत-विदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र-देवकुरुत्तर-कुरुभ्यः॥ ३७॥

अर्थः- पाँच[2] मेरुसम्बन्धी (**भरतैरावतविदेहा अन्यत्र देव कुरुत्तर कुरुभ्यः**) ५ भरत, ५ ऐरावत और देवकुरु उत्तरकुरु को छोड़कर ५ विदेह, इस तरह अढ़ाई द्वीप में कुल (**कर्मभूमयो**) १५कर्मभूमियाँ हैं।

कर्मभूमिः- जहाँ पर असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प इन छह कर्मों की प्रवृत्ति हो उसे कर्मभूमि कहते हैं॥ ३७॥

१. जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि और पुष्करार्द्ध इतना क्षेत्र अढ़ाईद्वीप कहलाता है। इसका विस्तार ४५ लाख योजन है।
१. जम्बूद्वीप का १, धातकी खण्ड के २ और पुष्करार्द्ध के २ इस प्रकार कुल ५ मेरु होते हैं। इसी प्रकार ५ भरत क्षेत्र, ५ ऐरावत क्षेत्र, ५ विदेह भी माने गये हैं।

मनुष्यों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते॥ ३८॥

अर्थः- (**नृ**) मनुष्यों की (**परास्थिति**) उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और (**अपरान्तर्मुहूर्ते**) जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है॥३८॥

विशेष- मनुष्यों में उत्कृष्ट तीन पल्य की आयु भोगभूमि जीवों की तथा अन्तमुर्हूर्त जघन्य आयु कर्म भूमि में होती है यह विशेष जानना चाहिए तथा इसके अन्य अनेक विकल्प हैं।

तिर्यंचों की स्थिति

तिर्यग्-योनिजानां च ॥ ३९॥

अर्थः- (**च**) और (**तिर्यग्-योनिजानां**) तिर्यंचों की भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति क्रम से तीन पल्य और अन्तर्मुहर्त की है॥३९॥

चतुर्थ अध्याय

देवों के भेद

देवाश्-चतुर्णिकायाः ॥१॥

अर्थः- (**देवाश्**) देव (**चतुर्णिकायाः**) चार समूहवाले हैं अर्थात् देवों के चार भेद हैं। जैसे- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं इसी प्रकार। १-भवनवासी, २-व्यन्तर, ३-ज्योतिष्क और ४-वैमानिक या कल्पवासी।

देवः- जो देवगति नामकर्म के उदय की सामर्थ्य से विक्रिया द्वारा नाना द्वीप समुद्र तथा पर्वत आदि रमणीक स्थानों पर क्रीड़ा करें वे देव कहलाते हैं॥१॥

भवनत्रिक देवों में लेश्या का विभाग

आदितस्-त्रिषु पीतान्त लेश्याः ॥२॥

अर्थः- (**आदितस्-त्रिषु**) पहले के तीन निकायों में (**पीतान्त लेश्याः**) पीतान्त अर्थात् कृष्ण, नील, कपोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं॥ ॥

चार निकायों के प्रभेद

दशाष्ट पंच द्वादश विकल्पाः कल्पोपपन्न पर्यन्ताः ॥३॥

अर्थः- (**कल्पोपपन्न पर्यंत**) [सोलहवें स्वर्ग तक के देव] पर्यंत उक्त चार प्रकार के देवों के क्रम से दश, आठ, पाँच और बारह (**विकल्पाः**) भेद हैं॥ ३॥

चार प्रकार के देवों के सामान्य भेद

इंद्र सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषदात्मरक्ष लोकपालानीक प्रकीर्णकाभियोग्य किल्विषिकाश्-चैकशः ॥४॥

अर्थः- उक्त चार प्रकार के देवों में (**चैकशः**) प्रत्येक के (**इन्द**) इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक ये दस भेद होते हैं॥ ॥

इन्द्रः- जो देव, दूसरे देवों में नहीं रहने वाली अणिमा आदि ऋद्धियों से सहित हों उन्हें इन्द्र कहते हैं। ये देव, राजा के तुल्य होते हैं आज्ञा और ऐश्वर्य सहित होते हैं।

सामानिकः- जिनकी आयु, वीर्य, भोग, उपभोग आदि इन्द्र के तुल्य हों, पर आज्ञा और ऐश्वर्य से रहित हों, उन्हें सामानिक कहते हैं।

त्रायस्त्रिंशः- जो देव मंत्री पुरोहित के स्थानापन्न हों उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। ये देव एक इन्द्र की सभा में तेतीस ही होते हैं अतः त्रायस्त्रिंश कहे जाते हैं।

पारिषदः- जो देव इन्द्र की सभा में बैठने वाले हों या पार्षद के समान हो उन्हें पारिषद कहते हैं।

आत्मरक्षः- जो देव अंगरक्षक के सदृश होते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं।

लोकपालः- जो कोतवाल के समान लोक का पालन करते हैं उन्हें लोकपाल कहते हैं।

अनीकः- जो देव पदाति आदि सात तरह की सेना में विभक्त रहते हैं वे अनीक कहलाते हैं।

प्रकीर्णकः- जो देव नगरवासियों के समान हों उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं।

आभियोग्यः- जो देव दासों के समान सवारी आदि के काम आवें वे आभियोग्य हैं।

किल्विषिकः- जो देव चाण्डालादि की तरह नीच काम करने वाले हों उन्हें किल्विषिक कहते हैं।

व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में इन्द्र आदि भेदों की विशेषता

त्रायस्त्रिंश लोकपाल वर्ज्या व्यन्तर ज्योतिष्काः॥ ५॥

अर्थः- व्यन्तर और ज्योतिषी देव त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल दो भेदों से रहित हैं॥ ५॥

देवों में इन्द्रों की व्यवस्था

पूर्वयोर्-द्वीन्द्राः॥ ६॥

अर्थः- भवनवासी और व्यन्तरों में प्रत्येक भेद में दो-दो इन्द्र होते हैं।

भावार्थः- भवनवासियों के दश भेदों में बीस और व्यन्तरों के आठ भेदों में सोलह इन्द्र होते हैं तथा इतने ही प्रतीन्द्र होते हैं॥ ६॥

देवों में स्त्रीसुख का वर्णन

कायप्रवीचारा आ ऐशानात्॥ ७॥

अर्थः- **(आ ऐशानात्)** ऐशान स्वर्ग पर्यन्त के देव अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले दूसरे अर्थात् सौधर्म ईशान स्वर्ग के देव **(काय प्रवीचाराः)** मनुष्यों के समान शरीर से काम सेवन करते हैं। प्रवीचार अर्थात् काम सेवन॥ ७॥

शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचाराः॥ ८॥

अर्थः- शेष स्वर्ग के देव, देवियों के स्पर्श से, रूप देखने से, शब्द सुनने से, मन के विचारने से कामसेवन करते हैं। अर्थात् तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव देवाङ्गनाओं के स्पर्श से, पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें स्वर्ग के देव देवियों के रूप देखने से, नौवें, दशवें, ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग के देव देवियों के शब्द सुनने से तथा तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें स्वर्ग के देव देवाङ्गनाओं के मन के विचारने मात्र से तृप्त हो जाते हैं- उनकी कामेच्छा शान्त हो जाती है॥ ८॥

परेऽप्रवीचारा ॥९॥

अर्थः- सोलहवें स्वर्ग से आगे देव काम सेवन से रहित होते हैं। इनके कामेच्छा ही उत्पन्न नहीं होती, तब उनके प्रतिकार से क्या प्रयोजन?॥ ९॥

भवनवासियों के दश भेद

भवनवासिनोऽसुर नाग विद्युत सुपर्णाग्नि वातस्तनितोदधि द्वीप दिक्कुमाराः॥१०॥

अर्थः- भवनवासी देवों के असुरकुमार, नागकुमार, विद्युतकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार

१. असुरकुमार को छोड़कर ९ प्रकार के भवनवासीदेव और राक्षसको छोड़कर ७ प्रकार के व्यन्तर देव रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर के खर भाग में रहते हैं तथा असुरकुमार और राक्षस उसी पृथ्वी के पंक भाग में रहते हैं, इसके सिवाय व्यन्तर देवों का मध्यलोक में भी कई जगह निवास है।

ये दश भेद हैं[१] ॥ १०॥

व्यन्तर देवों के आठ भेद

व्यन्तराः किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः॥११॥

अर्थः- व्यन्तरदेव- किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच इस प्रकार आठ तरह के भेद होते हैं ॥ ११॥

ज्योतिष्क देवों के पाँच भेद

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह नक्षत्र प्रकीर्णक-तारकाश्च ॥१२॥

अर्थः- ज्योतिष्क देव- सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक अर्थात् यत्र तत्र बिखरे हुए तारों के भेद से पाँच प्रकार के हैं।

नोटः- ज्योतिष्क देवों का निवास मध्यलोक के समधरातल से ७९० योजन की ऊँचाई से लेकर ९०० योजन की ऊँचाई तक आकाश में है ॥ १२॥

ज्योतिष्कदेवों का विशेष वर्णन

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१३॥

अर्थः- ऊपर कहे हुए, ज्योतिष्कदेव **(नृलोके)** मनुष्य लोक में **(मेरुप्रदक्षिणा)** मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए **(नित्यगतयः)** हमेशा गमन करते रहते हैं[१]॥ १२॥

तत्कृतः कालविभागः ॥१४॥

अर्थः- **(कालविभागः)** घड़ी, घण्टा, दिन-रात आदि व्यवहार काल का विभाग **(तत्कृतः)** उन्हीं गतिशील ज्योतिष्क देवों के द्वारा किया गया है॥१३॥

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

अर्थः- मनुष्यलोक-अढ़ाई द्वीप से बाहर ज्योतिष्क देव स्थिर हैं॥ १५॥

कल्पवासी देवों का वर्णन

वैमानिकाः ॥१६॥

अर्थः- अब यहाँ से वैमानिक देवों का वर्णन शुरू होता है।

विमानः- जिसमें रहने वाले देव अपने को विशेष पुण्यात्मा समझें उन्हें विमान कहते हैं और विमानों में जो पैदा हों उन्हें वैमानिक कहते हैं॥ १६॥

१. जम्बूद्वीप में २, लवणसमुद्र में ४ , धातकीखण्ड में १२, कालोदधि में ४२, और पुष्करार्द्ध में ७२ सूर्य तथा इतने ही चन्द्रमा हैं। जो मेरुपर्वत से ११२१ योजन दूरी पर घूमते हैं।

वैमानिक देवों के भेद

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥

अर्थः- वैमानिक देवों के दो भेद हैं- १ -कल्पोपपन्न और २-कल्पातीत। जिनमें इन्द्र आदि दश भेदों की कल्पना होती है ऐसे सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं, उनमें जो पैदा हों उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं। और जो सोलहवें स्वर्ग से ऊपर पैदा हों उन्हें कल्पातीत कहते हैं॥ १७॥

कल्पों का स्थितिक्रम

उपर्युपरि ॥१८॥

अर्थः- सोलह स्वर्गों के आठ युगल, नव ग्रैवेयक (अधो, मध्य, उपरिम ३-३ के क्रम से हैं), नव अनुदिश (ऊपर-ऊपर १-१ ही हैं) और पाँच अनुत्तर (चारों विदिशाओं में १-१ और मध्य में सर्वार्थसिद्धि है) ये सब विमान क्रम से ऊपर-ऊपर हैं॥ १८॥

वैमानिक देवों के रहने का स्थान

सौधर्मैशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र, शतार-सहस्रारेष्वानत प्राणतयोरारणाच्युतयोर्-नवसुग्रेवेयकेषु विजय वैजयन्त जयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च॥१९॥

अर्थः- सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार इन छह युगलों के बारह स्वर्गों में, आनत-प्राणत, इन दो स्वर्गों में आरण-अच्युत इन दो स्वर्गों में, नव ग्रैवेयक[१] विमानों में नवअनुदिश[२] विमानों में और विजय-वैजयन्त जयन्त-अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव रहते हैं॥ १९॥

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर अधिकता

स्थिति प्रभाव सुख द्युति लेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि विषयतोऽधिकाः ॥२०॥

अर्थः- वैमानिक, देव-आयु, प्रभाव, सुख द्युति, लेश्या की विशुद्धता, इन्द्रिय विषय और अवधिज्ञान का विषय इन सबकी अपेक्षा ऊपर-ऊपर विमानों में अधिक-अधिक हैं ॥ २०॥

१. नव ग्रैवेयक- सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध, यशोधर, सुभद्र, विशाल, सुमन, सौमनस और प्रीतिंकर।
२. नव अनुदिश- आदित्य, अर्चि, अर्चिमाली, वैरोचन, प्रभास, अर्चिप्रभ, अर्चिमध्य, अर्चिरावर्त और अर्चिविशिष्ट।

नोटः- इस सूत्र में यद्यपि अनुदिश विमानों का पाठ नहीं है तथापि 'नवसु' पद से ग्रहण कर लेना चाहिए।

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर हीनता

गति शरीर परिग्रहाऽभिमानतो हीनाः ॥२१॥

अर्थः- ऊपर-ऊपर के देव, गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा हीन-हीन हैं।

नोटः- सोलहवें स्वर्ग से आगे के देव अपने विमान को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाते ॥ २१॥

वैमानिक देवों में शरीर की ऊँचाई का क्रम इस प्रकार है-

स्वर्ग	हाथ	स्वर्ग	हाथ
१-२	७		
३-४	६	१५-१६	३
५ से ८	५	अधोग्रैवेयक	२½
९ से १२	४	मध्यग्रैवेयक	२
१३-१४	३½	उपरिमग्रैवेयक, अनुदिश	१½
		अनुत्तर विमान	१

वैमानिक देवों में लेश्या का वर्णन

पीत पद्म शुक्ल लेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ॥२२॥

अर्थः- **(द्वित्रिशेषेषु)** दो युगलों में, तीन युगलों में तथा शेष के समस्त विमानों में क्रम से **(पीत पद्म शुक्ल लेश्याः)** पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होती है।

विशेषार्थः- पहले और दूसरे स्वर्ग में पीतलेश्या, तीसरे और चौथे स्वर्ग में पीत और पद्म लेश्या, पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें स्वर्ग में पद्मलेश्या, नवमें, दशवें, ग्यारहवें और बारहवें स्वर्ग में पद्म और शुक्ललेश्या तथा शेष समस्त विमानों में शुक्ललेश्या है। अनुदिश और अनुत्तर के विमानों में परम शुक्ललेश्या होती है॥ २२॥

कल्पसंज्ञा कहाँ तक है?

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥

अर्थः- **(ग्रैवेयकेभ्यः प्राक्)** ग्रैवेयकों से पहले-पहले के १६ स्वर्ग **(कल्पाः)** कल्प कहलाते हैं इससे आगे के विमान कल्पातीत हैं। नवग्रैवेयक वगैरह के देव

एक समान वैभव के धारी होते हैं वे अहमिन्द्र कहलाते हैं॥२३॥

लौकान्तिक देव

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥२४॥

अर्थः- ब्रह्मलोक (पाँचवाँ स्वर्ग) है आलय (निवास स्थान) जिनका ऐसे लौकान्तिक देव हैं।

नोटः- ये देव ब्रह्मलोक के अन्त में रहते हैं अथवा एक भवावतारी होने से लोक (संसार) का अन्त (नाश) करने वाले होते हैं। इसलिये लौकान्तिक कहलाते हैं। ये द्वादशांग के पाठी होते हैं, ब्रह्मचारी रहते हैं और तीर्थंकरों के सिर्फ तप कल्याणक में आते हैं। इन्हें 'देवर्षि' भी कहते हैं॥ २४॥

लौकान्तिक देवों के नाम

सारस्वतादित्य वह्निनयरुण गर्दतोय तुषिताऽव्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥

अर्थः- १. सारस्वत, २. आदित्य, ३. वह्नि, ४. अरुण, ५. गर्दतोय, ६. तुषित, ७. अव्याबाध और ८. अरिष्ट ये आठ लौकान्तिक देव हैं। वे ब्रह्मलोक की ऐशान आदि क्रमशः आठों दिशाओं में रहते हैं॥ २५॥

अनुदिश तथा अनुत्तरवासी देवों में अवतार का नियम

विजयादिषु द्वि चरमाः ॥२६॥

अर्थः- विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र द्विचरम होते हैं, अर्थात मनुष्यों के दो जन्म लेकर नियम से मोक्ष चले जाते हैं। किन्तु सर्वार्थासिद्धि के अहमिन्द्र एक भवावतारी ही होते हैं॥ २६॥

तिर्यञ्च कौन हैं ?

औपपादिक मनुष्येभ्यः शेषास्-तिर्यग्-योनयः ॥२७॥

अर्थः- उपपाद जन्मवाले-देव, नारकी तथा मनुष्यों से अतिरिक्त जीव **(तिर्यग्योनयः)** तिर्यञ्च हैं। एकेन्द्रिय तिर्यञ्च समस्त संसार में व्याप्त हैं। परन्तु त्रसजीव त्रसनाली में ही रहते हैं॥२७॥

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु का वर्णन

स्थिति-रसुर नाग सुपर्ण द्वीप शेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्ध हीनमिताः ॥२८॥

अर्थः- भवनवासियों में असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष ६ कुमारों की आयु क्रम से १ सागर, ३ पल्य, २.५ पल्य, २ पल्य और

१.५ पल्य है ॥ २८॥

वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु[1]

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥

अर्थः- सौधर्म ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु दो सागर से कुछ अधिक है।[2] ॥ २९॥

नोटः- यहाँ 'सागरोपम' इस द्विवचनान्त प्रयोग से ही दो सागर अर्थ किया जाता है

सानत्कुमार माहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥

अर्थः- सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की आयु सात सागर से कुछ अधिक है।

नोटः- इस सूत्र में अधिक शब्दों की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से हुई है ॥३०॥

त्रि सप्त नवैकादश त्रयोदश पंचदशभि-रधिकानि तु ॥३१॥

अर्थः- आगे के युगलों में ७ सागर से क्रमपूर्वक ३-७-९-११-१३ और १५ सागर अधिक आयु है। अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में १० सागर से कुछ अधिक, लान्तव और कापिष्ट स्वर्ग में १४ सागर से कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग में १६ सागर से कुछ अधिक, सतार और सहस्रार स्वर्ग में १८ सागर से कुछ अधिक,[3] आनत और प्राणत स्वर्ग में २० सागर तथा आरण और अच्युत स्वर्ग में २२ सागर उत्कृष्ट स्थिति है॥ ३१॥

आरणाच्युतादूर्ध्व-मेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु
विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥

अर्थः- **(आरणाच्युतात्)** आरण और अच्युत स्वर्ग से **(उर्ध्वम्)** ऊपर **(नवसुग्रैवेयकेषु)** नवग्रैवेयकों में **(विजयादिषु)** विजय आदि चार विमान तथा नव अनुदिशों में[4] **(च)** और **(सर्वार्थ सिद्धौ)** सर्वार्थसिद्धि विमान में **(एकैकेन)** एक -एक सागर बढ़ती हुई आयु है। अर्थात् पहले ग्रैवेयक में २३ सागर, दूसरे में २४ सागर आदि। अनुदिशों में ३२ सागर और अनुत्तरों में ३३ सागर

१. यद्यपि भवनवासियों के बाद व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों की आयु बतलाने का क्रम है तथापि लाघव के ख्याल से यहाँ क्रमभंग कर वैमानिक देवों की आयु बतला रहे हैं।

२. यह अधिकता घातायुष्क जीवों की अपेक्षा है। जिन्होंने पहले ऊपर के स्वर्गों की आयु बाँध ली थी, बाद में संक्लेश परिणामों के कारण आयु में ह्रास होकर नीचे स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं वे घातायुष्क कहलाते हैं, ऐसे देवों की आयु अन्य देवों की अपेक्षा आधा सागर अधिक होती है।

३. सूत्र में 'तु' शब्द होने के कारण अधिक शब्द का सम्बन्ध १२वें स्वर्ग तक ही होता है, क्योंकि घातायुष्क जीवों की उत्पत्ति यहीं तक होती है।

४. आदि शब्द के 'प्रकारार्थक' होने से अनुदिश का भी ग्रहण होता है।

उत्कृष्ट स्थिति है॥ ३२॥

नोट:- सूत्र में 'सर्वार्थसिद्धौ' इस पद को विजयादिसे पृथक् कहने से सूचित होता है कि सर्वार्थसिद्धि में सिर्फ उत्कृष्ट स्थिति ही होती है।

स्वर्गों में जघन्य आयु का वर्णन

अपरा पल्योपम-मधिकम् ॥ ३३॥

अर्थ:- सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जघन्य आयु पल्य[१] से कुछ अधिक है॥३३॥

परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा ॥ ३४॥

अर्थ:- **(पूर्वापूर्वा)** पहले-पहले युगल की उत्कृष्ट आयु **(परतः परतः)** आगे आगे के युगलों में **(अनन्तरा)** जघन्य आयु है। जैसे सौधर्म और ऐशान स्वर्ग की जो उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक दो सागर की है वह सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग में जघन्य आयु है। इसी क्रम से आगे जानना चाहिए। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती॥३४॥

नारकियों की जघन्य आयु

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५॥

अर्थ:- और इसी प्रकार दूसरे आदि नरकों में भी नारकियों की जघन्य आयु है। अर्थात् पहले नरक की उत्कृष्ट आयु दूसरे नरक की जघन्य आयु है। इसी तरह समस्त नरकों में जानना चाहिए॥३५॥

प्रथम नरक की जघन्य आयु

दशवर्ष-सहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६॥

अर्थ:- पहले नरक में नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्षों की है॥ ३६॥

नोट- 'तेष्वेकत्रि सप्त दश सप्तदश द्वाविंशति त्रायश्त्रिंशत् सत्वानां पर: स्थिति' इस सूत्र के अनुसार नारकियों की जघन्य स्थिति क्रमश: दूसरे नर्क की 1 सागर तीसरे की 3 सागर चौथे की 7 सागर पाँचवे की 10 सागर छठवें की सत्रह सागर सातवें की 22 सागर जानना चाहिए।

भवनवासियों की जघन्य आयु

भवनेषु च ॥ ३७॥

अर्थ:- भवनवासियों में भी जघन्य आयु दस हजार वर्षों की है॥ ३७॥

व्यन्तरों की जघन्य आयु

१. असंख्यात वर्षों का एक पल्य होता है और दश कोड़ाकोड़ी पल्यों का एक सागर होता है।

व्यन्तराणां च ॥ ३८॥

अर्थ:- व्यन्तर देवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्षों की है॥ ३८॥

व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु

परा पल्योपम-मधिकम् ॥३९॥

अर्थ:- व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है ॥३९॥

ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु

ज्योतिष्काणाम् च ॥४०॥

अर्थ:- ज्योतिष्क देवों की भी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य की है॥४०॥

ज्योतिष्क देवों की जघन्य आयु

त-दष्टभागोऽपरा ॥४१॥

अर्थ:- ज्योतिष्क देवों की जघन्य आयु उस एक पल्य के आठवें भाग है ॥ ॥

लौकान्तिक देवों की आयु

लौकांतिकाना-मष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

अर्थ:- (सर्वेषाम्) समस्त (लौकांतिकानाम्) लौकांतिक देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु (अष्टौ सागरोपमाणि) आठ सागर प्रमाण है॥४२॥

इति श्री मदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रो चतुर्थोऽध्याय:

तीर्थंकर की दिव्य देशना, झेल रहे जो गणधर देव।
सप्त तत्त्व छह द्रव्य गुणों का, देती है सन्देश सदैव॥
भेद ज्ञान प्रगटाने वाली, करने वाली कर्म शमन।
ऊँकार मय जिनवाणी माँ को, हम भी करते विशद नमन॥

देवगति व्यवस्था (भवनत्रिक)

क्र.	देव भवनवासी	निवास	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊँचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
1	असुरकुमार	रत्नप्रभाका भाग	40	कृष्ण नील कापोत	24 धनुष	1 सागर	दस हजार	काय प्रवीचार
2	नागकुमार	रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर खर भाग में	दश प्रकार के देवों में 2-2 इन्द्र -20 दश प्रकार के देवों में 2-2 प्रतीन्द्र 20 कुल 40	जघन्य पीत	10 धनुष	3 पल्य	‘’	प्रवीचार
3	विद्युतकुमार			जघन्य पीत	10 धनुष	1½ पल्य		प्रवीचार
4	सुपर्णकुमार			जघन्य पीत	10 धनुष	2½ पल्य		प्रवीचार
5	अग्निकुमार			जघन्य पीत	10 धनुष	1½ पल्य	‘’	प्रवीचार
6	वातकुमार			जघन्य पीत	10 धनुष	1½ पल्य		प्रवीचार
7	स्तनितकुमार			जघन्य पीत	10 धनुष	1½ पल्य		प्रवीचार
8	उदधिकुमार			जघन्य पीत	10 धनुष	1½ पल्य		प्रवीचार
9	द्वीपकुमार			जघन्य पीत	10 धनुष	2 पल्य	‘’	प्रवीचार
10	दिक्कुमार			जघन्य पीत	10 धनुष	1½ पल्य		प्रवीचार

देवगति व्यवस्था (भवनत्रिक)

क्र.	देव	निवास	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊँचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
व्यंतर के12 भेद			32	कृष्ण, नील	10 धनुष	एक पल्य से	दस हजार वर्ष	काय
1	किन्नर	उपरिष्ट खर भाग		कापोत और	10 धनुष	कुछ अधिक		प्रवीचार
2	किम्पुरुष	उपरिष्ट खर भाग		जघन्य पीत	10 धनुष			
3	महोरग	उपरिष्ट खर भाग		जघन्य पीत	10 धनुष			
4	गन्धर्व	उपरिष्ट खर भाग		जघन्य पीत	10 धनुष			
5	यक्ष	उपरिष्ट खर भाग		जघन्य पीत	10 धनुष			
6	राक्षस	पंकबहुल भाग		जघन्य पीत	10 धनुष			
7	भूत	उपरिष्ट खर भाग		जघन्य पीत	10 धनुष			
8	पिशाच	उपरिष्ट खर भाग		जघन्य पीत	10 धनुष			
ज्योतिष्क के 5 भेद			2			कुछ अधिक	दस हजार वर्ष	काय प्रवीचार
1	सूर्य	पृथ्वी से 800 योजन		जघन्य पीत	7 धनुष	1 पल्य		
2	चन्द्र	पृथ्वी से 880 योजन		जघन्य पीत	7 धनुष			
3	ग्रह	पृथ्वी इसके आगे		जघन्य पीत	7 धनुष			
4	नक्षत्र	4+4+3+3+3+3			जघन्य पीत 7 धनुष			
5	प्रकीर्णक	पृथ्वी से 790 योजन		जघन्य पीत	7 धनुष			
	समान धरातल से 790 योजन की ऊँचाई से लेकर 900 योजन तक मध्यलोक में							

देवगति व्यवस्था (वैमानिक देव)

क्र.	देव	निवास	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊँचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
कल्प - 12 भेद								
1	सौधर्म-ऐशान	ऊर्ध्वलोक	24	पीत	7 हाथ	साधिक 2 सागर	साधिक 1 पल्य	काय
2	सानत्कुमार-माहेन्द्र	ऊर्ध्वलोक		पीत पद्म	6 हाथ	साधिक 7 सागर	साधिक 2 सागर	स्पर्श
3	ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर	ऊर्ध्वलोक		पद्मलेश्या	5 हाथ	साधिक 10 सागर	साधिक 7 सागर	रूप
4	लांतव-कापिष्ठ	ऊर्ध्वलोक		पद्मलेश्या	5 हाथ	साधिक 14 सागर	साधिक 10 सागर	रूप
5	शुक्र-महाशुक्र	ऊर्ध्वलोक		पद्मशुक्ल	4 हाथ	साधिक 16 सागर	साधिक 14 सागर	शब्द
6	शतार-सहस्त्रार	ऊर्ध्वलोक		पद्मशुक्ल	4 हाथ	साधिक 18 सागर	साधिक 16 सागर	शब्द
7	आनत-प्राणत	ऊर्ध्वलोक		शुक्ल	3½ हाथ	20 सागर	साधिक 18 सागर	मन
8	आरण-अच्युत	ऊर्ध्वलोक		शुक्ल	3 हाथ	22 सागर	20 सागर	मन
गैवेयक					**अहमिन्द्र**			
	सुदर्शन	ऊर्ध्वलोक		शुक्ल	2½ हाथ	23 सागर	22 सागर	अप्रवीचार
	अमोघ	ऊर्ध्वलोक		शुक्ल	2½ हाथ	24 सागर	23 सागर	अप्रवीचार
	सुप्रबुद्ध	ऊर्ध्वलोक		शुक्ल	2½ हाथ	25 सागर	24 सागर	अप्रवीचार
	यशोधर	ऊर्ध्वलोक		शुक्ल	2 हाथ	26 सागर	25 सागर	अप्रवीचार
	सुभद्र	ऊर्ध्वलोक		शुक्ल	2 हाथ	27 सागर	26 सागर	अप्रवीचार
	विशाल	ऊर्ध्वलोक		शुक्ल	2 हाथ	28 सागर	27 सागर	अप्रवीचार
	सुमन	ऊर्ध्वलोक		शुक्ल	1½ हाथ	29 सागर	28 सागर	अप्रवीचार
	सोमनस	ऊर्ध्वलोक		शुक्ल	1½ हाथ	30 सागर	29 सागर	अप्रवीचार
	प्रीतिंकर	ऊर्ध्वलोक		शुक्ल	1½ हाथ	31 सागर	0 सागर	अप्रवीचार

देवगति व्यवस्था (वैमानिक देव)

क्र.	देव	निवास	इन्द्र	लेश्या	शरीर की ऊँचाई	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु	प्रवीचार
अनुदिश								
	आदित्य	ऊर्ध्वलोक		परमशुक्ल	1½ हाथ	32 सागर	साधिक 31 सागर	अप्रवीचार
	अर्चि	,,		,,	,,	32 ,,	,, 31 ,,	,,
	अर्चिमाली	,,		,,	,,	32 ,,	,, 31 ,,	,,
	वैरोचन	,,		,,	,,	32 ,,	,, 31 ,,	,,
	प्रभास	,,		,,	,,	32 ,,	,, 31 ,,	,,
	अर्चिप्रभ	,,		,,	,,	32 ,,	,, 31 ,,	,,
	अर्चिमध्य	,,		,,	,,	32 ,,	,, 31 ,,	,,
	अर्चिविशिष्ट	,,		,,	,,	32 ,,	,, 31 ,,	,,
अनुत्तर								
	विजय	,,		,,	1 हाथ	3 सागर	साधिक 32 सागर	अप्रवीचार
	वैजयन्त	,,		,,	1 हाथ	3 सागर	साधिक 32 सागर	अप्रवीचार
	जयन्त	,,		,,	1 हाथ	3 सागर	साधिक 32 सागर	अप्रवीचार
	अपराजित	,,		,,	1 हाथ	3 सागर	साधिक 32 सागर	अप्रवीचार
	सर्वार्थसिद्धि	,,		,,	1 हाथ	3 सागर	साधिक 32 सागर	अप्रवीचार

❖ वैमानिक देवों के 12 भेद इन्द्रों की अपेक्षा हैं। 1,2,3,4 तथा 13,14,15 और 16वें स्वर्ग में प्रत्येक स्वर्ग के एक-एक इन्द्र तथा मध्य के 8 स्वर्गों में युगल-युगल के इन्द्र हैं। ❖ पाँचवे स्वर्ग में जो लौकान्तिक देव रहते हैं जिनकी आयु 8 सागर की होती है।

पंचम अध्याय

अजीवतत्त्व का वर्णन

अजीवकाया धर्माधर्माकाश पुद्गलाः ॥१॥

अर्थः- **(धर्माधर्माकाशपुद्गलाः)** धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये **(अजीवकाया)** अजीवकाय तथा बहुप्रदेशी द्रव्यें हैं। इस सूत्र में बहुप्रदेशी नहीं होने से काल द्रव्य का ग्रहण नहीं किया जाता है[1] ॥ १॥

द्रव्यों की गणना

द्रव्याणि ॥२॥

अर्थः- उक्त चार पदार्थ द्रव्यें हैं। द्रव्य का लक्षण आगे के सूत्रों में कहा जावेगा॥ २॥

जीवाश्च ॥३॥

अर्थः- जीव भी द्रव्य है।

नोटः- यहाँ 'जीवाः' इस बहुवचन से जीवद्रव्य के अनेक भेद सूचित होते हैं। इनके सिवाय ३९वें सूत्र में कालद्रव्य का भी कथन होगा, इसलिये इन सबको मिलाने पर १-जीव द्रव्य, २-पुद्गल द्रव्य, ३-धर्म द्रव्य, ४-अधर्म द्रव्य, ५-आकाश द्रव्य और ६-काल द्रव्य ये छह द्रव्य होते हैं॥३॥

द्रव्यों की विशेषता

नित्याऽवस्थितान्-यरूपाणि[2] ॥४॥

अर्थः-ऊपर कहे गये सभी द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं। कभी नष्ट नहीं होते इसलिए नित्य हैं। अपनी ६ संख्या का उल्लंघन नहीं करते इसलिये अवस्थित हैं और रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श से रहित हैं इसलिये अरूपी हैं ॥ ४॥

पुद्गल द्रव्य अरूपी नहीं है

रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥

अर्थः- पुद्गल द्रव्य रूपी अर्थात् मूर्तिक है।

नोटः- यद्यपि सूत्र में पुद्गल को सिर्फ रूपी बतलाया है, पर साहचर्य रूप से रस, गन्ध तथा स्पर्श का भी ग्रहण हो जाता है ॥५॥

१. जो द्रव्य बहुप्रदेशी हो उन्हें अस्तिकाय कहते हैं। वे पाँच हैं - १. जीव २. पुद्गल ३. धर्म ४. अधर्म ५.आकाश।

२. अज्जीवा पुण णेयो, पुग्गल धम्मो अधम्म आयासे।
कालो पुग्गल मुत्तो, रूवादि गुणों अमुत्ति शेषा दु॥

द्रव्यों के स्वभेद की गणना

आ आकाशा देक द्रव्याणि ॥६॥

अर्थः- आकाश पर्यन्त एक-एक द्रव्यें हैं अर्थात् धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक हैं। जीव द्रव्य अनन्त हैं, पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं और कालद्रव्य असंख्यात **(अणुरूप)** हैं ॥६॥

निष्क्रियाणि च ॥७॥

अर्थः- धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य क्रियारहित हैं।

क्रियाः- एक स्थान से दूसरे स्थानों में प्राप्त होने को क्रिया कहते हैं।

नोटः- धर्म और अधर्म द्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं तथा आकाशद्रव्य लोक और अलोक दोनों जगह व्याप्त है, इसलिये अन्य क्षेत्र का अभाव होने से इनमें क्रिया नहीं होती ॥ ७॥

द्रव्यों के प्रदेशों का वर्णन

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैक-जीवानाम् ॥८॥

अर्थः- **(धर्माधर्मैकजीवानाम्)** धर्म, अधर्म और एक जीव अर्थात् प्रत्येक जीव द्रव्य के **(असंख्येयाः)** असंख्यात **(प्रदेशाः)** प्रदेश होते हैं॥ ८॥

प्रदेशः- जितने क्षेत्र को एक पुद्गल परमाणु रोकता है उतने क्षेत्र को एक प्रदेश कहते हैं। सब जीव द्रव्यों के अनन्तानन्त प्रदेश होते हैं, इसलिए सूत्र में एक जीव का ग्रहण किया है।

आकाशस्-यानन्ताः ॥९॥

अर्थः- आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। परन्तु लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश ही हैं॥९॥

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

अर्थः- **(पुद्गलानाम्)** पुद्गलों के **(संख्येयाऽसंख्येयाः च)** संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं ॥

शंकाः- जब लोकाकाश में असंख्यात ही प्रदेश हैं तब उसमें अनन्त प्रदेशवाले पुद्गल द्रव्य तथा शेष द्रव्य किस तरह रह सकेंगे ?

समाधानः- पुद्गल द्रव्यों में दो तरह का परिणमन होता है- एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। जब उसमें सूक्ष्म परिणमन होता है तब लोकाकाश के एक प्रदेश में भी अनन्त प्रदेशवाला पुद्गल स्कन्ध स्थान पा लेता है । इसके सिवाय समस्त द्रव्यों में

एक दूसरे को अवगाहन देने की सामर्थ्य है, जिसके अल्प क्षेत्र में ही समस्त द्रव्यों के निवास में कोई बाधा नहीं होती।

नाणोः ॥११॥

अर्थः- पुद्गल परमाणु के द्वितीयादिक प्रदेश नहीं हैं अर्थात् वह एक प्रदेशी ही है॥११॥

समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान

लोकाकाशेऽवगाहः ॥१२॥

अर्थः-ऊपर कहे हुए समस्त द्रव्यों का अवगाह **(स्थान)** लोकाकाश में है॥१२॥

लोकाकाशः- आकाश के जितने हिस्से में जीव आदि छहों द्रव्य पाये जावें उतने हिस्से को लोकाकाश कहते हैं। बाकी हिस्सा अलोकाकाश कहलाता है।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥१३॥

अर्थः- धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह तिल में तेल की तरह समस्त लोकाकाश में है ॥१३॥

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

अर्थः- **(पुद्गलानाम्)** पुद्गल द्रव्य का अवगाह **(एकप्रदेशादिषु)** लोकाकाश के एकप्रदेश को लेकर संख्यात, असंख्यात प्रदेशों में **(भाज्यः)** विभाग करने योग्य है॥ १४॥

असंख्येयभागादिषु जीवानाम्॥१५॥

अर्थः- **(जीवानाम्)** जीवों का अवगाह **(असंख्येयभागादिषु)** लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक क्षेत्र में है ॥ १५॥

प्रश्नः-जबकि एक जीव द्रव्य असंख्यातप्रदेशी है तब वह लोक के असंख्यातवें भाग में कैसे रह सकता है?

समाधान-

प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्याम् प्रदीपवत् ॥१६॥

अर्थः- **(प्रदीपवत्)** दीपक के प्रकाश की तरह **(प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां)** प्रदेशों के संकोच और विस्तार के द्वारा जीव लोकाकाश के असंख्यातवें आदि भागों में रहता है, अर्थात् जिस तरह एक बड़े मकान में दीपक के रख देने से उसका प्रकाश सारे मकान में फैल जाता है और उसी दीपक को एक छोटे से बर्तन के भीतर रख देने से उसका प्रकाश उसी में संकुचित होकर रह जाता है,

उसी तरह जीव जितना बड़ा या छोटा शरीर पाता है उसमें उतना ही विस्तृत या संकुचित होकर रह जाता है। परन्तु केवली समुद्घात[१] अवस्था में सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाता है और सिद्ध अवस्था में अन्तिम शरीर से कुछ कम रहता है ॥१६॥

धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार या लक्षण

गति स्थित्युपग्रहो धर्माऽधर्मयोरुपकारः ॥१७॥

अर्थः- स्वयमेव गमन तथा स्थिति को प्राप्त हुए जीव और पुद्गल को गति तथा स्थिति में सहायता देना क्रम से धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है ॥ १७॥

भावार्थः- जो जीव और पुद्गलों को चलने में सहायक हो उसे धर्म द्रव्य तथा जो ठहरने में सहायक हो उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं।

आकाश का उपकार या लक्षण

आकाशस्-यावगाहः ॥१८॥

अर्थः- समस्त द्रव्यों का अवकाश देना आकाश का उपकार है।

भावार्थः-जो सब द्रव्यों को ठहरने के लिये स्थान देवे उसे आकाश कहते हैं। ।१८।

पुद्गल द्रव्य का उपकार

शरीर वाङ्.मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

अर्थः- औदारिक आदि शरीर, वचन, मन, तथा श्वासोच्छवास ये पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं, अर्थात् शरीरादि की रचना पुद्गल से ही होती है ॥ १९॥

सुख दुख जीवित मरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

अर्थः- इन्द्रियजन्य सुख-दुख जीवन और मरण ये भी पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं॥२०॥

नोट :- इस सूत्र में जो उपग्रह शब्द का ग्रहण किया जाता है उससे सूचित होता है कि पुद्गल परस्पर में एक दूसरे का उपकार करते हैं जैसेः-फूल और सूल तथा राख कांसे का, पानी लोहा का, साबुन कपड़े का आदि। यहाँ उपकार शब्द का अर्थ निमित्त मात्र ही समझना चाहिये। अन्यथा दुःख, मरण आदि उपकार नहीं कहलावेंगे।

---

१. मूल शरीर को न छोड़कर आत्मा के प्रदेशों के बाहर निकालने को समुद्घात कहते हैं। इसके सात भेद होते हैं। १. आहारक, २. वैक्रियिक, ३. तैजस, ४. कषाय, ५. वेदना, ६. मारणान्तिक और ७. केवली।

२. लोक पूरण समुद्घात- यह ७ समय वाला होता है, दण्ड, कपाट, प्रतर, लोक पूरण, प्रतर, कपाट, दण्ड।

जीवों का उपकार

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

अर्थः- जीवों का परस्पर उपकार है अर्थात् जीव कारणवश एक दूसरे का उपकार करते हैं। जैसेः- स्वामी- सेवक का, सेवक-स्वामी का, गुरु -शिष्य का और शिष्य-गुरु का पशु मनुष्य का, मनुष्य पशुओं का॥२१॥

काल का उपकार

वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

अर्थः- वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार हैं।

वर्तनाः- जो द्रव्यों को बरतावे उसे वर्तना कहते हैं।[१]

परिणामः- एक धर्म के त्याग रूप और दूसरे धर्म के ग्रहणरूप जो पर्याय है उसे परिणाम कहते हैं। जैसे- जीवों में ज्ञानादि और पुद्गलों में वर्णादि।

क्रियाः- हलन चलनरूप परिणति को क्रिया कहते हैं।

परत्वापरत्व :- छोटे-बड़े व्यवहार को परत्वापरत्व कहते हैं। जैसेः- २५ वर्ष के मनुष्य को बड़ा और २० वर्ष के मनुष्य को उसकी अपेक्षा छोटा कहते हैं।

ये सब कालद्रव्य की सहायता से होते हैं, इसलिये इन्हें देखकर अमूर्तिक निश्चय कालद्रव्य का अनुमान कर लेना चाहिये॥ २२॥

पुद्गल द्रव्य का लक्षण

स्पर्श रस गन्ध वर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

अर्थः- ८ स्पर्श, ५ रस, २ गन्ध और ५ वर्ण वाले पुद्गल होते हैं।

विशेषः- ये चारों गुण हर एक पुद्गल में एक साथ रहते हैं। इनके उत्तर भेद इस प्रकार हैं- स्पर्श के आठ भेदः- १. कोमल, २. कठोर, ३. हल्का, ४. भारी, ५. शीत, ६. उष्ण, ७. स्निग्ध और ८. रुक्ष। रस के पाँच भेदः- १ .खट्टा, २. मीठा, ३. कड़वा, ४. कषायला और ५. चरपरा। गन्ध के दो भेदः- १. सुगन्ध और २. दुर्गन्ध। वर्ण के पाँच भेदः-काला, नीला, पीला, लाल और सफेद। ये बीस पुद्गल के गुण कहलाते हैं क्योंकि हमेशा उसी में रहते हैं॥२३॥

पुद्गल की पर्यायें

शब्द बन्ध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद तमश्-छायातपोद्योत वन्तश्च॥२४॥

अर्थः-उक्त लक्षणवाले पुद्गल-शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान **(आकार)**,

१. यद्यपि सर्व द्रव्य अपने आप वर्तते हैं तथापि उसके वर्तन में बाह्य सहकारी कारण हो उसे वर्तना कहते हैं। हल्का भारी कड़ा नरम, रूखा चिकना ठण्डा गरम

भेद, (टुकड़ा), तम (अंधकार), छाया, आतप और उद्योत सहित हैं। अर्थात् ये पुद्गल की पर्यायें हैं। ॥२४॥

पुद्गल के भेद

अणवः स्कन्धाश्च ॥२५॥

अर्थः- पुद्गलद्रव्य अणु और स्कन्ध इस प्रकार दो रूप है।

अणुः- जिसका दूसरा विभाग न हो सके ऐसे पुद्गल को अणु कहते हैं।

स्कन्ध :- दो तीन संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त परमाणुओं के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं ॥ २५॥

स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण

भेद संघातेभ्यः उत्पद्यन्ते ॥२६॥

अर्थः- पुद्गलद्रव्य के स्कन्ध, भेद-बिछुड़ने, संघात-मिलने और भेद संघात-दोनों से उत्पन्न होते हैं। जैसे- १०० परमाणु वाला स्कन्ध है उसमें से १० परमाणु बिखर जाने से ९० परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है और उसी में १० परमाणु मिल जाने से १०० परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है और उसी में एक साथ दश परमाणुओं के बिछुड़ने और १५ परमाणुओं के मिल जाने से १०५ परमाणु वाला स्कन्ध बन जाता है॥ २६॥

नोट :- सूत्र में द्विवचन के स्थान में जो बहुवचन रूप प्रयोग किया उसी से यह तीसरा अर्थ व्यक्त हुआ है।

अणु की उत्पत्ति का कारण

भेदा-दणुः ॥२७॥

अर्थ :- अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है ॥ २७॥

चाक्षुष (देखने योग्य-स्थूल) स्कन्ध की उत्पत्ति

भेद संघाताभ्यां चाक्षुषः ॥२८॥

अर्थ :- (चाक्षुषः) चक्षु इन्द्रिय से देखने योग्य स्कन्ध **(भेद-संघाताभ्याम्)** भेद और संघात दोनों से ही उत्पन्न होते हैं। अकेले भेद से उत्पन्न नहीं हो सकते ॥ २८॥

द्रव्य का लक्षण

सद्-द्रव्य-लक्षणम् ॥२९॥

अर्थ :- द्रव्य का लक्षण सत् **(अस्तित्व)** है ॥२९॥

सत् का लक्षण

उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत् ॥३०॥

अर्थः- जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित हो वह सत् है।

उत्पादः- द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं जैसे मिट्टी को पिण्डपर्याय से घट रूप या मनुष्य का मरण कर देव होना।

व्ययः- पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। जैसे- घटपर्याय उत्पन्न होने पर पिण्डपर्याय का व्यय होना। या मनुष्य का मरण होना।

ध्रौव्यः- दोनों पर्यायों में मौजूद रहने को ध्रौव्य कहते हैं। जैसे पिण्ड तथा घटपर्याय में मिट्टी का होना ॥३०॥ जीव मनुष्य देव दोनों में रहना।

नित्य का लक्षण

तद्भावाव्ययं नित्यम्॥३१॥

अर्थः- जो द्रव्य तद्भाव रूप से अव्यय है वही नित्य है।

भावार्थः- प्रत्यभिज्ञान के हेतु को सद्भाव कहते हैं। जिस द्रव्य को पहले समय में देखने के बाद दूसरे आदि समयों में देखने पर 'यह वही है जिसे पहले देखा था' ऐसा जोड़रूप ज्ञान हो वह द्रव्य नित्य है। परन्तु यह नित्यता पदार्थ में सामान्य स्वरूप की अपेक्षा होती है, विशेष अर्थात् पर्याय की अपेक्षा सभी द्रव्य अनित्य हैं। इसलिये संसार के सब पदार्थ नित्यानित्य रूप हैं ॥ ३१॥

प्रश्नः- एक ही द्रव्य में नित्यता और अनित्यता ये दो विरुद्ध धर्म किस प्रकार रहते हैं ? समाधान —

अर्पिताऽनर्पित सिद्धेः ॥३२॥

अर्थः- विवक्षित और अविवक्षित रूप से एक ही द्रव्य में नाना धर्म रहते हैं। वक्ता जिस धर्म को कहने की इच्छा करता है, उसे अर्पित-विवक्षित कहते हैं। और वक्ता उस समय जिस धर्म को नहीं कहना चाहता है वह अनर्पित अविवक्षित है। जैसे वक्ता यदि द्रव्यार्थिक नय से वस्तु का प्रतिपादन करेगा तो नित्यता विवक्षित कहलावेगी और यदि पर्यायार्थिक नयसे प्रतिपादन करेगा तो अनित्यता विवक्षित होगी। जिस समय किसी पदार्थ को द्रव्य की अपेक्षा नित्य कहा जा रहा है उसी समय वह पदार्थ पर्याय की अपेक्षा अनित्य भी है। पिता, पुत्र, मामा, भान्जा आदि की तरह एक ही पदार्थ में अनेक धर्म रहने पर भी विरोध नहीं आता है जैसेः- मैं जीव हूँ इस कथन में 'मैं' मुख्य है जिससे जीव मुख्य हो जाता है और शरीर गौढ़ होता है॥ ३२॥

द्रव्य विभाग

- द्रव्य
  - जीव
    - मुक्त
    - संसारी
      - त्रस
        - द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय
        - असैनी
        - सैनी
          - नरक
          - तिर्यंच
            - 1. रत्नप्रभागत — जलचर
            - 2. शर्कराप्रभागत — थलचर
            - 3. बालुकाप्रभागत — नभचर
            - 4. पंकप्रभागत
            - 5. धूमप्रभागत
            - 6. तमः प्रभागत
            - 7. महातमः प्रभागत
          - मनुष्य
            - आर्य
              - ऋद्धिप्राप्त
                - 1. बुद्धि
                - 2. विक्रिया
                - 3. तप
                - 4. बल
                - 5. औषधि
                - 6. रस
                - अक्षीण
              - म्लेच्छ
          - देव
      - स्थावर — पृथ्वी, जल, तेज, वायु वनस्पति
  - अजीव
    - पुद्गल — 1 अणु 2. स्कंध
    - धर्म — लोक, अलोक, निश्चय व्यवहार
    - अधर्म
    - आकाश
    - काल
      - अनृऋद्धिप्राप्त — क्षेत्रम्लेच्छ
      - क्षेत्रम्लेच्छ — कर्मम्लेच्छ

नोटः- जैनागम में यह 'सूत्र स्याद्वाद सिद्धान्त' का मूलभूत है। पाठक-दही मथनेवाली गोपी आदि का उदाहरण देकर विद्यार्थियों को विवक्षा-अविवक्षा, गौणता-मुख्यता आदि का स्वरूप समझाने का प्रयत्न करें।

परमाणुओं के बन्ध होने में कारण

स्निग्ध रुक्षत्वाद् बन्धः ॥३३॥

अर्थः- चिकनाई और रूखापन के निमित्त से दो तीन आदि परमाणुओं का बन्ध होता है। अनेक पदार्थों में एकपने का ज्ञान कराने वाले सम्बन्ध विशेष को बन्ध कहते हैं॥ ३३॥

न जघन्य-गुणानाम् ॥३४॥

अर्थः- जघन्य गुण सहित परमाणुओं का बन्ध नहीं होता।

गुणः- स्निग्धता और रूक्षता के अविभागी प्रतिच्छेदों (जिसका टुकड़ा न हो सके ऐसे अंशों) को गुण कहते हैं।

जघन्य गुणसहित परमाणुः- जिस परमाणु में स्निग्धता और रूक्षता का एक अविभागी अंश हो उसे जघन्य गुणसहित परमाणु कहते हैं॥३४॥

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥

अर्थः- गुणों की समानता होने पर समान जातिवाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। **जैसेः**- दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु को दूसरे दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता। ॥३५॥

नोटः- सूत्र में ''सदृशानाम्'' इस पद के ग्रहण से प्रकट होता है, कि गुणों की विषमता में समान जातिवाले अथवा भिन्न जातिवाले पुद्गलों का बन्ध हो जाता है।

बन्ध किनका होता है

द्वयधिकादि गुणानां तु ॥३६॥

अर्थः- किन्तु दो अधिक गुणवालों के साथ ही बन्ध होता है। अर्थात् बन्ध तभी होगा जब एक परमाणु से दूसरे परमाणु में दो अधिक गुण होवें। जैसे दो गुणवाले परमाणु का चार गुणवाले परमाणु के साथ बन्ध होगा। इससे अधिक व कम गुणवाले के साथ नहीं होगा। यह बन्ध, स्निग्ध-स्निग्ध का, रूक्ष-रूक्ष का और स्निग्ध रूक्ष का भी होता है॥ ३६॥

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

अर्थः- **(च)** और **(बन्धे)** बन्धरूप अवस्था में **(अधिकौ)** अधिक गुणवाले परमाणुओं को अपने रूप **(पारिणामकौ)** परिणमन वाले होते हैं। जैसे गीला गुड़ अपने साथ बन्ध को प्राप्त हुए रज को गुणरूप परिणमा लेता है अथवा दुग्ध जल को भी परिणमा लेता है।॥ ३७॥

द्रव्य का लक्षण

गुण पर्ययवद् द्रव्यम् ॥३८॥

अर्थः- जिसमें गुण और पर्याय पाई जावे उसे **द्रव्य** कहते हैं।

गुणः- द्रव्य की अनेक पर्याय पलटते रहने पर जो द्रव्य से कभी पृथक् न हो, निरन्तर द्रव्य के साथ रहे उसे **गुण** कहते हैं [१] जैसे जीव के ज्ञान आदि, पुद्गल के रूप रसादि।

पर्यायः- क्रम से होने वाली वस्तु की विशेषता को पर्याय कहते हैं। जैसे- जीव की नर नारकादि पर्यायें अथवा बालक, युवा, प्रौढ़, वृद्धावस्था रूप पर्यायें॥ ३८॥

काल भी द्रव्य है

कालश्च[२] ॥३९॥

अर्थः- काल भी द्रव्य है, क्योंकि यह भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा गुण पर्यायों से सहित है। ॥ ३९॥

नोटः- यह काल द्रव्य रत्नों की राशि की तरह एक दूसरे से पृथक् रहते हुए लोकाकाश के समस्त प्रदेशों पर स्थित है। यह एक प्रदेशी और अमूर्तिक है।

कालद्रव्य की विशेषता

सोऽनन्त-समयः ॥४०॥

अर्थः- वह काल द्रव्य अनन्त समय वाला है। यद्यपि वर्तमान काल एक समयमात्र ही है तथापि भूत, भविष्यत् की अपेक्षा अनन्त समय वाला है।

समयः- कालद्रव्य के सबसे छोटे हिस्से को **समय** कहते हैं। मंदगति से चलने वाला पुद्गल परमाणु आकाश के एकप्रदेश से दूसरे प्रदेशपर जितने काल में पहुँचता है उतना काल एक समय है। इन समयों के समूह से ही आवली, घण्टा आदि व्यवहारकाल होता है। व्यवहारकाल निश्चय कालद्रव्य की पर्याय है।

१. यह द्रव्य का लक्षण पूर्व लक्षण से भिन्न नहीं है। सिर्फ शब्दभेद है अर्थभेद नहीं है। क्योंकि पर्याय से उत्पाद और व्यय की तथा गुण से ध्रौव्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है।

२. 'च' और क अन्वय 'द्रव्याणि' सूत्र के साथ है। २. गुण विकारः पर्यायः।

निश्चय कालद्रव्यः- लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशपर रत्नों की राशि की तरह जो स्थित है उसे **निश्चय कालद्रव्य** कहते हैं। वर्तना उसका कार्य है ॥ ४० ॥

गुण का लक्षण

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥

अर्थः- जो द्रव्य के आश्रय हों और स्वयं दूसरे गुणों से रहित हों वे **गुण** कहलाते हैं, **जैसे**- जीव के ज्ञान अग्नि की उष्णता आदि। ये जीव द्रव्य के आश्रय रहते हैं तथा इनमें कोई दूसरा गुण नहीं रहता ॥ ४१ ॥

पर्याय का लक्षण

तद्भावः परिणामः ॥४२॥

अर्थः- जीवादि द्रव्य जिस रूप हैं उनके उसी रूप रहने को परिणाम या पर्याय कहते हैं। जैसे- जीव की नर-नारकादि पर्याय अथवा बाल, युवा, प्रोढ़, वृद्ध आदि पर्याय॥४२॥

विशेषः- पर्याय के दो भेद हैं- १. व्यञ्जन पर्याय और २. अर्थ पर्याय । प्रदेशत्त्व गुणों के विकार को **व्यञ्जन पर्याय** कहते हैं और अन्य गुणों के अविभागी प्रतिच्छेदों के परिणमन को **अर्थ पर्याय** कहते हैं।

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्र पञ्चमोऽध्यायः

षष्ठ अध्याय

आस्रवतत्त्व का वर्णन योग के भेद व स्वरूप

कायवाङ्मनः कर्मयोगः॥१॥

अर्थः- काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। अर्थात् काय, वचन और मन के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन **(हलन-चलन)** होता है उसे योग कहते हैं। योग के तीन भेद हैं-

कायोगः- काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन-चलन होता है उसे काययोग कहते हैं।

वचनयोगः- वचन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होता है उसे वचनयोग कहते हैं।

मनोयोगः- मन के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में जो हलन-चलन होता है उसे

मनोयोग कहते हैं।

इन तीन योगों की उत्पत्ति में वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम कारण है ॥१॥

आस्रवका स्वरूप

स आस्रवः॥२॥

अर्थः- वह तीन प्रकार का योग ही आस्रव है। जिस प्रकार कुएँ के भीतर पानी आने में झिरैं कारण होती हैं उसी प्रकार आत्मा में कर्म आने में योग कारण है। कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं।

नोटः- यद्यपि योग आस्रव होने में कारण है तथापि सूत्र में कारण में कार्य का उपचार कर उसे आस्रव रूप कह दिया है जैसे-प्राणों की स्थिति में कारण होने से अन्न ही को प्राण कह देते हैं ॥ २॥

योग के निमित्त से आस्रव के भेद

शुभः पुण्यस्-याशुभः पापस्य॥३॥

अर्थः- शुभ योग पुण्यकर्म के आस्रव में और अशुभ योग पाप कर्म के आस्रव में कारण है।

शुभयोगः- शुभ परिणामों से रचे हुए योग को शुभयोग कहते हैं।

जैसे- अरहन्त आदि पंच परमेष्ठी की भक्ति करना, जीवों की रक्षा करना, व्रत संयम का पालन करना, आदि।

अशुभ योगः- अशुभ परिणामों से रचे हुए योग को अशुभ योग कहते हैं।

जैसे- जीवों की हिंसा करना, झूठ बोलना आदि पापों की प्रवृत्ति एवं विषय और व्यसनों में प्रवृत्ति होना आदि।

वृहद द्रव्य संग्रह में भी कहा है

सुह-असुह-भावजुत्ता, पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा।
सादं सुहाउ णामं, गोदं पुण्णं पराणि पावं च॥ वृ.द.सं.३८॥

पुण्यः- जो आत्मा को पवित्र करे उसे पुण्य कहते हैं।

पापः- जो आत्मा को अच्छे कार्यों से बचाये-दूर करे उसे पाप कहते हैं॥३॥

स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद

सकषायाऽकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः॥४॥

अर्थः- वह योग कषाय सहित जीवों के साम्परायिक आस्रव और कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव का कारण है।

कषायः- जो आत्मा को कसे अर्थात् चारों गतियों में भटकाकर दुःख देवे उसे कषाय कहते हैं।

साम्परायिक आस्रवः- जिस आस्रव का संसार ही प्रयोजन है उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं।

ईर्यापथः- स्थिति और अनुभाग रहित कर्मों के आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं।

नोटः- ईर्यापथ आस्रव ११ वें से १३वें गुणस्थान तक के जीवों के होता है, और उसके पहले गुणस्थानों में साम्परायिक आस्रव होता है। १४वें गुणस्थान में आस्रव का सर्वथा अभाव हो जाता है ॥ ४॥

साम्परायिक आस्रव के भेद

इन्द्रिय कषायाऽव्रत क्रियाः पञ्च चतुःपञ्च
पञ्चविंशति संख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

अर्थः- स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ, क्रोधादि चार कषाय, हिंसादि पाँच अव्रत और सम्यक्त्व आदि पच्चीस क्रियाएँ, इस तरह साम्परायिक आस्रव के ३९भेद हैं अर्थात् ३९ भेदों के द्वारा साम्परायिक आस्रव होता है। इन्द्रिय, कषाय, अव्रत का कथन यथा योग्य देखें यहाँ क्रियाएँ कहते हैं।

पच्चीस क्रियाएँ

१. सम्यक्व को बढ़ाने वाली क्रिया को **सम्यक्त्व** की क्रिया कहते हैं जैसे- देव पूजन आदि।
२. मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली क्रिया को **मिथ्यात्व** की क्रिया कहते हैं, जैसे- कुदेव पूजन आदि।
३. शरीरादि से गमनागमन रूप प्रवृत्ति करना सो **प्रयोग** क्रिया है।
४. संयमी का असंयम के सन्मुख होना सो **समादान** क्रिया है।
५. गमन के लिए, जो क्रिया होती है उसे **ईर्यापथ** क्रिया कहते हैं।
६. क्रोध के वश से जो क्रिया हो वह **प्रादोषिकी** क्रिया है।
७. दुष्टतापूर्वक उद्यम करना सो **कायकी** क्रिया है।
८. हिंसा के उपकरण तलवार आदि का ग्रहण करना सो **अधिकरण** क्रिया है।
९. जीवों को दुःख उत्पन्न करने वाली क्रिया को **पारितापिकी** क्रिया कहते हैं।
१०. आयु, इन्द्रिय आदि प्राणों का वियोग करना सो **प्राणातिपातिनी** क्रिया है।

११. राग के वशीभूत होकर मनोहर रूप देखना सो **दर्शन** क्रिया है।
१२. राग के वशीभूत होकर वस्तु का स्पर्श करना **स्पर्शन** क्रिया है।
१३. विषयों के नये-नये कारण मिलना **प्रात्ययिकी** क्रिया है।
१४. स्त्री पुरुष पशुओं के रहने आदि के स्थान में मलमूत्रादि क्षेपण करना **समन्तानुपात** क्रिया है।
१५. बिना देखी शोधी हुई भूमि पर उठना बैठना **अनाभोग** क्रिया है।
१६. लोभ के वशीभूत हो दूसरे के द्वारा करने योग्य क्रिया को स्वयं करना **स्वहस्त** क्रिया है।
१७. पाप को उत्पन्न करने वाली प्रवृत्ति को भला समझना **निसर्ग** क्रिया है।
१८. परके किये हुए पापों को प्रकाशित करना **विदारण** क्रिया है।
१९. चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से शास्त्रोक्त आवश्यकादि क्रियाओं के करने में असमर्थ होकर उनका अन्यथा निरूपण करना सो **आज्ञाव्यापादिकी** क्रिया है।
२०. प्रमाद अथवा अज्ञान के वशीभूत होकर आगमोक्त क्रियाओं में अनादर करना **अनाकांक्ष** क्रिया है।
२१. छेदन-भेदन आदि क्रियाओं में स्वयं प्रवृत्त होना तथा अन्य को प्रवृत्त कराना या उन्हें प्रवृत्त देखकर हर्षित होना **प्रारम्भ** क्रिया है।
२२. परिग्रह की रक्षा में प्रवृत्त होना **परिग्रहिकी** क्रिया है।
२३. ज्ञान दर्शन आदि में कपटरूप प्रवृत्ति करना **माया** क्रिया है।
२४. प्रशंसा आदि से किसी को मिथ्यात्व रूप परिणति में दृढ़ करना **मिथ्यादर्शन** क्रिया है।
२५. चारित्र मोहनीय के उदय से त्यागरूप प्रवृत्ति नहीं होना **अप्रत्याख्यान** क्रिया है।

आस्रव की विशेषता में कारण

तीव्र-मन्द, ज्ञाताज्ञात, भावाधिकरण वीर्यविशेषभ्यस्-तद्-विशेषः ॥६॥

अर्थः- तीव्रभाव-मन्दभाव, ज्ञातभाव-अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्यविशेष से आस्रव में विशेषता - हीनाधिकता होती है॥६॥

तीव्रभावः- अत्यंत बढ़े हुए, क्रोधादि के द्वारा जो तीव्रता रूप भाव होते हैं उनको तीव्रभाव कहते हैं।

मन्दभावः- कषायों की मन्दता से जो भाव होते हैं उन्हें मन्द भाव कहते हैं।

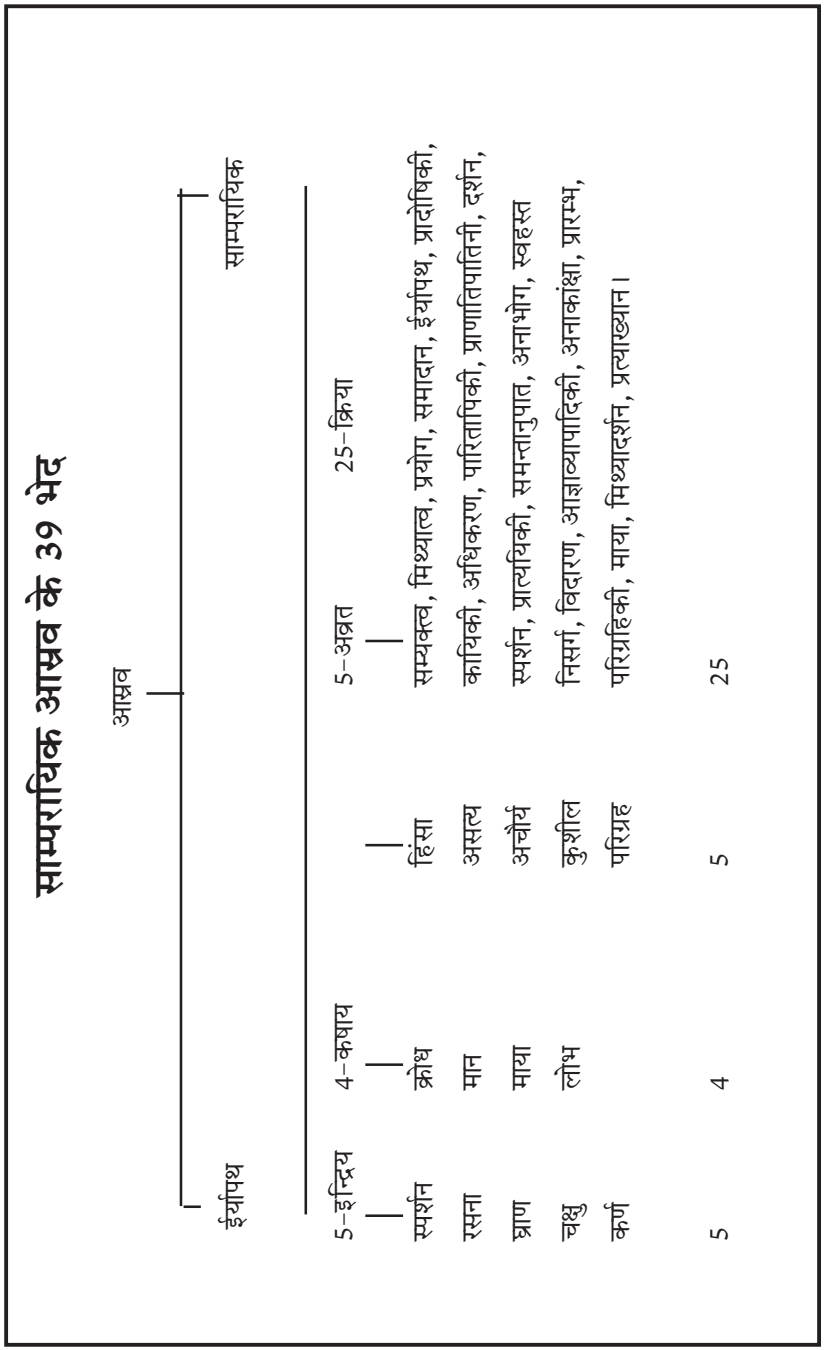

ज्ञातभावः- यह प्राणी मारने के योग्य है इस तरह जानकर प्रवृत्त होने को ज्ञातभाव कहते हैं।

अज्ञातभावः- प्रमाद अथवा अज्ञान से प्रवृत्ति करने को अज्ञात भाव कहते हैं।

अधिकरणः- आधार को कहते हैं अर्थात् जिसके आश्रय अर्थ रहे उसे अधिकरण कहते हैं।

वीर्यः- द्रव्य की स्वशक्ति विशेष को वीर्य कहते हैं।

अधिकरण के भेद

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥

अर्थः- अधिकरण के दो भेद हैं- १. जीव २. अजीव। अर्थात् आस्रव, जीव और अजीव दोनों के आश्रय से होता है॥ ७॥

जीवाधिकरण के भेद

आद्यं संरम्भ-समारम्भाऽरम्भ योग कृत कारिताऽनुमत
कषाय-विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्-चैकशः ॥८॥

अर्थः- आदि का **जीवाधिकरण आस्रव**-संरम्भ, समारम्भ-आरम्भ- मन-वचन-कायरूप तीन योग- कृत कारित अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषायों की विशेषता से १०८ भेदरूप है।

भावार्थः- संरम्भादि तीनों में तीन योगों का गुणा करने से ९ भेद हुए इन ९ भेदों में कृत आदि तीन का गुणा करने पर २७ भेद हुए और इन २७ भेदों में ४ कषाय का गुणा करने से कुल १०८ भेद हुए।

संरम्भः- हिंसादि पापों के करने का मन में विचार करना संरम्भ है।

समारम्भः- हिंसादि पापों के कारणों का अभ्यास, सामग्री एकत्र करनासमारम्भ है।

आरम्भः- हिंसादि पापों के करने का प्रारम्भ कर देना आरम्भ है।

कृतः- किसी कार्य को स्वयं करना कृत है।

कारितः- दूसरों से कराना कारित है।

अनुमतः- दूसरे के द्वारा किये हुए कार्य को भला समझना अनुमत (अनुमोदना) है॥6॥ **क्रोध** - किसी कारण से रोष करना क्रोध है।

मान - अहंकार करना मान है। **माया** - छल-कपट करना माया है।

लोभ- अधिक इच्छाएँ रखना लोभ है। **मनयोग** - मन की चेष्टा मनयोग है।

वचनयोग- वचन की चेष्टा **काययोग** - शरीर की चेष्टा।

अजीवाधिकरण के भेद

निर्वर्तना निक्षेप संयोग निसर्गा द्विचतुर्द्वि त्रि भेदाः परम् ॥९॥

अर्थ - पर अर्थात् अजीवाधिकरण आस्रव- दो प्रकार का निर्वर्तना, चार प्रकार का निक्षेप, दो प्रकार का संयोग और तीन प्रकार का निसर्ग, इस तरह अनेक भेदवाला है।

निर्वर्तनाः- रचना करने को निर्वर्तना कहते हैं। इसके दो भेद हैं- १. मूल गुण निर्वर्तना और २. उत्तरगुण निर्वर्तना। शरीर, मन तथा श्वासोच्छ्वास की रचना करना **मूलगुण निर्वर्तना** है। काष्ठ, मिट्टी आदि से चित्र वगैरह की रचना **उत्तर गुण निर्वर्तना** है।

निक्षेपः- वस्तु के रखने को निक्षेप कहते हैं - इनके चार भेद हैं - १. अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण, २. दुःप्रमृष्ट निक्षेपाधिकरण, ३. सहसानिक्षेपाधिकरण और ४. अनाभोगनिक्षेपाधिकरण हैं। १. बिना देखे किसी वस्तु को रखना **अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण** है। २. यत्नाचार रहित होकर रखने को **दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण** कहते हैं। ३. शीघ्रता से रखना **सहसा निक्षेपाधिकरण** है और ४. किसी वस्तु को योग्य स्थान में न रखकर बिना देखे ही यहाँ वहाँ रख देना **अनाभोग निक्षेपाधिकरण** है।

संयोगः- मिला देने का नाम संयोग है। इसके दो भेद हैं:- **१. भक्तपान संयोग**, **२. उपकरण संयोग**। १. आहार पानी को दूसरे आहार पानी में मिलाना **भक्तपान संयोग** है। २. कमण्डल आदि उपकरणों को दूसरे की पीछी आदि से पोंछना **उपकरण संयोग** है।

निसर्गः- प्रवर्तन को निसर्ग कहते हैं। इसके ३ भेद हैं- **१. कायनिसर्ग** अर्थात् काय को प्रवर्ताना, **२. वाङ्.निसर्ग** अर्थात् वचनों को प्रवर्ताना और ३. **मनोनिसर्ग** अर्थात् मन को प्रवर्ताना ॥ ९॥

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव

तत्प्रदोष निह्नव मात्सर्यान्तरायाऽसादनोपघाता ज्ञान-दर्शनावरणयोः ॥१०॥

अर्थः- ज्ञान और दर्शन के विषय में किये गये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात ये ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के आस्रव हैं॥१०॥

प्रदोषः- किसी धर्मात्मा के द्वारा की गई तत्त्वज्ञान की प्रशंसा का नहीं सुहाना प्रदोष है।

निह्नवः- किसी कारण से ज्ञान को छुपाना निह्नव है।

मात्सर्यः- वस्तु स्वरूप को जानकर यह भी ज्ञानी होगा ये सोच कर किसी को नहीं पढ़ाना अथवा अन्य को दर्शन को प्राप्त होगा ये मात्सर्य है।

अन्तरायः- किसी के ज्ञानाभ्यास में विघ्न डालना अन्तराय है।

आसादनः- दूसरे के द्वारा प्रकाशित होने योग्य ज्ञान को रोक देना आसादन है।

उपघातः- सच्चे ज्ञान को दोष लगाना उपघात है ॥१०॥

असातावेदनीय के आस्रव

दुःख-शोक-तापाऽक्रन्दन-वध-परिदेवनान्-याऽत्मपरोभय स्थान्-यसद्वेद्यस्य ॥११॥

अर्थः- **(आत्मपरोभयस्थान्)** निज तथा पर के विषय में **(दुःखशोकतापाक्रन्दन-वध परिदेवनानि)** दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये **(असद्वेद्यस्य)** असातावेदनीय के आस्रव के हेतु हैं ॥११॥

दुःखः- पीड़ारूप परिणाम विशेष को दुःख कहते हैं।

शोकः- अपना उपकारक का वियोग होने पर विकलता होना शोक है।

तापः- संसार में अपनी निन्दा आदि के हो जाने से पश्चात्ताप करना ताप है।

आक्रन्दनः- पश्चात्ताप से अश्रुपात करते हुए रोना आक्रन्दन है।

वधः- आयु आदि प्राणों का वियोग करना वध है।

परिदेवनः- संक्लेश परिणामों का अवलम्बन कर इस तरह रोना कि सुननेवाले के हृदय में दया उत्पन्न हो जावे तथा उसे भी रोना आ जावे सो परिदेवन है।

नोटः- यद्यपि शोक आदि दुःख के ही प्रभेद हैं तथापि दुःख की जातियाँ बतलाने के लिये सबका भिन्न-भिन्न ग्रहण किया है ॥ ११॥

साता वेदनीय का आस्रव

भूत व्रत्यनुकम्पा दान सरागसंयमादि योगः क्षान्तिः शौचमिति सद्-वेद्यस्य ॥१२॥

अर्थः- प्राणी तथा व्रतियों पर अनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षान्ति और शौच तथा अर्हद्भक्ति आदि ये सातावेदनीय के आस्रव के हेतु हैं।

भूतव्रत्यनुकम्पाः- (भूत) संसार के समस्त प्राणी और व्रती-अणुव्रत या महाव्रत-धारी जीवों पर दया करना सो भूतव्रत्यनुकम्पा है।

---

१. यद्यपि प्रतिसमय आयु-कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों का बन्ध हुआ करता है तथापि प्रदोषादि भावों के द्वारा जो ज्ञानावरणादि विशेष विशेष कर्मों का बन्ध होना बताया है, वह स्थितिबन्ध और अनुभाग-बन्ध की अपेक्षा समझना चाहिए। अर्थात् उस समय प्रकृति और प्रदेश बन्ध तो सब कर्मों का हुआ करता है, किन्तु स्थिति और अनुभागबन्ध ज्ञानावरणादि विशेष २ कर्मों का अधिक होता है।

दानः- निज और पर उपकार योग्य वस्तु के देने को दान या त्याग कहते हैं।
सरागसंयमादि योगः- पाँच इन्द्रिय और मन के विषयों से विरक्त होने तथा छह काय के जीवों की हिंसा न करने को संयम कहते हैं और राग सहित संयम को सरागसंयम कहते हैं।
नोटः- यहाँ आदि शब्द से संयमासंयम-**(श्रावक के व्रत)** अकाम निर्जरा-**(बन्दीखाने आदि में संक्लेशतारहित भोगोपभोग का त्याग करना)** और बाल तप **(मिथ्यादर्शन सहित तपस्या करना)** का भी ग्रहण होता है इन सबको अच्छी तरह धारण करना सरागसंयमादि योग कहलाता है।
क्षांति- क्रोधादि कषाय के अभाव को क्षांति कहते हैं।
शौचः- लोभ का त्याग करना शौच है।
नोटः- इति शब्द से अर्हद्भक्ति, मुनियों की वैयावृत्ति आदि का ग्रहण करना चाहिये॥ १२॥

दर्शनमोहनीय का आस्रव

केवलि श्रुत संघ धर्म देवाऽवर्णवादो दर्शन मोहस्य ॥१३॥

अर्थः- केवली, श्रुत **(शास्त्र)**, संघ **(मुनि-आर्यिका श्रावक श्राविका)** धर्म और देव इनका अवर्णवाद करना दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव है।
अवर्णवादः- गुणवानों को झूठे दोष लगाना सो अवर्णवाद है।
केवली अवर्णवादः- केवली ग्रासाहार करके जीवित रहते हैं, इत्यादि कहना सो केवली का अवर्णवाद है।
श्रुत का अवर्णवादः- शास्त्र में मांस भक्षण करना आदि लिखा है, ऐसा कहना सो श्रुत का अवर्णवाद है।
संघ का अवर्णवादः- साधु को देख ये शूद्र हैं, मलिन हैं, नग्न हैं इत्यादि कहना सो संघ का अवर्णवाद है।
धर्म का अवर्णवादः- जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए धर्म में कुछ भी गुण नहीं हैं, उसके सेवन करनेवाले असुर होगें इत्यादि कहना धर्म का अवर्णवाद है।
देव का अवर्णवादः- देव मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, जीवों की बलि से प्रसन्न होते हैं आदि कहना देव का अवर्णवाद है ॥ १३॥

चारित्र मोहनीय का आस्रव

कषायोदयात्-तीव्रपरिणामश्-चारित्रमोहस्य ॥१४॥

अर्थः- जीवों में कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम चारित्रमोहनीय के आस्रव के हेतु हैं॥१४॥

नरक आयु का आस्रव

बह्वारम्भ परिग्रहत्वं नारकस्-यायुषः ॥१५॥

अर्थः- बहुत आरम्भ और परिग्रह का होना नरक आयु का आस्रव है ॥१५॥

तिर्यंच आयु का आस्रव

माया तैर्यग्-योनस्य ॥१६॥

अर्थः- माया **(छलकपट)** तिर्यंच आयु का आस्रव है ॥१६॥

मनुष्य आयु का आस्रव

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

अर्थः- थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह का होना मनुष्य आयु का आस्रव है॥ १७॥

स्वभाव मार्दवं च ॥१८॥

अर्थः- स्वभाव से ही मृदु सरल परिणामी होना भी मनुष्य आयु का आस्रव है।
नोटः- आचार्य श्री के द्वारा इस सूत्र को पृथक् लिखने का आशय है कि इस सूत्र में बताए हुए हेतु देवायु के आस्रव में भी कारण हैं॥ १८॥

सब आयुओं का आस्रव

निःशील-व्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

अर्थः- दिग्व्रतादि ७ शील या समिति गुप्ति आदि और अहिंसादि पाँच व्रतों का अभाव भी समस्त आयुओं का आस्रव है।
नोटः- शील और व्रत का अभाव रहते हुए जब कषायों में अत्यन्त तीव्रता और अत्यन्त मन्दता होती है तभी वे क्रम से चारों आयुओं के आस्रव के कारण होते हैं ॥१९॥

देव आयु का आस्रव

सरागसंयम संयमासंयमाऽकामनिर्जरा बालतपांसिदैवस्य॥२०॥

अर्थः- सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देव आयु के आस्रव के हेतु हैं॥२०॥

सम्यक्त्वं च ॥२१॥

अर्थः- सम्यग्दर्शन भी देव आयु कर्म का आस्रव का हेतु है।
नोटः- १. इस सूत्र को पृथक् लिखने का प्रयोजन यह है कि सम्यक्त्व अवस्था

में वैमानिक देवों की ही आयु का आस्रव होता है।

नोट:- २. यद्यपि सम्यग्दर्शन किसी भी कर्म के बन्ध में कारण नहीं है तथापि सम्यग्दर्शन की अवस्था में जो रागांश पाया जाता है उसी से बन्ध होता है। इसी तरह सरागसंयम, संयमासंयम आदि के विषय में भी जानना चाहिये[1] ॥२१॥[2]

अशुभ नामकर्म का आस्रव

योगवक्रता विसम्वादनं चाऽशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

अर्थः- योगों की कुटिलता और विसम्वादन अन्यथा प्रवृत्ति अशुभ नामकर्म का आस्रव का हेतु है॥ २२॥

शुभ नामकर्म का आस्रव

तद्-विपरीतं शुभस्य ॥२३॥

अर्थः योगवक्रता और विसंवादन से विपरीत अर्थात् योगों की सरलता और अन्यथा प्रवृत्ति का अभाव ये शुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु हैं॥ २३॥

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्-वनतिचारोऽभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग संवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्-वैयावृत्यकरण-मर्हदाचार्य बहुश्रुत प्रवचनभक्ति-रावश्यकापरिहाणि- मार्गप्रभावना-प्रवचन-वत्सल त्वमिति तीर्थकरत्वं च॥२४॥

अर्थः- **१. दर्शनविशुद्धिः**-पच्चीस दोषरहित निर्मल[3] सम्यग्दर्शन,

२. **विनयसम्पन्नता**- रत्नत्रय तथा उनके धारकों की विनय करना,

३. शीलव्रतेष्वनतिचार-अहिंसादि व्रत और उनके रक्षक क्रोध त्याग आदि शीलों में विशेष प्रवृत्ति, **४-५. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग संवेगौ**-निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना और संसार से भयभीत होना, **६-७. शक्तितस्त्याग तपसी**-अपनी योग्यतानुसार यथाशक्ति त्याग, दान देना और उपवासादि तप करना,

८. साधुसमाधि-साधुओं की साधना में आने वाले विघ्न आदि को दूर करना,

९. वैयावृत्यकरणम्- रोगी तथा बालवृद्ध मुनियों की सेवा करना,

१०-१३. अर्हदाचार्य बहुश्रुतप्रवचनभक्ति- अरहन्त भगवान् की भक्ति करना, दीक्षा देने वाले आचार्यों की भक्ति करना, उपाध्यायों की भक्ति करना, शास्त्रों की

१. येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥ —अमृतचन्द्र सूरि

२. आयु कर्म का आस्रव सामान्यरूप से जीवन के त्रिभाग में होता है। अर्थात् आयु के दो भाग निकल जाने पर तृतीय भाग के प्रारम्भ में होता है।

३. यहाँ दर्शनविशुद्धि से तात्पर्य अपाय विचय धर्मध्यान के मध्यस्थित मनुष्य के जो लोककल्याण की सातिशय भावना होती है उससे। मनुष्य के शुभ राग ही तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव है। इससे अष्ट प्रातिहार्य विभूति प्राप्त होती है।

भक्ति करना, **१४. आवश्यकापरिहाणि**- सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओं में हानि नहीं करना, **१५. मार्गप्रभावना**- जैनधर्म की प्रभावना करना और **१६. प्रवचनवत्सलत्वम्**- गौवत्सकी तरह धर्मात्मा जीवों से स्नेह रखना। ये सोलह भावनायें तीर्थंकर प्रकृति नामक नामकर्म के आस्रव के हेतु हैं[1]॥ २४॥

नीच गोत्रकर्म का आस्रव

परात्मनिन्दा-प्रशंसे स-दसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्-गोत्रस्य ॥२५॥

अर्थः-**(परमात्मनिन्दाप्रशंसे)** दूसरे की निन्दा और अपनी प्रशंसा करना, **(च)** तथा **(सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने)** दूसरे के मौजूद गुणों को ढाँकना और अपने झूठे गुणों को प्रकट करना, ये नीच गोत्रकर्म के आस्रव के हेतु हैं ॥२५॥

उच्च गोत्रकर्म का आस्रव

तद्-विपर्ययो नीचैर्वृत्-यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

अर्थः- **(तद्विपर्ययः)** नीच गोत्र के आस्रवों से विपरीत अर्थात् पर प्रशंसा तथा आत्मनिन्दा **(च)** और **(नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ)** नम्र वृत्ति तथा मदका अभाव शुभ कार्य में उत्साह ये **(उत्तरस्य)** उच्च गोत्रकर्म के आस्रव के हेतु हैं॥२६॥

अन्तरायकर्म का आस्रव

विघ्नकरण-मन्तरायस्य ॥२७॥

अर्थः- पर के दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न करना अन्तराय कर्म के आस्रव के हेतु हैं॥२७॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः

ज्ञात्वा तलामलकवद् भुवि सर्व-विद्यां,
कृत्वा तपंसि बहुकोटि- युगान्तरेषु।
सद्दर्शनामृतरसायन - पान - बाह्या,
नात्यन्तिकीमनुभवन्ति हि मोक्ष लक्ष्मीम्॥

भावार्थ - पृथ्वी पर समस्त विद्याओं को हस्ततल पर रखे आँवले के समान जानकर तथा करोड़ों युगान्तरों में तप की भी जो सम्यग्दर्शन रूप अमृत एवं रसायन के पान से रहित हैं, वे अविनाशी मोक्ष लक्ष्मी का अनुभव नहीं की सकते।

१. इस प्रकृति के उदय से समवशरण में अष्टप्रातिहार्य रूप विभूति प्राप्त होती है।

सप्तम अध्याय (शुभास्रव का वर्णन)

व्रत का लक्षण

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्-व्रतम् ॥१॥

अर्थः- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों से भावपूर्वक विरक्त होना व्रत कहलाता है॥

व्रत के भेद

देश-सर्वतोऽणुमहती ॥२॥

अर्थः- व्रत के दो भेद हैं- १. अणुव्रत और २. महाव्रत। हिंसादि पापों का एकदेश त्याग करने से अणुव्रत और सर्वदेश त्याग करने से महाव्रत होते हैं ॥२॥

व्रतों की स्थिरता के कारण

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च-पञ्च ॥३॥

अर्थः-उन व्रतों की स्थिरता के लिये प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनायें हैं॥ ३॥
भावनाः- किसी वस्तु का बार-बार चिन्तवन करना सो भावना है इसे अनुप्रेक्षा भी कहते हैं।

अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ

वाङ् मनोगुप्तीर्यादान-निक्षेपण समित्यालोकितपान भोजनानि पञ्च ॥४॥

अर्थः- **वाग्गुप्ति**- वचन की प्रवृत्ति को रोकना, **मनोगुप्ति**- मन की प्रवृत्ति को रोकना, **ईर्यासमिति**- चार हाथ जमीन देखकर चलना, **आदान-निक्षेपण समिति**- भूमि को जीवरहित देखकर सावधानी से किसी वस्तु को उठाना, रखना और **आलोकितपान भोजन**- सूर्य के प्रकाश में देख शोधकर भोजनपान ग्रहण करना ये पाँच अहिंसा व्रत की भावनाएँ हैं॥ ४॥

सत्यव्रत की भावनाएँ

क्रोध लोभ भीरुत्व हास्य प्रत्याख्यानान्-यनुवीचि भाषणं च पञ्च ॥५॥

अर्थः- **क्रोधप्रत्याख्यान**- क्रोध का त्याग करना, **लोभ प्रत्याख्यान**- लोभ का त्याग करना, **भीरुत्वप्रत्याख्यान**- भय का त्याग करना, **हास्यप्रत्याख्यान**- हास्य का त्याग करना और **अनुवीचि भाषण**- शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना ये पाँच सत्य व्रत की भावनायें हैं॥ ५॥

अचौर्य व्रत की भावनाएँ

शून्यागार विमोचिताऽवास परोपरोधाकरण भैक्ष्यशुद्धि सधर्माऽविसंवादाः पञ्च ॥६॥

अर्थः- **शून्यागारावास** -पर्वतों की गुफा, वृक्ष की कोटर आदि निर्जन स्थानों में रहना, **विमोचितावास**- राजा वगैरह के द्वारा छुड़वाये हुए स्वामित्वहीन स्थान में निवास करना, **परोपरोधाकरण**-अपने स्थान पर ठहरे हुए दूसरों को नहीं रोकना, **भैक्ष्यशुद्धि**- चरणानुयोग शास्त्र के अनुसार भिक्षा की शुद्धि रखना और **सधर्माऽवसंवाद**- सहधर्मी भाइयों से यह हमारा है, वह आपका है इत्यादि कलह नहीं करना, ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनायें हैं॥६॥

ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएँ

स्त्रीरागकथा श्रवण-तन्मनोहराङ्गनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण- वृष्येष्टरस, स्वशरीर संस्कार त्यागाः पञ्च ॥७॥

अर्थः- **स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग**- स्त्रियों में राग बढ़ानेवाली कथाओं के करने सुनने का त्याग करना तथा **तन्मनोहराङ्ग निरीक्षणत्याग**-स्त्रियों के मनोहर अङ्गों के देखने का त्याग करना, **पूर्वरतानुस्मरण त्याग**- अव्रत अवस्था में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग करना, **वृष्येष्टरस त्याग**- कामवर्धक गरिष्ठ रसों का त्याग करना और **स्वशरीरसंस्कारत्याग**-अपने शरीर के संस्कारों का त्याग करना, ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनायें हैं॥७॥

परिग्रहत्याग व्रत की भावनाएँ

मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रिय विषय राग-द्वेष वर्जनानि पञ्च ॥८॥

अर्थः- स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट आदि विषयों में क्रम से राग द्वेष का त्याग करना, ये पाँच परिग्रहत्यागव्रत की भावनायें हैं॥ ८॥

हिंसादि पाँच पापों के विषय में करने योग्य विचार

हिंसादिष्विहा-मुत्राऽपायाऽवद्य-दर्शनम् ॥९॥

अर्थः- **(हिंसादिषु)** हिंसादि पाँच पापों के होने पर **(इह)** इस लोक में तथा **(अमुत्र)** परलोक में **(अपायावद्यदर्शनम्)** सांसारिक और पारमार्थिक प्रयोजनों का नाश तथा निन्दा को देखना पड़ता है, ऐसा विचार करें।

भावार्थः- हिंसादि पाप करने से इस लोक तथा परलोक में अनेक आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं और निन्दा भी होती है, इसीलिए इनको छोड़ना ही अच्छा है॥९॥

दुःख-मेव वा ॥१०॥

अर्थः- अथवा हिंसादि पाँच पाप दुःखरूप ही हैं ऐसा विचार करें॥ १०॥

नोटः- यहाँ कार्य में कारण का उपचार समझना चाहिये, क्योंकि हिंसादि दुःख के कारण हैं, पर यहाँ उन्हें कार्य अर्थात् दुःखरूप वर्णन किया है।

निरन्तर चिन्तवन करने योग्य चार भावनाएँ

मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिक क्लिश्यमानाऽविनयेषु ॥११॥

अर्थः- **(च)** और **(सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु)** सत्व[१], गुणाधिक[२], क्लिश्यमान[३] और अविनयी[४]- जीवों में क्रम से **(मैत्रीप्रमोदकारुण्य माध्यस्थानि)** मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना भावें।

मैत्रीः- दूसरों को दुःख न हो ऐसे अभिप्राय को मैत्री भावना कहते हैं।

प्रमोदः- अधिक गुणों के धारी जीवों को देखकर सुख प्रसन्नता आदि से प्रकट होने वाले अन्तर की भक्ति को प्रमोद कहते हैं।

कारुण्यः- दुखी जीवों को देखकर उनके उपकार करने के भावों को कारुण्य भाव कहते हैं।

माध्यस्थः- जो जीव तत्त्वार्थश्रद्धान से रहित हैं तथा हितका उपदेश देने से उल्टे चिड़ते हैं उनमें राग द्वेष का अभाव होना सो माध्यस्थ्य भावना है[५]॥ ११॥

संसार और शरीर के स्वभाव का विचार

जगत्काय-स्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम् ॥१२॥

अर्थः- संवेग (**संसार के भय**) और वैराग्य **(राग द्वेष के अभाव)** के लिये क्रम से संसार और शरीर के स्वभाव का चिन्तवन करें ॥ १२॥

हिंसा पाप का लक्षण

प्रमत्त योगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

अर्थः- प्रमाद[६] योग से यथासंभव द्रव्य प्राण[७] (**इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छवास)** का वियोग करना सो हिंसा है।

नोट- जिस समय कोई व्रतीजीव ईर्यासमिति से गमन कर रहा हो, यदि उस समय कोई क्षुद्र जीव अचानक उसके पैर के नीचे आकर दब जावे तो वह व्रती उस हिंसा के पाप का भागी नहीं होगा क्योंकि उसके प्रमाद नहीं है।

नोट- एक जीव किसी जीव को मारना चाहता था पर मौका न मिलने से मार न सका तो भी वह हिंसा का भागी होगा क्योंकि वह प्रमादसहित है और अपने भाव

१. प्राणीमात्र, २. जो गुणों से अधिक हों, ३. दुःखी, रोगी वगैरह, ४. मिथ्यादृष्टि-उद्दण्डप्रकृति के धारक।

५. मैत्रीभाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे। दीन दुःखी जीवों पर मेरे, उर से करुणा स्त्रोत बहे॥
दुर्जन क्रुर कुमार्ग रतों पर, क्षोभ नहीं मुझको आवे। साम्यभाव रक्खूँ मैं उन पर, ऐसी परिणति हो जावे॥
गुणी जनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आवे॥ -जुगलकिशोर 'मुख्तार'

६. पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, चार विकथा (स्त्री. राज. राष्ट्र. और भोजन.) राग द्वेष और निद्रा वे १५ प्रमाद हैं।

७. पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये १० द्रव्य प्राण हैं।

प्राणों की हिंसा करने वाला है॥ १३॥

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा भी है -

मरदु वा जीवदु वा, अयदाचारस्स णिच्चदो हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो, हिंसामित्तेण समिदस्स॥

अर्थात् जीव मरे या न मरे किन्तु अयत्नाचार प्रवृत्ति से निश्चित हिंसा होती है किन्तु प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति से बन्ध नहीं होता।

असत्य का लक्षण

अस-दभिधान-मनृतम् ॥१४॥

अर्थ- प्रमाद के योग से जीवों को दुःखदायक व मिथ्यारूप वचन बोलना सो असत्य है॥ १४॥

स्तेय-चोरी का लक्षण

अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥

अर्थः- प्रमाद के योग से बिना दी हुई किसी की वस्तु को ग्रहण करना चोरी है॥ १५॥

कुशील का लक्षण

मैथुन-मब्रह्म ॥१६॥

अर्थः- मैथुन को अब्रह्म अर्थात् कुशील कहते हैं।

मैथुनः- चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से राग परिणाम सहित स्त्री पुरुषों के परस्पर स्पर्श करने की इच्छा को मैथुन कहते हैं॥ १६॥

परिग्रह पाप का लक्षण

मूर्च्छा परिग्रहः ॥१७॥

अर्थः- मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं। मूर्च्छा ही परिग्रह है।

मूर्च्छाः- बाह्य धन, धान्यादि तथा अन्तरंग क्रोधादि कषायों में 'ये मेरे हैं' ऐसा भाव रहना सो मूर्च्छा है ॥१७॥

व्रतों की विशेषता

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

अर्थः- शल्यरहित जीव ही व्रती है।

शल्यः- जो आत्मा को काँटे की तरह दुख दे उसे शल्य कहते हैं। उसके तीन भेद हैं। १. मायाशल्य **(छल कपट करना)**. मिथ्याशल्य **(तत्त्वों का श्रद्धान न होना)** और ३. निदानशल्य **(आगामी काल में विषयों की वांछा करना)** जब

तक इनमें से एक भी शल्य रहती है तब तक जीव व्रती नहीं हो सकता।

व्रतों के भेद

अगार्-यनगारश्च ॥१९॥

अर्थः- अगारी **(गृहस्थ)** और अनगार **(गृहत्यागी मुनी)** इस प्रकार व्रती के दो भेद हैं ॥ १९॥

अगारी का लक्षण

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

अर्थः- अणु अर्थात् एकदेश व्रत पालने वाला जीव अगारी कहलाता है। महाव्रती मुनि अनगारी होते हैं

अणुव्रत के पाँच भेद हैं-

अहिंसाणुव्रत- संकल्पपूर्वक त्रस जीवों की हिंसा का परित्याग करना सो अहिंसाणुव्रत है।

सत्याणुव्रत- राग, द्वेष, भय आदि के वश हो स्थूल असत्य बोलने का त्याग करना सत्याणुव्रत है।

अचौर्याणुव्रत- स्थूल चोरी के त्याग को अचौर्याणुव्रत कहते हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत- परस्त्री सेवन का त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत- आवश्यकता से अधिक परिग्रह का त्याग कर शेष का परिमाण करना सो परिग्रह परिमाणाणुव्रत है ॥२०॥

अणुव्रत के सहायक सात शीलव्रत

दिग्देशानर्थदण्डविरति सामायिक प्रोषधोपवासोपभोग परिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रत सम्पन्नश्च ॥२१॥

अर्थः- वह व्रती दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन गुणव्रतों से तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभागव्रत इन चार शिक्षाव्रतों से सहित होता है। अर्थात् व्रती श्रावक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत[१] और चार शिक्षाव्रत[२] इस प्रकार बारह व्रतों का धारी होता है।

तीन गुणव्रत

१. दिग्व्रत- मरणपर्यंत सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिये दशों दिशाओं में आने-जाने का परिमाण कर उससे बाहर नहीं जाना सो दिग्व्रत है।

१. अणुव्रतों का उपकार करें उन्हें गुणव्रत कहते हैं।

२. जिससे मुनिव्रत पालन करने की शिक्षा मिले उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं।

२. देशव्रत- जीवनपर्यन्त के लिये किये हुये दिग्व्रत में और भी संकोच करके घड़ी, घंटा, दिन, महिना आदि तक किसी जिनालय गृह, मुहल्ले आदि तक आना जाना रखना सो देशव्रत है[१]।

३. अनर्थदण्डव्रत- प्रयोजन रहित पापवर्धक क्रियाओं का त्याग करना सो अनर्थदण्डव्रत है। इसके पाँच भेद है- **१. पापोपदेश** (हिंसा आरम्भ आदि पाप के कर्मों का उपदेश देना), **२. हिंसादान** (तलवार आदि हिंसा के उपकरण देना), **३. अपध्यान** (दूसरे का बुरा विचारना), **४. दुःश्रुति** (रागद्वेष को बढ़ाने वाले खोटे शास्त्रों का सुनाना) और **५. प्रमादचर्या** (बिना प्रयोजन यहाँ वहाँ घूमना तथा पृथ्वी आदि को खोदना।)

चार शिक्षाव्रत

१. सामायिक- मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से पापों का त्याग करना सो सामायिक है।

२. प्रोषधोपवास- आगे-पीछे के दिनों में एकाशन के साथ अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उपवास आदि करना प्रोषधोपवास है।

३. उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत- भोग[२] और उपभोग[३] की वस्तुओं का परिमाण कर उससे अधिक में ममत्व नहीं करना सो भोगउपभोगपरिमाणव्रत है।

४. अतिथि संविभागव्रत- अतिथि अर्थात् मुनियों के लिये आहार, कमण्डलु, पीछी, वसतिका आदि का दान देना सो अतिथि संविभागव्रत है।

व्रती को सल्लेखना धारण करने का उपदेश

मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता॥२२॥

अर्थः- गृहस्थ, मरण के समय होने वाली सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।

सल्लेखना- इस लोक अथवा परलोक सम्बन्ध किसी प्रयोजन की अपेक्षा न करके शरीर और कषाय के कृष करने को सल्लेखना कहते हैं॥२२॥

सम्यग्दर्शन[४] के पाँच अतिचार[५]

शङ्का कांक्षा विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसा संस्तवाः सम्यग्दृष्टे-रतिचाराः ॥२३॥

अर्थः- **१. शङ्का** (जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए सूक्ष्य पदार्थों में सन्देह करना

१. दिग्व्रत और देशव्रत में समय को मर्यादा की अपेक्षा अन्तर होता है। २. जो एक बार भोगने में आवे। ३. जो बार-बार भोगने में आवे। ४. जिसका निर्दोष सम्यग्दर्शन हो वही व्रत पाल सकता है, इसलिये पहिले सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार कहते हैं। ५. व्रत के एकदेश भङ्ग होने को अतिचार कहते हैं।

अथवा सप्तभय[१] करना) **२. कांक्षा** (सांसारिक सुखों की इच्छा करना), **३. विचिकित्सा** (दु:खी दरिद्री जीवों को अथवा रत्नत्रय से पवित्र पर बाह्य में मलिन मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना), **५. अन्यदृष्टिप्रशंसा** (मनसे मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान आदि को अच्छा समझना) और **५. अन्यदृष्टिसंस्तव** (वचन से मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना) ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं। २३।

५ व्रत और ७ शीलोंके अतिचारों की संख्या

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥२४॥

अर्थ:- पाँच व्रत और सात शीलों में क्रम से पाँच-पाँच अतिचार हैं, जिनका वर्णन आगे सूत्रों में है॥ २४॥

अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार

बन्ध वधच्छेदाऽतिभारारोपणाऽन्नपान निरोधा: ॥२५॥

अर्थ:- **बन्ध** (इच्छित स्थान में जाने से रोकने के लिए रस्सी आदि से बाँधना), **वध** (कोड़ा, वेंत आदि से मारना), **छेद** (नाक, कान आदि अंङ्गों का छेदना) **अतिभारारोपण** (शक्ति से अधिक भार लादना) और **अन्नपाननिरोधा:** (समय पर खाना पीना नहीं देना) ये पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं॥२५॥

सत्याणुव्रत के अतिचार

मिथ्योपदेश रहोभ्याख्यान कूटलेख क्रिया न्यासापहार साकारमन्त्रभेदा: ॥२६॥

अर्थ:- **मिथ्योपदेश** (झूठा उपदेश देना), **रहोभ्याख्यान** (स्त्री पुरुष की एकान्त की बात को प्रकट करना), **कूटलेखक्रिया** (झूठे दस्तावेज लिखाना), **न्यासापहार** (किसी की धरोहर का अपहरण करना) और **साकारमन्त्रभेद** (हाथ से इशारे आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर उसे प्रकाशित कर देना) ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं॥२६॥

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार

स्तेनप्रयोग तदाहृतादान विरुद्धराज्यातिक्रम हीनाधिकमानोन्मान प्रतिरूपक व्यवहारा: ॥२७॥

अर्थ:- **स्तेनप्रयोग** (चोर को, चोरी के लिए प्रेरणा करना व उसके उपाय बताना), **तदाहृतादान** (चोर के द्वारा चुराई हुई वस्तु को खरीदना) **विरुद्धराज्यातिक्रम** (राजा गुरु की आज्ञा के विरुद्ध चलना, टाउनड्यूटी, टैक्स वगैरह नहीं देना), **हीनाधिकमानोन्मान** (देने लेने के बाँट तराजू वगैरह को

१. इह लोकभय, परलोकभय, मरणभय, वेदना, अगुप्तिभय और आकस्मिकभय ये सात भय हैं।

कमती-बढ़ती रखना) और **प्रतिरूपकव्यवहार** (बहुमूल्य वस्तु में, अल्प मूल्य की वस्तु मिलाकर असली भाव से बेचना), ये पाँच अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं॥२७॥

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनाऽनङ्ग क्रीडा कामतीव्राभिनिवेशा: ॥२८॥

अर्थ:- **परविवाहकरण** (अपने संरक्षणसे रहित दूसरे के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना, कराना), **परिगृहीतेत्वरिकागमन** (पति सहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास आना जाना, लेनदेन रखना, रागभावपूर्वक बातचीत करना), **अपरिगृहीतेत्वरिकागमन** (पति रहित वेश्या आदि व्यभिचारिणी स्त्रियों के यहाँ आना जाना, लेनदेन आदि का व्यवहार रखना), **अनङ्गक्रीड़ा** (कामसेवन के लिये निश्चित अङ्ग को छोड़कर अन्य अङ्गों से काम सेवन करना) और **कामतीव्राभिनिवेशा:** (कामसेवन की अत्यन्त अभिलाषा रखना), ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं॥ २८॥

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार

क्षेत्र-वास्तु हिरण्य-सुवर्ण धन-धान्य दासी-दास कुप्य प्रमाणातिक्रमा: ॥२९॥

अर्थ:- **क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम** (खेत तथा रहने के घरों के प्रमाण का उल्लंघन करना), **हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम** (चाँदी और सोने के प्रमाण का उल्लंघन करना), **धनधान्यप्रमाणातिक्रम** (गाय, भैंस आदि पशु तथा गेहूँ, चना आदि अनाज के प्रमाण का उल्लंघन करना), **दासीदासप्रमाणातिक्रम** (नौकर-नौकरानियों के प्रमाण का उल्लंघन करना) और **कुप्यप्रमाणातिक्रम** (वस्त्र तथा बर्तन आदि के प्रमाण का उल्लंघन करना) ये पाँच परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार हैं॥२९॥

दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाऽधस्तिर्यग्-व्यतिक्रम क्षेत्रवृद्धि स्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥

अर्थ:- **ऊर्ध्वव्यतिक्रम** (प्रमाण से अधिक ऊँचाई वाले पर्वतादि पर चढ़ना), **अधोव्यतिक्रम** (प्रमाण से अधिक नीचाई वाले तलघर कुएँ आदि में उतरना) **तिर्यग्व्यतिक्रम** (समान स्थान में प्रमाण से अधिक लम्बे जाना), **क्षेत्रवृद्धि** (प्रमाण किये हुए क्षेत्र को बढ़ा लेना) और **स्मृयन्तराधान** (किये हुए प्रमाण को

भूल जाना), ये पाँच दिग्व्रत के अतिचार हैं॥ ३०॥

देशव्रत के अतिचार

आनयन प्रेष्यप्रयोग शब्द रूपानुपात पुद्गलक्षेपाः ॥३१॥

अर्थः- **आनयन** (मर्यादा से बाहर की चीज को बुलाना), **प्रेष्यप्रयोग** (मर्यादा के बाहर नौकर आदि को भेजना), **शब्दानुपात** (खाँसी आदि के शब्द के द्वारा मर्यादा से बाहर वाले आदमियों को अपना अभिप्राय समझा देना), **रूपानुपात** (मर्यादा से बाहर रहने वाले आदमियों को अपना शरीर दिखाकर इशारा करना), और **पुद्गलक्षेप** (मर्यादा से बाहर कंकर, पत्थर फेंककर इशारा करना) ये पाँच देशव्रत के अतिचार हैं॥३१॥

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

कन्दर्प कौत्कुच्य मौखर्याऽसमीक्ष्याधि-करणोपभोग-परिभोगाऽनर्थक्यानि ॥३२॥

अर्थः- **कन्दर्प** (राग से हास्य सहित अशिष्ट वचन बोलना), **कौत्कुच्य** (शरीर से कुचेष्टा करते हुए अशिष्ट वचन बोलना), **मौखर्य** (धृष्टतापूर्वक आवश्यकता से अधिक बोलना) **असमीक्ष्याधिकरण** (बिना प्रयोजन, मन, वचन, काय की अधिक प्रवृत्ति करना) और **उपभोगपरिभोगानर्थक्यानि** (भोग, उपभोग के पदार्थों का आवश्यकता से अधिक संग्रह करना), ये पाँच अनर्थदण्डव्रत के अतिचार हैं॥ ३२॥

सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार

योग दुष्प्रणिधानाऽनादर स्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

अर्थः- **मनोयोग दुष्प्रणिधान** (मन की अन्यथा प्रवृत्ति करना), **वाग् योग दुष्प्रणिधान** (वचन की अन्यथा प्रवृत्ति करना), **काययोग दुष्प्रणिधान** (शरीर की अन्यथा प्रवृत्ति करना), **अनादर** (उत्साह रहित होकर सामायिक करना) और **स्मृत्यनुपस्थान** (एकाग्रता के अभाव में सामायिक पाठ वगैरह का भूल जाना), ये पाँच सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार हैं॥३३॥

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गाऽदान संस्तरोपक्रमणाऽनादर - स्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥

अर्थः- **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग** (बिना देखी, बिना शोध की हुई जमीन में मलमूत्रादि का क्षेपण करना), **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान** (बिना देखे, बिना

शोधे हुए पूजन आदि के उपकरण उठाना), **अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण** (बिना देखे, बिना शोधे हुए वस्त्र, चटाई आदि को बिछाना), **अनादर** (भूख से व्याकुल होकर आवश्यक धर्मकार्यों को उत्साह रहित होकर करना) और **स्मृत्यनुपस्थान** (करने योग्य आवश्यक कार्यों को भूल जाना), ये पाँच प्रोषधोपवास शिक्षा व्रत के अतिचार हैं॥३४॥

भोग उपभोग परिमाणव्रत के अतिचार

सचित्त सम्बंध सम्मिश्राऽभिषव दुःपक्वाहाराः ॥३५॥

अर्थः- **सचित्ताहार** (जीव सहित-हरे फल आदि का भक्षण करना), **सचित्तसम्बन्धाहार** (सचित पदार्थ से सम्बन्ध को प्राप्त हुई चीज का आहार करना), **सचित्तसन्मिश्राहार** (सचित्त पदार्थ से मिले हुए पदार्थ का आहार करना) **अभिषवाहार** (गरिष्ठ पदार्थ का आहार करना), और **दुःपक्वाहाराः**(अधपके अथवा अधिक पके हुए पदार्थ का आहार करना ये पाँच भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचार हैं॥ ३५॥

अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार

सचित्त निक्षेपाऽपिधान परव्यपदेश मात्सर्य कालाऽतिक्रमाः ॥३६॥

अर्थः- **सचित्तनिक्षेप** (सचित्त पत्ते आदि में भोजन को रखकर देना), **सचित्तापिधान** (सचित्त पत्र आदि से ढके हुए भोजनादि का दान करना), **परव्यपदेश** (दूसरे दातार की वस्तु को देना), **मात्सर्य** (अनादरपूर्वक देना अथवा दूसरे दातार से ईर्षा करके देना), और **कालातिक्रम** (योग्य काल का उल्लंघन कर अकाल में देना), ये पाँच अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार हैं॥३६॥

सल्लेखना के अतिचार

जीवित मरणाशंसा मित्रानुराग सुखानुबन्ध निदानानि ॥३७॥

अर्थः- **जीविताशंसा** (सल्लेखना धारण कर जीने की इच्छा करना), **मरणाशंसा** (वेदना से व्याकुल होकर शीघ्र मरने की वाञ्छा करना), **मित्रानुराग** (मित्रों का स्मरण करना), **सुखानुबंध** (पूर्वकालमें भोगे हुए सुखों का स्मरण करना) और **निदान** (आगामीकाल में विषयों की इच्छा करना), ये पाँच सल्लेखना व्रत के अतिचार हैं॥ ३७॥

नोटः- ऊपर कहे हुए ७० अतिचारों का त्यागी ही निर्दोष व्रती कहलाता है।

दान का लक्षण

अनुग्रहार्थं स्वस्याऽतिसर्गो दानम् ॥३८॥

अर्थः- **अनुग्रहार्थम्** (अपने और परके उपकार के लिए) **स्वस्य** (धनादि का) **अतिसर्गः** (त्याग करना **(दानम्)** दान है।

नोटः- दान देने में अपना उपकार तो यह है कि पुण्य का बन्ध होता है परका उपकार यह है कि दान लेने वाले के सम्यग्ज्ञान आदि गुणों की वृद्धि होती है । यह दान का परम लाभ है॥ ३८॥

दान में विशेषता

विधि द्रव्य दातृ पात्र विशेषात्तद्-विशेषः ॥३९॥

अर्थः- विधि विशेष, द्रव्य विशेष, दातृविशेष और पात्रविशेष से उस दान में विशेषता होती है।

विधिविशेषः- नवधाभक्ति के क्रम को विधि विशेष कहते हैं।

द्रव्यविशेषः- तप, स्वाध्याय आदि की वृद्धि में कारण आहार को द्रव्य विशेष कहते हैं।

दातृविशेषः- श्रद्धा आदि सप्तगुण सहित दातार को दातृविशेष कहते हैं।

पात्रविशेषः- सम्यक्चारित्र आदि गुणसहित मुनि आदि को पात्रविशेष कहते हैं। पात्र के ३ भेद हैं- **१. उत्तम पात्र**- मुनिराज **२. मध्यम पात्र** - देशव्रती ३. **जघन्यपात्र**- सम्यक्दृष्टि श्रावक। ॥ ३९॥

इति श्री मदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः

सम्यक्त्वेन समं वासो नरकेऽपि वरं सताम्।
सम्यक्त्वेन विना नैव निवासो राजते दिवि॥

भावार्थ - सज्जन सम्यक्त्व के साथ नरक में भी निवास करें तो भी अच्छा है क्योंकि वहाँ से आकर मनुष्य होकर मोक्ष का पुरुषार्थ करेंगे किन्तु मिथ्यात्व के साथ स्वर्ग में भी निवास शोभा नहीं देता। क्योंकि स्वर्ग में भोगों में आसक्त होगा और वहाँ से आकर एकेन्द्रियादि में उत्पन्न हो सकता है।

अष्टम अध्याय

बन्धतत्त्व का वर्णन

बन्ध के कारण

मिथ्यादर्शनाऽविरति प्रमाद कषाय योगा बन्धहेतवः ॥१॥

अर्थः- मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच कर्मबन्ध के कारण हैं।

मिथ्यादर्शनः-सुतत्त्वों का श्रद्धान न होने को मिथ्यादर्शन कहते हैं। इसके दो भेद हैं।

गृहीत मिथ्यादर्शन- सम्यक्दृष्टी जीव को परोपदेश के निमित्त से जो अतत्त्व श्रद्धान हो, उसे गृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

अगृहीत मिथ्यादर्शनः- जो अनादिकाल से परोपदेश के बिना मिथ्यात्व कर्म के उदय से हो, उसे अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

मिथ्यादर्शन के ५ भेद और भी हैं- १. एकांत, २. विपरीत, ३. संशय, ४. वैनयिक और ५. अज्ञान।

१. एकांत मिथ्यादर्शनः- अनेक धर्मात्मक वस्तुयें यह इसी प्रकार हैं, इस तरह के एकांत अभिप्राय को एकांत मिथ्यादर्शन कहते हैं। जैसे बौद्ध मतवाले वस्तु को अनित्य ही मानते हैं और वेदांती सर्वथा नित्य ही मानते हैं। अन्त-धर्म, गुण ॥ जैसे-आत्मा को एकान्तत:शुद्ध मानना।

२. विपरीत मिथ्यादर्शनः- परिग्रह सहित भी गुरुहो सकता है, केवली कवलाहार करते हैं, स्त्री को भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है, इत्यादि उल्टे श्रद्धान को विपरीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

३. संशय मिथ्यादर्शनः- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये मोक्ष के मार्ग हैं अथवा नहीं, इस प्रकार से चलायमान श्रद्धान को संशय मिथ्यादर्शन कहते हैं।

४. वैनयिक मिथ्यादर्शनः- सभी के देवों को तथा सब प्रकार के मतों को समान मानना एवं आराधना करना वैनयिक मिथ्यादर्शन है।

५. अज्ञान मिथ्यादर्शनः- हिताहित की परीक्षा न करके श्रद्धान करना अज्ञान मिथ्यात्व है।

अविरतिः- छह[१] काय के जीवों की हिंसा के त्याग न करने और पाँच इन्द्रिय तथा

१. पाँच स्थावर और त्रस ये छह काय के जीव हैं।

मन के विषयों में प्रवृत्ति करने को अविरति कहते हैं। इसमें बारह भेद हैं - पृथ्विकायिकाविरति, जलकायिकाविरति इत्यादि।

बन्ध के हेतु मुख्य रूप से ४ हैं -मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग। परन्तु यहाँ गुणस्थानों का क्रम ध्यान में रखते हुए कषाय को दो भागों में बाँटा गया है- प्रमाद और कषाय। यहाँ बन्ध के पाँच हेतु बतलाये गये हैं।

प्रमादः- ५ समिति, ३ गुप्ति, ८ शुद्धि[1] धर्म इत्यादि अच्छे कार्यों में उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति न करने को प्रमाद कहते हैं[2] । इसके १५ भेद हैं। (४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रिय विषय,१ निद्रा, १ स्नेह)

कषायः- इसके २५भेद हैं। (सारणी में देखें)

योगः- इसके १५ भेद हैं- **४ मनोयोग**, (सत्य, असत्य, उभय, अनुभय) **४ वचन योग** और **७ काययोग**। (औदारिक, वैक्रियक, आहारक शरीर एवं इनके मिश्र तथा कार्माण काययोग)

नोटः- ये मिथ्यादर्शन आदि सम्पूर्ण तथा पृथक्-पृथक् बन्ध के कारण हैं। अर्थात्- किसी के पाँचों ही बन्ध के कारण हैं, किसी के अविरति आदि ४ किसी के प्रमाद आदि ३ किसी के कषाय आदि २ और किसी के सिर्फ एक योग ही बन्ध का कारण है॥ १॥

बन्ध का लक्षण

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानाऽदत्ते स बन्धः ॥२॥

अर्थः- **(जीवः)** जीव **(सकषायत्वात्)** कषाय सहित होने से **(कर्मणः-योग्यान्)** कर्म के योग्य **(पुद्गलान्)** कार्माण वर्गणा रूप पुद्गल परमाणुओं को **(आदत्ते)** ग्रहण करता है **(सः)** वह **(बन्धः)** बन्ध है।

भावार्थः- सम्पूर्ण लोक में कार्माण वर्गणारूप पुद्गल भरे हुए हैं। कषाय के निमित्त से उनका आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाता है यही बन्ध कहलाता है।

नोटः- इस सूत्र में 'कर्मयोग्यान्' ऐसा समास न करके जो अलग-अलग ग्रहण किया है उससे सूत्र का यह अर्थ भी निकलता है कि-'जीव कर्म से सकषाय होता है और सकषाय होने से कर्म-रूप पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बन्ध कहलाता है' बन्ध अर्थात् जीव कर्म का परस्पर मेल॥ २॥

१. १.भावशुद्धि, २. कायशुद्धि, ३. विनयशुद्धि, ४. ईर्यापथशुद्धि, ५. भैक्ष्यशुद्धि, ६. प्रतिष्ठापनशुद्धि, ७. शयनासनशुद्धि, ८.वाक्यशुद्धि।

२. प्रमाद और कषाय में सामान्य विशेष का अन्तर है।

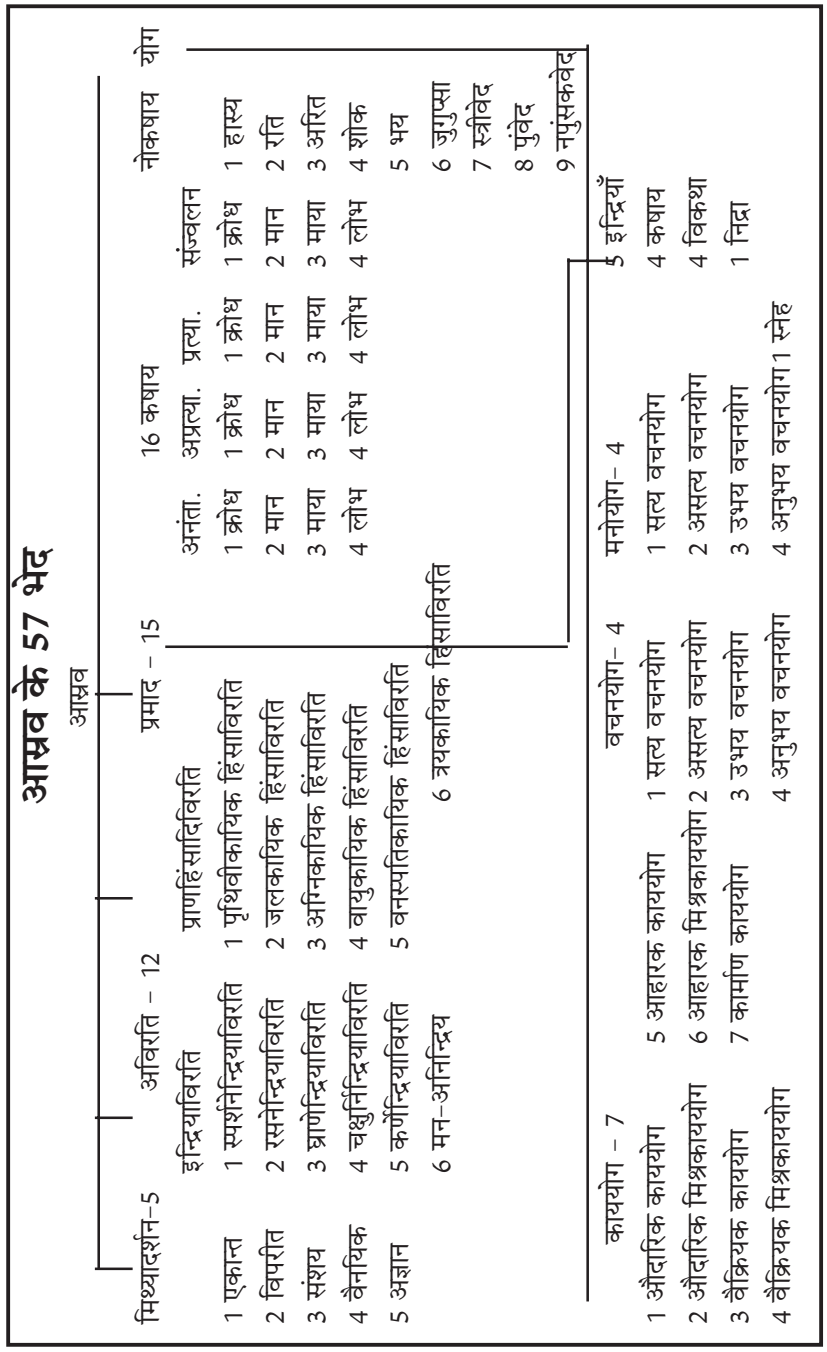

बन्ध के भेद

प्रकृति स्थित्यनुभव प्रदेशास्तद्-विधयः ॥३॥

अर्थः- प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग और प्रदेशबन्ध ये बन्ध के चार भेद हैं।

प्रकृतिबन्धः- कर्मों के स्वभाव को प्रकृतिबन्ध कहते हैं।

स्थितिबन्धः- ज्ञानावरणादि कर्मों का अपने स्वभाव से निश्चित समय तक च्युत नहीं होना सो स्थितिबन्ध है। जैसे-किसी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ा कोड़ी सागर होना। या आयु कर्म की स्थिति ३३ सागर होना।

अनुभागबन्धः- ज्ञानावरणादि कर्मों के रसविशेष को अनुभागबन्ध कहते हैं। पानी में, बकरी के दूध में, गाय के दूध में या भैंस के दूध में उत्तरोत्तर लोच में वृद्धि होती है।

प्रदेशबन्धः- ज्ञानावरणादि कर्मरूप होनेवाले पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेशबन्ध कहते हैं। प्रतिक्षण अनन्त कर्मों का बंध होता है।

नोटः- इन चार प्रकार के बन्धों में प्रकृति और प्रदेशबन्ध योग के निमित्त से होते हैं तथा स्थिति और अनुभागबन्ध कषाय के निमित्त से होते हैं ॥३॥

प्रकृतिबन्ध का वर्णन-प्रकृतिबन्ध के मूल भेद

आद्योज्ञानदर्शनावरण वेदनीय मोहनीयाऽयुर्-नामगोत्रान्तरायाः ॥४॥

अर्थः- पहला प्रकृतिबन्ध-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ऐसे आठ प्रकार का है।

ज्ञानावरणः- जो आत्मा के ज्ञान गुणों को घाते उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरणः- जो आत्मा के दर्शनगुण को घाते उसे दर्शनावरण कहते हैं।

वेदनीयः-जिसके उदय से जीवों को सुख-दुख का वेदन होवे उसे वेदनीय कहते हैं।

मोहनीयः- जिसके उदय से जीव अपने स्वरूप को भूलकर अन्य को अपना समझने लगे वह मोहनीय है।

आयुः- जो इस जीव को नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों में से किसी शरीर में रोके रखे वह आयुकर्म है।

नामः- जिसके उदय से शरीर आदि की रचना हो उसे नामकर्म कहते हैं।

गोत्रः- जिसके उदय से यह जीव ऊँच-नीच कुल में पैदा होवे उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

अन्तरायः- जिसके उदय से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न आवे उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

नोटः- आठ कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया (जीव के[1] अनुजीवी गुणों के घातने वाले) हैं और बाकी के चार कर्म अघातिया ([2]प्रतिजीवी गुणों के घातने वाले) हैं।[3]

प्रकृतिबन्ध के उत्तर भेद

पञ्च नव द्व्यष्टाविंशति चतुर्द्विचत्वारिंशद् द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥५॥

अर्थः- ऊपर कहे हुए ज्ञानावरणादि कर्म क्रम से ५,९,२,२८,४,४२,२ और ५ भेदवाले हैं ॥५॥

ज्ञानावरण के पाँच भेद

मतिश्रुताऽवधि मनःपर्यय केवलानाम् ॥६॥

अर्थः- **मतिज्ञानावरण** (मतिज्ञान को ढाँकने वाला), **श्रुतज्ञानावरण** (श्रुतज्ञान को ढाँकने वाला), **अवधिज्ञानावरण** (अवधिज्ञान को ढाँकने वाला), **मनःपर्ययज्ञानावरण** (मनःपर्ययज्ञान को ढाँकने वाला) और **केवलज्ञानावरण** (केवलज्ञान को ढाँकने वाला) ये पाँच ज्ञानावरण के भेद हैं ॥६॥

दर्शनावरण कर्म के ९ भेद

चक्षु-रचक्षु रवधि केवलानां निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला,प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धचश्च ॥७॥

अर्थः- चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये नौ दर्शनावरण कर्म के भेद हैं। जो दर्शन गुण को रोकता है।

चक्षुर्दर्शनावरणः- जो कर्म चक्षु इन्द्रिय से होने वाला सामान्य आभास न होने दे उसे चक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं।

अचक्षुर्दर्शनावरणः- जिस कर्म के उदय से चक्षु इन्द्रिय को छोड़कर शेष इन्द्रियों तथा मन से पदार्थ का सामान्य अवलोकन न हो सके उसे अचक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं।

अवधिदर्शनावरणः- जो कर्म अवधिज्ञान से पहले होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे उसे अवधिदर्शनावरण कहते हैं।

केवलदर्शनावरणः- जो कर्म केवलज्ञान के साथ[4] होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे उसे केवलदर्शनावरण कहते हैं।

---

१. सद्भाव रूप गुण। २. अभाव रूप गुण। ३. जिस प्रकार एक ही बार खाया हुआ भोजन, रस, खून आदि नाना रूप हो जाता है उसी तरह एक बार ग्रहण किया हुआ कर्म ज्ञानावरणादि अनेक रूप हो जाता है। विशेषता यह है कि भोजन, रस, खून आदि रूप क्रम-क्रम से होता है, परन्तु कर्म ज्ञानावरणादि रूप एक साथ हो जाता है। ४. छद्मस्थ जीवों के दर्शन और ज्ञान क्रम से होते हैं अर्थात् पहले दर्शन बाद में ज्ञान। परन्तु केवली भगवान के दोनों एकसाथ होते हैं, क्योंकि उनके बाधक कर्मों का एकसाथ क्षय होता है।

[1]**निद्राः**- मद, खेद, श्रम आदि को दूर करने के लिये जो शयन करते हैं वह निद्रा जिस कर्म के उदय से हो वह कर्म निद्रा दर्शनावरण है।

निद्रानिद्राः- नींद के बाद फिर-फिर नींद आने को निद्रानिद्रा कहते हैं। निद्रानिद्रा के वशीभूत होकर जीव अपनी आँखों को नहीं खोल सकता।

प्रचलाः- बैठे-बैठे नेत्र, शरीर आदि में विकार करने वाली, शोक तथा थकावट आदि से उत्पन्न हुई नींद प्रचला कहलाती है। प्रचला के वशीभूत हुआ जीव सोता हुआ भी जागता रहता है।

प्रचलाप्रचलाः- प्रचला के ऊपर प्रचला के आने को प्रचलाप्रचला प्रकृति कहते हैं। प्रचलाप्रचला के द्वारा शयन अवस्था में मुँह से लार बहने लगती है, दाँत किटकिटाते तथा अंगोपांग चलने लगते हैं।

स्त्यानगृद्धिः- जिस निद्रा के द्वारा सोती अवस्था में भी नाना तरह के भयंकर कार्य कर डाले और जागने पर कुछ मालूम ही नहीं हो कि मैंने क्या किया है उसको स्त्यानगृद्धि कहते हैं[1] ॥ ७ ॥

वेदनीय के दो भेद

स-दसद्-वेद्ये ॥८॥

अर्थः- सद्वेद्य और असद्वेद्य ये दो वेदनीय कर्म के भेद हैं।

सद्वेद्यः- जिसके उदय से देव आदि गतियों में शारीरिक तथा मानसिक सुख प्राप्त हो उसे सद्वेद्य कहते हैं।

असद्वेद्यः- जिसके उदय से नरकादि गतियों में तरह-तरह के दुःख प्राप्त हों उसे असद्वेद्य कहते हैं ॥ ८ ॥

मोहनीय के २८ भेद

दर्शन-चारित्र-मोहनीयाऽकषायकषाय-वेदनीयाख्यास्त्रि-द्वि-षोडश-भेदाःसम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्यकषाय-कषायौ-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुं-नपुंसक वेदाः अनंतानुबंध्-य-प्रत्याख्यान प्रत्याख्यान संज्वलन विकल्पाश्चैकशः क्रोध मान माया लोभः ॥९॥

अर्थः- दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय के भेदरूप मोहनीय कर्म के क्रम से तीन, दो, और सोलह भेदरूप हैं। जिनमें से सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीय कर्म के भेद हैं।

१. यह पाँच तरह की निद्रा जिस कर्म के उदय से होती है वह निद्रा दर्शनावरण आदि कर्मभेद कहलाता है।

अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय ये दो चारित्र मोहनीय के हैं। इनमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष और नपुंसकवेद ये ९ अकषाय वेदनीय के भेद हैं और अनन्तानुबन्धी , अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन इन चार भेदस्वरूप क्रोध, मान, माया, लोभ ये सोलह भेद कषाय वेदनीय के हैं। इस प्रकार दर्शन मोहनीय ३- नोकषाय ९ + कषाय १६ = २८

भावार्थः- मोहनीय कर्म के मुख्यतः दो भेद हैं - दर्शनमोहनीय[1] और २ चारित्रमोहनीय[2], उनमें दर्शनमोहनीय के तीन और चारित्रमोहनीय के २५ इस प्रकार कुल मिलाकर मोहनीय कर्म के २८ भेद हैं।

मिथ्यात्व प्रकृति- जिस कर्म के निमित्त से सर्वज्ञ-कथित मार्ग से परांगमुखता हो उसे मिथ्यात्व प्रकृति कहते हैं।

सम्यक्त्व प्रकृतिः- जिस कर्म के उदय से आत्मा के श्रद्धान में,चल,मलिन,अगाढ़ दोष उत्पन्न हों उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहते हैं।

सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिः- जिस कर्म प्रकृति के उदय से मिले हुए दही गुड़ के स्वाद की तरह उभयरूप परिणाम हों उसे सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति कहते हैं।[3]

हास्यः- जिसके उदय से हँसी आवे वह हास्य नोकषाय[4] है।

रतिः- जिसके उदय से विषयों में प्रेम हो वह रति है।

अरतिः- जिसके उदय से विषयों में प्रेम न हो वह अरति है।

शोकः- जिसके उदय से शोक चिन्ता हो वह शोक है।

भयः- जिसके उदय से डर लगे वह भय है।

जुगुप्साः- जिसके उदय से ग्लानि हो वह जुगुप्सा है।

स्त्रीवेदः- जिसके उदय से पुरुष से रमने के भाव हों वह स्त्री वेद है।

पुंवेदः- जिसके उदय से स्त्री के साथ रमने के भाव हों वह पुरुष वेद है।

नपुंसक वेदः- जिसके उदय से स्त्री, पुरुष दोनों से रमने की इच्छा हो वह नपुंसक वेद है।

अनन्तानुबन्ध क्रोध मान माया लोभः- जो आत्मा के सम्यग्दर्शनगुण को प्रकट न होने दे उसे अनन्तानुबन्ध कहते हैं। १. अनन्त संसार का कारण होने से

१. जो आत्मा के सम्यक्त्व गुण को घाते, २. जो आत्मा के चारित्रगुण को घाते ।

३. सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति इन दो प्रकृतियों का बन्ध नही होता किन्तु आत्मा के शुभ परिणामों से मिथ्यात्व प्रकृति की अनुभाग शक्तिहीन हो जाने से उसमें इन दो प्रकृति रूप परिणमन हो जाता है। ४. हास्य आदि ९ कषाय क्रोधादिक की तरह आत्मा के गुणों का पूरा घात नहीं करती इसलिये इन्हें नोकषाय (किञ्चित कषाय) कहते हैं।

मिथ्यात्व को अनन्त कहते हैं उसके साथ ही इसका अनुबन्ध (सम्बन्ध) ६माह से अधिक रहता है इसलिये इसको अनन्तानुबन्धी कहते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण- क्रोध मान माया लोभः- जिसके उदय से देशचारित्र न हो सके उसे[1] अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं। इसका काल ६ माह है।

प्रत्याख्यानावरण-क्रोध मान माया लोभः- जो प्रत्याख्यान अर्थात् सकलचारित्र को घाते उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। इसका काल १५ दिन अर्थात् १ पक्ष है।

संज्वलन-क्रोध मान माया लोभः- जिसके उदय से[2] यथाख्यातचारित्र न हो सके उसे संज्वलन कहते हैं। यह कषाय सम अर्थात् संयम के साथ ज्वलित-जागृत रही आती है, इसलिये इसका नाम संज्वलन है।

नोटः- इन कषायों में आगे-आगे मन्दता है और नीचे-नीचे तीव्रता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है॥ ८॥

आयु कर्म के भेद

नारक तैर्यग्योन मानुष दैवानि ॥१०॥

अर्थः- नरकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार आयु कर्म के भेद हैं।

नरकायुः- जिस कर्म के उदय से जीव नारकी के शरीर में निश्चित समय तक रुका रहे उसे नरकायु कहते हैं। इसी तरह तिर्यंच आदि सब भेदों में समझना चाहिये ॥१०॥

नाम कर्म के भेद

गति जाति शरीराङ्गोपांङ्ग निर्माण बन्धन संघात संस्थान संहनन स्पर्श रस गन्ध वर्णाऽनुपूर्व्याऽगुरुलघूपघात परघाताऽतपोद्योतोच्छ्वास विहायोगतयः प्रत्येक शरीर त्रस सुभग सुस्वर शुभ सूक्ष्म पर्याप्ति स्थिरादेय यशःकीर्ति सेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥११॥

अर्थः- गति, जाति, शरीर, अङ्गोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति। ये इक्कीस तथा प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति ये दश तथा इनके उल्टे साधारण, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, स्थूल, अपर्याप्त, अस्थिर, अनादेय, अयशःकीर्ति, ये दश और तीर्थंकरत्व इस प्रकार सब मिलकर नामकर्म के ४२ भेद हैं। गति

१. अ-अल्प-प्रत्याख्यान-चारित्र का आवरण करने वाला।

२. जो चारित्रमोहनीय के उपशम अथवा क्षय से होता है उसे यथाख्यात चारित्रकहते हैं।

आदि के अवान्तर भेद करने से ९३ भेद होते हैं।

१. गतिः- जिसके उदय से जीव दूसरे भव को प्राप्त करता है उसे गति नामकर्म कहते हैं। इनके चार भेद हैं १. नरकगति, २. तिर्यग्गति, ३. मनुष्यगति और ४. देवगति।

२. जातिः- जिस कर्म के उदय से जीव नरकादि गतियों में अव्यभिचाररूप समानता से एकरूपता को प्राप्त होवे वह जाति नामकर्म है इसके पाँच भेद हैं- १. एकेन्द्रिय जाति, २. द्वीन्द्रिय जाति, ३. त्रीन्द्रिय जाति, ४. चतुरिन्द्रिय जाति और ५. पंचेन्द्रिय जाति। जिसके उदय से जीव एकेन्द्रिय जाति में पैदा हो उसे एकेन्द्रिय जाति नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेदों का लक्षण जानना चाहिये ।

३. शरीरः- जिस कर्म के उदय से शरीर की रचना हो उसे शरीर नामकर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं- १. औदारिक शरीर नामकर्म, २. वैक्रियक शरीर नामकर्म, ३. आहारक शरीर नामकर्म, ४. तैजस शरीर नामकर्म और ५. कार्माण शरीर नामकर्म । जिसके उदय से औदारिक शरीर की रचना हो उसे औदारिक शरीर नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार सब भेदों के लक्षण जानना चाहिये।

४. अङ्गोपांग :- जिसके उदय से अंङ्ग.- उपाङ्गों की रचना हो उसे अङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। इसके तीन भेद हैं- १. औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, २ . वैक्रियक शरीराङ्गोपाङ्ग और ३. आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग। जिसके उदय से औदारिक शरीर के अंङ्ग और उपाङ्गों की रचना हो उसे औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं। इस प्रकार शेष दो भेदों के लक्षण समझना चाहिये। (२ हाथ, २ पैर, नितम्ब, पीठ, वक्ष स्थल, सिर ये ८ अंग हैं तथा अंगुलि आदि उपांग हैं)

५. निर्माणः- जिसके उदय से अंगोपांगों की यथास्थान रचना हो उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं।

६. बन्धन नामकर्मः- शरीर नामकर्म के उदय से ग्रहण किये हुए पुद्गल स्कन्धों का परस्पर सम्बन्ध जिस कर्म के उदय से होता है उसे बन्धन नामकर्म कहते हैं इसके पाँच भेद हैं- १. औदारिक बन्धन नामकर्म, २.वैक्रियक बन्धन नामकर्म, ३. आहारक बन्धन नामकर्म, ४. तैजस बन्धन नामकर्म, ५. कार्माण बन्धन नामकर्म। जिसके उदय से औदारिक शरीर के परमाणु दीवाल में लगे हुए ईंट और गारे की तरह छिद्र सहित परस्पर सम्बन्ध को प्राप्त हों वह औदारिक बन्धन नामकर्म है। इसी प्रकार अन्य भेदों का लक्षण जानना चाहिए ।

७. संघात नामकर्मः- जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीरों के प्रदेशों

का छिद्र रहित बन्धन हो तो उसे संघात नामकर्म कहते हैं। इसके भी ५ भेद हैं – औदारिक संघात, वैक्रियक संघात, आहारक संघात तैजस संघात, कार्माण संघात।

८. संस्थान नामकर्मः– जिस कर्म के उदय से शरीर का संस्थान अर्थात् आकार बने उसे संस्थान नामकर्म कहते हैं। इसके ६ भेद हैं– १. समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म, २. न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, ३. स्वातिसंस्थान, ४. कुब्जकसंस्थान, ५. वामनसंस्थान और ६. हुण्डकसंस्थान ।

जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर ऊपर नीचे तथा बीच में समान भागरूप अर्थात् अंगोपांग अवगाहनानुसार सुडौल हो उसे **समचतुरस्रसंस्थान** कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर वटवृक्ष की तरह नाभि से नीचे पतला और ऊपर मोटा हो उसे **न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान** कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सर्प की वामी की तरह ऊपर पतला और नीचे मोटा हो उसे **स्वातिसंस्थान** नामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कुबड़ा हो उसे **कुब्जकसंस्थान** नामकर्म कहते हैं और जिस कर्म के उदय से बौना शरीर हो उसे **वामनसंस्थान** नामकर्म कहते हैं और जिस कर्म के उदय से शरीर के अङ्गोपांग किसी खास आकृति के न हों उसे **हुण्डकसंस्थान** नामकर्म कहते हैं।

९. संहनन नामकर्मः– जिस कर्म के उदय से हड्डियों के बन्धन में विशेषता हो उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। इसके ६ भेद हैं– १. वज्रवृषभनाराच संहनन, २. वज्रनाराच संहनन, ३. नाराच संहनन, ४. अर्द्धनाराच संहनन, ५. कीलक संहनन और ६. असंप्राप्तासृपाटिका संहनन।

जिस कर्म के उदय से वृषभ (**वेष्टन**), नाराच (**कील**) और संहनन हड्डियाँ वज्र की ही हो उसे **वज्रवृषभनाराच** संहनन नामकर्म कहते हैं ॥ १॥ जिस कर्म के उदय से वज्र के हाड़ और वज्र की कीलियाँ हों परन्तु वेष्टन वज्र के न हों उसे **वज्रनाराच संहनन** नामकर्म कहते हैं ॥ २॥ जिसके उदय से सामान्य वेष्टन और **कीली सहित हाड़** हों उसे **नाराच संहनन** नामकर्म कहते हैं ॥ ३॥ जिसके उदय से हड्डियों की संधियाँ अर्ध कीलित हों उसे **अर्धनाराच** संहनन नामकर्म कहते हैं॥ ४॥ जिसके उदय से हड्डियाँ परस्पर कीलित हों उसे **कीलक** संहनन नामकर्म कहते हैं॥ ५॥ और जिनके कर्म उदय से जुदी-जुदी हड्डियाँ नसों से बँधी हुई हों, परस्पर में कीलित नहीं हो उसे **असंप्राप्तासृपाटिका संहनन** नामकर्म कहते हैं॥६॥

१०. स्पर्शः– जिसके उदय से शरीर में स्पर्श हो उसे स्पर्श नामकर्म कहते हैं।

इसके आठ भेद हैं– **१.कोमल, २. कठोर, ३. गुरु, ४. लघु, ५. शीत, ६. उष्ण, ७. स्निग्ध और ८. रूक्ष।**

११. रसः– जिसके उदय से शरीर में रस हो वह रस नामकर्म कहलाता है। इसके ५ भेद हैं –तिक्त (**चरपरा**), कटु (**कड़वा**), कषाय (**कषायला**), आम्ल (**खट्टा**) और मधुर (**मीठा**)

१२. गन्धः– जिस कर्म के उदय से गन्ध आवे उसे गन्ध नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं– १.सुगन्ध, २. दुर्गन्ध।

१३. वर्णः– जिसके उदय से शरीर में वर्ण अर्थात् रूप हो वह वर्ण नामकर्म है। इसके पाँच भेद हैं –

१. शुक्ल, २. कृष्ण, . ३. नील, ४. रक्त और ५. पीत।

१४. आनुपूर्व्यः– जिस कर्म के उदय से विग्रह गति में मरण से पहले के शरीर के आकार आत्मा के प्रदेश रहते हैं उसे **आनुपूर्व्य** नामकर्म कहते हैं। इनके चार भेद हैं– **१. नरक गत्यानुपूर्व्य, २. तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, ३. मनुष्यगत्यानुपूर्व्य और ४. देवगत्यानुपूर्व्य।** जिस समय आत्मा मनुष्य अथवा तिर्यंच आयु को पूर्ण कर पूर्व शरीर से पृथक् हो नरकभव के प्रति जाने को सम्मुख होता है उस समय पूर्व शरीर के आकार में आत्मा के प्रदेश जिस कर्म के उदय से होते है उसे **नरकगत्यानुपूर्व्य** कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों के लक्षण जानना चाहिये।

१५. अगुरुलघु नामकर्मः– जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे के गोले की तरह भारी और आक के तूल की तरह हल्का न हो वह अगुरुलघु नामकर्म है। जैसे अपने हाथ का वजन होने पर भी भारी नहीं लगता।

१६. उपघातः– जिस कर्म के उदय से अपने अंङ्गों से अपना घात हो उसे उपघात नामकर्म कहते हैं। जैसे भैंस के मोड़दार सींग आदि।

१७. परघातः– जिसके उदय से दूसरे का घात करने वाले अंङ्गोंपांग हों उसे परघात नामकर्म कहते हैं। जैसे कुत्ते की दाढ़ पक्षी की चोंच।

१८. आतपः– जिस कर्म के उदय से आतापरूप शरीर हो उसे आतप नामकर्म कहते हैं[१]।

१९. उद्योतः– जिस कर्म के उदय से उद्योतरूप शरीर हो उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं[१]।

१. इसका उदय सूर्य के विमान में स्थित बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवों के होता है। जो मूल में ठण्डा जिसकी किरणें गर्म होती हैं ।

२०. उच्छ्वासः- जिस कर्म के उदय से शरीर में श्वॉस-उच्छ्वास हो उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं।

२१. विहायोगतिः- जिसकर्म के उदय से आकाश में गमन हो उसे विहायोगति नामकर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं- १. प्रशस्त विहायोगति और २. अप्रशस्त विहायोगति।

२२. प्रत्येक शरीरः- जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही स्वामी हो वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है।

२३. साधारण शरीरः- जिस कर्म के उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी हों वह साधारण शरीर नामकर्म है।[२]

२४. त्रस नामकर्मः- जिस कर्म के उदय से द्वीन्द्रियादिक जीवों में जन्म हो उसे त्रस नामकर्म कहते हैं।

२५. स्थावर नामकर्मः- जिस कर्म के उदय से एकेन्द्रिय जीवों में जन्म हो उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं।

२६. सुभग नामकर्मः-जिस कर्म के उदय से दूसरे जीवों को अपने से प्रीति उत्पन्न हो उसे सुभग नामकर्म कहते हैं।

२७. दुर्भग नामकर्मः- जिस कर्म के उदय से रूपादि गुणों से युक्त होने पर भी दूसरे जीवों को अप्रीति उत्पन्न हो उसे दुर्भग नामकर्म कहते हैं।

२८. सुस्वरः- जिस कर्म के उदय से उत्तम स्वर (आवाज) हो उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं।

२९. दुःस्वरः- जिस कर्म के उदय से खराब स्वर हो उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं।

३०. शुभः- जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों उसे शुभ नामकर्म कहते हैं।

३१. अशुभः- जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव देखने में मनोहर न हों उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

३२. सूक्ष्मः- जिस कर्म के उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जो न किसी को रोक सकता हो और न किसी से रोका जा सकता हो उसे सूक्ष्म नामकर्म कहते हैं।

३३. बादर (स्थूल):- जिस कर्म के उदय से दूसरे को रोकने वाला तथा दूसरे

१. इसका उदय चन्द्रमा के विमान में स्थित पृथ्वीकायिक जीवों के तथा खद्योत (जुगनू) आदि जीवों के होता है। जो मूल में ठण्डा और किरणें भी ठण्डी हों

२. इनका उदय निगोदिया वनस्पति कायिक जीवों के होता है।

से रुकने वाला स्थूल शरीर प्राप्त हो उसे बादर शरीर नामकर्म कहते हैं।

३४. पर्याप्ति नामकर्मः- जिसके उदय से अपने योग्य पर्याप्ति पूर्ण हों उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।[१]

३५. अपर्याप्ति नामकर्मः- जिस कर्म के उदय से जीव के पर्याप्ति पूर्ण न हों उसे अपर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।[२]

३६. स्थिरः- जिस कर्म के उदय से शरीर की धातुएँ (रस,रुधिर, मांस, मेदा, हाड़, मज्जा और शुक्र) तथा उपधातुएँ (वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि) अपने-अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त हों उसे स्थिर नामकर्म कहते हैं।

३७. अस्थिरः- जिस कर्म के उदय से पूर्वोक्त धातु-उपधातुएँ अपने-अपने स्थान में स्थिर न रहें उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

३८. आदेयः- जिस कर्म के उदय से प्रभा सहित शरीर हो उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

३९. अनादेयः- जिस कर्म के उदय से प्रभा रहित शरीर हो उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं।

४०. यशःकीर्तिः- जिस कर्म के उदय से संसार में जीव की प्रशंसा हो उसे यशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं।

४१. अयशःकीर्तिः- जिस कर्म के उदय से जीव की संसार में निन्दा हो उसे अयशःकीर्ति नामकर्म कहते हैं।

४२. तीर्थकरत्वः- अरहन्तपद के कारणभूत कर्म को तीर्थकरत्व नामकर्म कहते हैं।

गोत्र कर्म के भेद

उच्चैर्-नीचैश्च ॥१२॥

अर्थः- उच्चगोत्र और नीचगोत्र ये दो भेद गोत्रकर्म के हैं।

१ . आहारवर्गणा, भाषावर्गणा और मनोवर्गणा के परमाणुओं को शरीर इन्द्रियादि रूप परिणत करने वाली शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति कहते हैं। इसके छह भेद हैं- १. आहार पर्याप्ति, २.शरीर पर्याप्ति, ३. इन्द्रिय पर्याप्ति, ४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, ५. भाषा पर्याप्ति और ६. मनः पर्याप्ति। इनमें से एकेन्द्रिय जीव के भाषा और मन के बिना। असैनी पंचेन्द्रिय के मन के बिना और सैनी जीव के ६पर्याप्तियाँ होती हैं। जिस जीव की शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है। वह पर्याप्तक कहा जाता है।

२. जिस जीव की पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती उसे अपर्याप्तक कहते हैं। अपर्याप्तक के दो भेद हैं- १. निर्वृत्यपर्याप्तक और २ . लब्ध्यपर्याप्तक जिस जीव की शरीर पर्याप्ति अभी पूर्ण तो न हुई हो किन्तु नियम से पूर्ण होने वाली हो उसे निर्वृत्यपर्याप्तक कहते हैं। जिस जीव की एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हुई हो और न होने वाली हो उसे लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं।

१. उच्चगोत्रः- जिसके उदय से लोकमान्य कुल में जन्म हो उसे उच्च गोत्रकर्म कहते हैं ॥१२॥

२. नीचगोत्रः- जिस कर्म के उदय से लोकनिन्द्य कुल में जन्म हो उसे नीच गोत्रकर्म कहते हैं॥१२॥

अन्तराय कर्म के भेद

दान लाभ भोगोपभोग वीर्याणाम् ॥१३॥

अर्थः- दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये अन्तरायकर्म के भेद हैं। जिसके उदय से जीव, दान की इच्छा रखता हुआ भी दान न कर सके उसे दानान्तराय कर्म कहते हैं। इसी प्रकार अन्य भेदों के भी लक्षण समझना चाहिए ॥१३॥

स्थितिबन्ध का वर्णन

आदितस्-तिसृणा-मन्तरायस्य च त्रिंशत्-सागरोपम कोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥१४॥

अर्थः- आदि के तीन (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय) और अन्तराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर की है। (एक करोड़ में एक करोड़ का गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त हो उसे कोड़ा कोड़ी कहते हैं।)

नोटः- मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के ही इस उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होता है॥ १४॥

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

सप्ततिर्-मोहनीयस्य ॥१५॥

अर्थः- मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़कोड़ी सागर की है॥१५॥

नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति

विंशतिर्-नामगोत्रयोः ॥१६॥

अर्थः- नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर की है॥१६॥

आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥

अर्थः- आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागर की है॥१७॥

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति

अपरा द्वादश-मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

अर्थः- वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त[1] की है॥१८॥

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति

नामगोत्रयो-रष्टौ ॥१९॥

अर्थः- नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है॥ १९॥

शेष पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति

शेषाणा-मन्तर्मुहूर्ता ॥२०॥

अर्थः- शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त[2] है॥२०॥

अनुभव (अनुभाग) बन्ध का लक्षण

विपाकोऽनुभवः ॥२१॥

अर्थः- कषायों की तीव्रता, मन्दता अथवा माध्यमता से जो आस्रव में विशेषता होती है उससे होने वाले विशेष पाक को विपाक कहते हैं। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के निमित्त के वश नाना-रूपता को प्राप्त होने वाले पाक को विपाक कहते हैं और इस पाक को ही अनुभव अर्थात् अनुभागबन्ध कहते हैं।

नोट १- शुभ परिणामों की अधिकता से शुभ प्रकृतियों में अधिक और अशुभ प्रकृतियों में हीन अनुभाग होता है। **२**- अशुभ परिणामों की अधिकता से अशुभ प्रकृतियों में अधिक और शुभ प्रकृतियों में हीन अनुभाग होता है॥ २१॥

स यथानाम ॥२२॥

अर्थः- वह अनुभागबन्ध कर्मों के नामानुसार ही होता है।

भावार्थः- जिस कर्म का जैसा नाम है उसमें वैसा ही अनुभागबन्ध पड़ता है। जैसे ज्ञानावरण कर्म में ज्ञान को रोकना, दर्शनावरण कर्म में 'दर्शन को रोकना' आदि॥२२॥

फल दे चुकने के बाद कर्मों का क्या होता है?

ततश्च निर्जरा ॥२३॥

अर्थः- तीव्र, मन्द या मध्यम फल दे चुकने के बाद कर्मों की निर्जरा हो जाती है। अर्थात् कर्म उदय में आकर आत्मा से पृथक् हो जाते हैं।

निर्जरा के दो भेद हैं- १. सविपाक निर्जरा और २. अविपाक निर्जरा।

१. दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनिट का एक मुहूर्त होता है।

२. आवली से ऊपर और मुहूर्त से नीचे के काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। असंख्यात समयों की एक आवली होती है।

सविपाक निर्जरा- शुभ-अशुभ कर्मों को जिस प्रकार बाँधा था उसी प्रकार स्थिति पूर्ण होने पर फल देकर आत्मा से पृथक् होने को सविपाक निर्जरा कहते हैं।

अविपाक निर्जरा- उदयकाल प्राप्त होने पर भी तप आदि उपायों से बीच में ही फल भोगकर कर्म खिरा देने को अविपाक निर्जरा कहते हैं।

नोटः- इस सूत्र में जो 'च' शब्द का ग्रहण किया है उससे नवमें अध्याय के 'तपसा निर्जरा च' इस सूत्र से सम्बन्ध सिद्ध होता है जिससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मों की निर्जरा तप से भी होती है, अर्थात् उक्त दो प्रकार की निर्जरा के कारण क्रम से कर्मों का विपाक और तपश्चरण है॥२३॥

कर्मप्रकृति भेद तथा स्थितिबन्ध

नं.	कर्म	भेद	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
१.	ज्ञानावरण	५	३० कोड़कोड़ी सागर	अन्तर्मुहूर्त
२.	दर्शनावरण	९	३० कोड़ाकोड़ी सागर	अन्तर्मुहूर्त
३.	वेदनीय	२	३० कोड़ाकोड़ी सागर	१२ मुहूर्त
४.	मोहनीय	२८	७० कोड़ाकोड़ी सागर	अन्तर्मुहूर्त
५.	आयु	४	३३ सागर	अन्तर्मुहूर्त
६.	नाम	४२(९३)	२० कोड़ाकोड़ी सागर	८ मुहूर्त
७.	गोत्र	२	२० कोड़ाकोड़ी सागर	८ मुहूर्त
८.	अन्तराय	५	३० कोड़ाकोड़ी सागर	अन्तर्मुहूर्त

प्रदेशबन्ध का वर्णन

प्रदेशबन्ध का स्वरूप

नाम प्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाह स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्-वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥२४॥

अर्थः- **(नामप्रत्ययाः)** ज्ञानावरणादि आदि कर्मप्रकृतियों के कारण **(सर्वतः)** सब ओर से अथवा देव, नारकादि समस्त भवों में **(योग-विशेषात्)** मन, वचन, कायरूप योगविशेष से **(सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः)** सूक्ष्म तथा एकक्षेत्रावगाहरूप स्थित **(सर्वात्मप्रदेशेषु)** सम्पूर्ण आत्मा के प्रदेशों में जो **(अनन्तानन्तप्रदेशाः)** कर्मरूप पुद्गल के अनन्तानन्त प्रदेश हैं उनको प्रदेशबन्ध

कहते हैं।

नोटः- उक्त सूत्र में प्रदेशबन्ध के विषय में होने वाले निम्नलिखित ६ प्रश्नों का समाधान किया गया है।

१. किसमें कारण है? २. किस समय होता है? ३. किस कारण से होता है? ४. किस स्वभाव वाला है? ३. किसमें होता है? ६. कितनी संख्यावाला है?

भावार्थः- आत्मा के योग-विशेषों द्वारा त्रिकाल में बँधनेवाले, ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों के कारणभूत, आत्मा के समस्त प्रदेशों में व्याप्त होकर कर्मरूप परिणमने योग्य सूक्ष्म, आत्मा के प्रदेशों में क्षीर-नीर की तरह एक होकर स्थिर रहने वाले अनन्तानन्त प्रदेशों का प्रमाण लिए प्रदेशबन्धरूप पुद्गल स्कन्धों को प्रदेशबन्ध कहते हैं॥२४॥

पुण्यप्रकृतियाँ

सद्-वेद्य शुभायुर्-नाम गोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥

अर्थः- सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

नोटः- घातिया कर्मों की समस्त प्रकृतियाँ पापरूप हैं। किन्तु अघातिया कर्मों में पुण्य और पाप दोनों रूप हैं। उनमें से ६८ प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं[१] ॥२५॥

पापप्रकृतियाँ

अतोऽन्यत्पापम् ॥२६॥

अर्थः- इससे भिन्न असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और अशुभ गोत्र ये पापप्रकृतियाँ हैं[१] ॥२६॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे अष्टमोऽध्यायः

१. सादं तिण्णेवाऊ उच्चं णरसुरदुगं च पंचिदी। देहा बन्धणसंघादंगोवगाइं वण्णचओ॥४१॥
समचउरवज्जरिसहं उवघादूणगुरुछक्क सग्गमणं। तसवारसट्ठ सट्ठी, बादालमभेददो सत्था॥४२॥ [कर्मकाण्ड]

अर्थः- सातावेदनीय, तीन आयु (तिर्यंच, मनुष्य, देव) उच्च गोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्व्य, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, पंचेन्द्रिय जाति, पाँच देह, पाँच बन्धन, पाँच संघात, तीन अंगोपांग, २० वर्णादिक, समचतुरस्त्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराचसंहनन उपघात को छोड़कर अगुरुलघु आदि ६ (अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत), प्रशस्तविहायो गति और त्रस को आदि लेकर बारह (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, और तीर्थंकरत्व।) इस तरह भेद विवक्षा से ६८ पुण्यप्रकृतियाँ हैं और अभेद विवक्षा से ४२ ही हैं क्योंकि १६ वर्णादिक के और शरीर में अन्तर्गत हुए ५ बन्धन और ५ संघात के इस तरह २६ भेद घटाने से ४२ पुण्य प्रकृतियाँ होती हैं।

नवम अध्याय

संवर और निर्जरा तत्त्व का वर्णन

संवर का लक्षण

आस्रवनिरोधः संवरः ॥१॥

अर्थः- आस्रव का रोकना सो संवर है। अर्थात् आत्मा में जिन कारणों से कर्मों का आस्रव होता था उन कारणों को दूर कर देने से जो कर्मों का आना बन्द हो जाता है उसे संवर कहते हैं। संवर के दो भेद हैं- १. द्रव्य संवर **(पुद्गलमय कर्मों के आस्रव का रुकना)** और २. भावसंवर **(कर्मास्रव के कारणभूत भावों का अभाव होना)** ॥१॥

संवर के कारण

स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रैः ॥२॥

अर्थः- यह संवर तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहों को जीतना और पाँच प्रकार का चारित्र इन छह कारणों से होता है।

गुप्ति- संसार भ्रमण के कारण स्वरूप काय, वचन और मन तीन योगों के निग्रह करने को गुप्ति कहते हैं। **समितिः**- जीवों की हिंसा से बचने के लिये यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं। **धर्मः**- जो आत्मा को संसार के दुःखों से छुड़ाकर अभीष्ट स्थान में प्राप्त करावे उसे धर्म कहते हैं। **अनुप्रेक्षाः**- शरीरादि के स्वरूप का बार-बार चिन्तवन करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं। **परीषहजयः**-क्षुधा आदि की वेदना उत्पन्न होने पर कर्मों की निर्जरा करने के लिये उसे शांत भावों से सह लेना उसे परीषहजय कहते हैं। **चारित्रः**- कर्मों के आस्रव में कारणभूत बाह्य अभ्यन्तर क्रियाओं के रोकने को चारित्र कहते हैं॥२॥

निर्जरा और संवर का कारण

तपसा निर्जरा च ॥३॥

अर्थः- तप से निर्जरा और संवर दोनों होते हैं।

नोटः- १. तप का दस प्रकार से धर्मों में अन्तर्भाव हो जाने पर भी जो अलग से ग्रहण किया है उसका प्रयोजन यह है कि यह संवर और निर्जरा दोनों का कारण है तथा संवर का प्रधान कारण है।

नोटः- २. यद्यपि पुण्यकर्म का बन्ध होना भी तप का फल है तथापि तप का प्रधान फल कर्मों की निर्जरा ही है। जब तप में कुछ न्यूनता होती है तब उससे

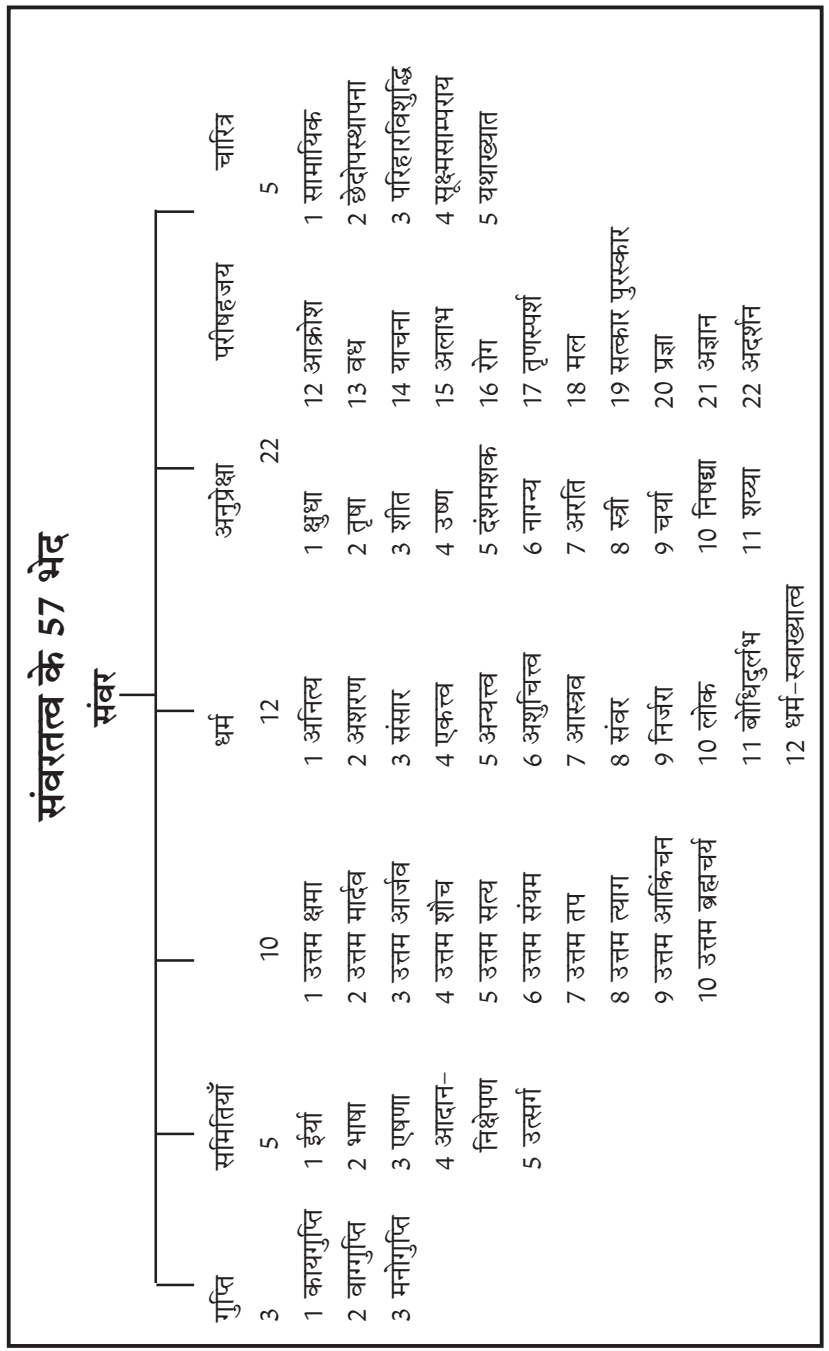

पुण्यकर्म का बन्ध हो जाता है। इसलिये पुण्य का बन्ध होना तप का गौणफल है जैसे- खेती करने का प्रधान फल तो धान्य उत्पन्न होना है और गौण फल पलाल (प्यांल) भूसा वगैरह का उत्पन्न होना है ॥३॥

गुप्ति का लक्षण व भेद

सम्यग्योग निग्रहो गुप्तिः ॥४॥

अर्थः- भले प्रकार से अर्थात् विषयाभिलाषा को छोड़कर, काय, वचन और मन की स्वच्छन्द प्रवृत्ति के रोकने को गुप्ति कहते हैं। उसके तीन भेद हैं - १. कायगुप्ति **(काय को रोकना)** २. वचनगुप्ति **(वचन को रोकना)** और ३. मनगुप्ति **(मन को वश में करना)** ॥ ४॥

समिति के भेद

ईर्या भाषैषणाऽदान निक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

अर्थः- सम्यग् ईर्या **(चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना)**, सम्यग् भाषा **(हित मित प्रिय वचन बोलना)**, सम्यग् एषणा **(दिन में एक बार शुद्ध निर्दोष आहार लेना)**, सम्यग् आदान-निक्षेपण **(देखभालकर किसी वस्तु को उठाना रखना)** और सम्यग् उत्सर्ग **(जीव रहित स्थान में मलमूत्र क्षेपण करना)** ये पाँच समिति के भेद हैं॥ ५॥

दश धर्म

उत्तम-क्षमा मार्दवाऽर्जव शौच सत्य संयम तपस्त्याऽगाकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

अर्थः- उत्तम क्षमा **(क्रोध के कारण उपस्थित रहते हुए भी क्रोध नहीं करना)**, उत्तम मार्दव **(उत्तम कुल, विद्या, बल आदि का घमंड नहीं करना)**, उत्तम आर्जव **(मायाचार का त्याग करना)**, उत्तम शौच **(लोभ का त्याग कर आत्मा को पवित्र बनाना)**, उत्तम सत्य **(रागद्वेषपूर्वक असत्य वचनों को छोड़कर हित मित प्रिय वचन बोलना)**, उत्तम संयम **(इन्द्रिय और मन को वश में करना तथा छह काय के जीवों की रक्षा करना)**, उत्तम तप **(बाह्याभ्यन्तर १२ प्रकार के तपों का करना)**, उत्तम त्याग **(कीर्ति तथा प्रत्युपकार की वाञ्छा से रहित होकर चार प्रकार का दान देना)**, उत्तम आकिञ्चन्य **(पर पदार्थों में ममत्वरूप परिणामों का त्याग करना)** और उत्तम ब्रह्मचर्य **(स्त्री मात्र का त्याग कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप में लीन रहना)** ये दश धर्म हैं॥६॥

बारह अनुप्रेक्षाएँ

अनित्याऽशरण संसारैकत्वाऽन्यत्वाऽशुच्याऽस्रव संवर निर्जरा लोक बोधिदुर्लभ धर्मस्वाऽख्या तत्त्वानुचिन्तन-मनुप्रेक्षाः ॥७॥

अर्थः- अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह के स्वरूप को बार-बार चिन्तवन करना सो अनुप्रेक्षा है। इन्हें बारह भावना भी कहते हैं।

अनित्यानुप्रेक्षाः- संसार के समस्त पदार्थ इन्द्रधनुष बिजली अथवा जल के बबूले के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाले हैं, ऐसा विचार करना सो अनित्यानुप्रेक्षा है।

अशरणानुप्रेक्षाः- जिस प्रकार निर्जन वन में भूखे सिंह के द्वारा पकड़े हुए हिरण के बच्चे को कोई शरण नहीं इसी प्रकार इस संसार में मरते हुए जीव को कोई शरण नहीं है। यदि अच्छे भावों से धर्म का सेवन किया है तो आपत्तियों से बचा जा सकता है इस प्रकार चिन्तवन करना सो अशरण-अनुप्रेक्षा है।

संसारानुप्रेक्षाः- इस चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करता हुआ जीव पिता से पुत्र, पुत्र से पिता, स्वामी से दास, दास से स्वामी हो जाता है और तो क्या, स्वयं अपना भी पुत्र हो जाता है, इत्यादि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव पंच परावर्तन रूप संसार के दुःखमय स्वरूप का विचार करना सो संसारानुप्रेक्षा है।

एकत्वानुप्रेक्षाः- जन्म, जरा, मरण, रोग आदि के दुःख मैं अकेला ही भोगता हूँ, कुटुम्बी आदि जन साथी नहीं हैं इत्यादि विचार करना सो एकत्वानुप्रेक्षा है।

अन्यत्वानुप्रेक्षाः- शरीरादि से अपनी आत्मा को क्षीर नीरवत् भिन्न चिन्तवन करना सो अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

अशुचित्वानुप्रेक्षाः- यह शरीर महा अपवित्र है, खून, मांस आदि से भरा हुआ है, स्नान आदि से कभी पवित्र नहीं हो सकता। इससे सम्बन्ध रखने वाले दूसरे पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं। इत्यादि शरीर के समान अपवित्र संसार में और कुछ नहीं इस प्रकार विचार करना सो अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

आस्रवानुप्रेक्षाः- मिथ्यात्व आदि भावों से कर्मों का आस्रव होता है, आस्रव ही संसार का मूल कारण है, इस प्रकार विचार करना सो आस्रवानुप्रेक्षा है।

संवरानुप्रेक्षाः- आत्मा में नवीन कर्मों का प्रवेश नहीं होने देना सो संवर है। संवर से ही जीवों का कल्याण होता है, ऐसा विचार करना सो संवरानुप्रेक्षा है।

निर्जरानुप्रेक्षाः- सविपाकनिर्जरा से आत्मा का कुछ भला नहीं होता किन्तु

अविपाकनिर्जरा से ही आत्मा का कल्याण होता है। इत्यादि निर्जरा के स्वरूप का चिन्तवन करना सो निर्जरानुप्रेक्षा है।

लोकानुप्रेक्षाः- अनन्त लोकाकाश के ठीक बीच में रहने वाले चौदह राजु-प्रमाण लोक के आकारादिक का चिन्तवन करना सो लोकानुप्रेक्षा है।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षाः- रत्नत्रयरूप बोधि अथवा विशद ज्ञान प्राप्त होना अत्यंत कठिन है, इस प्रकार विचारना सो बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है।

धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षाः- जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा हुआ अहिंसा लक्षण वाला धर्म ही जीवों का कल्याण करने वाला है। इसके प्राप्त न होने से जीव चतुर्गतिके दु:ख सहते हैं, आदि विचार सो धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा है।

नोटः- इन अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने वाला जीव उत्तम क्षमा आदि धर्मों को पालता है और परीषहों को जीतता है। इसलिए इनका कथन दोनों के बीच में किया गया है॥७॥

परीषह सहन करने का उपदेश

मार्गाऽच्यवन निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥८॥

अर्थः- संवर के मार्ग से च्युत न होने को तथा कर्मों की निर्जरा हेतु बाईस परीषह सहन करने योग्य हैं अर्थात् परीषह सहन करना चाहिए॥८॥

बाईस परिषह

क्षुत्पिपासा शीतोष्ण दंशमशक नाग्न्यारति स्त्री चर्या निषद्या शय्याऽक्रोश वध-याचनाऽलाभ रोग तृणस्पर्श मल सत्कारपुरस्कार प्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥९॥

अर्थः- १. क्षुधा, २. तृषा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक, ६. नाग्न्य, ७. अरति, ८ स्त्री, ९. चर्या, १०. निषद्या, ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३. वध, १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृण-स्पर्श, १८. मल, १९. सत्कार-पुरस्कार, २०. प्रज्ञा, २१. अज्ञान और २२. अदर्शन, ये बाईस परीषह हैं।

क्षुधाः- (भूख) के दु:ख को शान्त भाव से सह लेना क्षुधा परीषहजय है।

तृषाः- पिपासा (प्यास) अग्नि को धर्मरूपी जल से शान्त करना तृषा **(तृषा)** परीषहजय है।

शीतः- (ठण्ड) शीत की वेदना को शान्त भावों से सहना शीत परीषहजय है।

उष्णः- गर्मी की वेदना को शान्त भावों से सहना उष्ण परीषहजय है।

दंशमशकः- डांस, मच्छर, बिच्छू, चिंउटी आदि के काटने से उत्पन्न हुई वेदना को शान्त भावों से सहना सो दंशमशक परीषहजय है।

नाग्न्यः- नग्न रहते हुए भी मन में किसी प्रकार का विकार नहीं करना सो नाग्न्य परीषहजय है।

अरतिः- अरति के कारण उपस्थित होने पर भी संयम में अप्रीति नहीं करना सो अरति परीषहजय है।

स्त्रीः- स्त्रियों के हावभाव प्रदर्शन आदि उपद्रवों को शान्तभाव से सहना, उन्हें देखकर मोहित नहीं होना सो स्त्री परीषहजय है।

चर्याः- गमन करते समय खेदखिन्न नहीं होना सो चर्या परीषहजय है।

निषद्याः- ध्यान के लिए नियमित कालपर्यन्त स्वीकार किये हुए आसन से च्युत नहीं होना सो निषद्या परीषहजय है।

शय्याः- विषम कठोर कंकरीले आदि स्थानों में एक करवट से निद्रा लेना और अनेक उपसर्ग आने पर भी शरीर को चलायमान नहीं करना, शय्या परीषहजय है।

आक्रोशः- दुष्ट जीवों के द्वारा कहे हुए कठोर शब्दों को शांत भावों से सह लेना सो आक्रोश परीषहजय है।

वधः- तलवार, लाठी आदि के द्वारा शरीर पर प्रहार करने वालों से भी द्वेष नहीं करना सो वध परीषहजय है।

याचनाः- प्राणों के वियोग का अवसर होने पर भी आहारादिक को नहीं माँगना सो याचना परीषहजय है।

अलाभः- भिक्षा प्राप्त न होने पर सन्तोष धारण करना अलाभ परीषहजय है।

रोगः- अनेक रोग होने पर भी उनकी वेदना को शान्त भावों से सह लेना सो रोग परीषहजय है।

तृणस्पर्श- पाँवों में तृण कण्टक वगैरह के चुभने से उत्पन्न हुए दु:ख को सहना सो तृण स्पर्श परीषहजय है।

मलपरीषहजयः- जलकायिक जीवों की हिंसा से बचने के लिये स्नान न करना तथा अपने मलिन शरीर को देखकर ग्लानि नहीं करना सो मलपरीषहजय है।

सत्कार पुरस्कारः- अपने में गुणों की अधिकता होने पर भी यदि कोई सत्कार पुरस्कार न करे तो चित्त में कलुषता न करना सो सत्कार (प्रशंसा) पुरस्कार (श्रेष्ठता) परीषहजय है।

प्रज्ञाः- ज्ञान की अधिकता होने पर भी मान नहीं करना सो प्रज्ञा परीषहजय है।

अज्ञानः- ज्ञानादिक की हीनता होने पर हुए तिरस्कार को शांत भावों से सह लेना

अज्ञान परीषहजय है।

अदर्शनः- बहुत समय तक कठोर तपश्चर्या करने पर भी मुझे अवधिज्ञान तथा चारण आदि ऋद्धियों की प्राप्ति नहीं हुई इसीलिए व्रत धारण करना व्यर्थ है, इस प्रकार अश्रद्धान के भाव नहीं होना सो अदर्शन परीषहजय है।

नोटः- उक्त बाईस परीषहों को संक्लेशरहित भावों से जीत लेने पर संवर होता है।

किस [१]गुणस्थान में कितने परीषह होते हैं?

सूक्ष्मसांपराय छद्मस्थ वीतरागयोश्-चतुर्दश ॥१०॥

अर्थः- सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशवें और छद्मस्थ वीतराग अर्थात् ग्यारहवें उपशांतमोह तथा बारहवें क्षीणमोह नामक गुणस्थान में चौदह परीषह होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं। १. क्षुधा, २. तृषा, ३. शीत, ४.उष्ण, ५. दंशमशक, ६. चर्या, ७. शय्या, ८. वध, ९. अलाभ, १०. रोग, ११. तृणस्पर्श, १२. मल, १३. प्रज्ञा और १४. अज्ञान ॥ १०॥

एकादश जिने ॥११॥

अर्थः- सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में रहने वाले जिनेन्द्र भगवान के ऊपर लिखे हुए १४ परीषहों में से अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञान को छोड़कर शेष ११ परीषह होते हैं।

नोटः- जिनेन्द्र भगवान के वेदनीय कर्म का उदय होने से ११ परीषह कहे गये हैं। यद्यपि मोहनीय कर्म का उदय न होने से भगवान को क्षुधादिक की वेदना नहीं होती[२] तथापि इन परीषहों का कारण वेदनीय कर्म मौजूद है, इसलिए उपचार से ११ परीषह कहे गये हैं। वास्तव में उनके एक भी परीषह नहीं होता है॥ ११॥

बादर साम्पराये सर्वे ॥१२॥

अर्थः- बादर साम्पराय अर्थात् स्थूल कषायवाले छठवें से नववें गुणस्थान तक सब परीषह होते हैं। क्योंकि इन गुणस्थानों में परीषहों के कारणभूत सब कर्मों का उदय है॥१२॥

१. मोह और योग के निमित्त से होने वाली आत्मपरिणामों की तरतमता को गुणस्थान कहते हैं। वे १४ होते हैं- १. मिथ्यादृष्टि, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. असंयतसम्यग्दृष्टि , ५. देशविरत, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसाम्पराय, ११. उपशांतमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगकेवली और १४. अयोगकेवली ।उदय से माना है।

२. वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म की संगति पाकर ही दुःख का कारण होता है, स्वतन्त्र नहीं।

कौन परीषह किस कर्म के उदय से होता है?

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ॥१३॥

अर्थः- प्रज्ञा[१] और अज्ञान ये दो परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से होते हैं ॥१३॥

दर्शनमोहांतराययो-रदर्शनाऽलाभौ ॥१४॥

अर्थः- दर्शनमोहनीय और अन्तराय कर्म का उदय होने पर क्रम से अदर्शन और अलाभ ये दो परीषह होते हैं॥१४॥

चारित्रमोहे-नाग्न्याऽरतिस्त्री निषद्याऽक्रोशयाचना सत्कारपुरस्काराः ॥१५॥

अर्थः- चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार ये ७ परीषह होते हैं॥१५॥

वेदनीये शेषाः ॥१६॥

अर्थः- शेष ११ परीषह (क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्य्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल) वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं॥१६॥

एकसाथ होने वाले परीषहों की संख्या

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतिः ॥१७॥

अर्थः- (**युगपत्**) एकसाथ (**एकस्मिन्**) एक जीव में (**एकादयः**) एक को आदि लेकर (**एकोनविंशतिः**) उन्नीस परीषह तक (**भाज्या**) विभक्त करना चाहिये। अर्थात् एक साथ इक्कीस परीषह एक साथ हो सकते हैं।

भावार्थः- एक जीव के एक काल में अधिक से अधिक १९ परीषह हो सकते हैं, क्योंकि शीत और उष्ण इन दो परीषहों में से एक काल में एक ही होगा तथा शय्या, चर्य्या और निषद्या इन तीनों में से भी एक काल में एक ही होगा। इस प्रकार तीन परीषह कम कर दिये गये हैं॥ १७॥

पाँच चारित्र

सामायिकच्छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराय यथाख्यात-मिति चारित्रम् ॥१८॥

अर्थः- सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये चारित्र के पाँच भेद हैं।

१. ज्ञानावरण कर्म का उदय होने पर जो थोड़ा ज्ञान प्रकट होता है वह अहंकार को पैदा करता है। ज्ञानावरण का नाश हो जाने पर अहंकार नहीं होता। इसलिये प्रज्ञा परीषह भी ज्ञानावरण के कर्म के उदय से माना है।

सामायिक चारित्रः- भेदरहित सम्पूर्ण पापों के त्याग करने को सामायिक कहते हैं।

छेदोपस्थापनाः- प्रमाद के वश से चारित्र में कोई दोष लग जाने पर प्रायश्चित्त के द्वारा उसको दूर कर पुनः निर्दोष चारित्र को स्वीकार करना उसे छेदोपस्थापना कहते हैं।

परिहारविशुद्धिः-जिस चारित्र में जीवों की हिंसा का त्याग हो जाने से विशेष शुद्धि प्राप्त होती है उसको परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं। यह तीर्थंकर के पाद मूल में ८ आठ वर्ष रहकर विशेष संयम का पालन करने पर प्राप्त होता है।

सूक्ष्मसाम्परायः- दशमें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ कषाय का उदय होने पर जो चारित्र होता है उसे सूक्ष्मसाम्परायचारित्र कहते हैं।

यथाख्यातः- सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के क्षय अथवा उपशम से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर होने को यथाख्यातचारित्र कहते हैं। १. सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो चारित्र ६वें से ९वें गुणस्थान में होते हैं। परिहारविशुद्धि ६वें और ७वें सूक्ष्म साम्पराय १०वें और यथाख्यातचारित्र ११वें, १२वें, १३वें और १४वें गुणस्थान में होता है।

निर्जरातत्त्व का वर्णन- बाह्य तप

अनशनाऽवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान रसपरित्याग विविक्तशय्यासन कायक्लेशा-बाह्यं तपः ॥१९॥

अर्थः- **१. अनशन** (संयम की वृद्धि के लिये चार प्रकार के आहार का त्याग करना), **२. अवमौदर्य** (रागभाव दूर करने के लिये भूख से कम भोजन करना), **३. वृत्तिपरिसंख्यान** (भिक्षा को जाते समय घर, गली आदि का नियम करना), **४. रसपरित्याग** (इन्द्रियों का दमन करने के लिये घृत, दुग्ध आदि रसों का त्याग करना), **५. विविक्तशय्यासन** (स्वाध्याय, ध्यान आदि की सिद्धि के लिये एकान्त तथा पवित्र स्थानों में सोना-बैठना) और **६. कायक्लेश** (शरीर से ममत्व न रखकर आतापन योग आदि धारण करना) ये बाह्य तप हैं। ये तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा होते हैं, जिनमें बाह्य क्रियाओं की मुख्यता होती है तथा बाह्य में सबके देखने में आते हैं इसलिये बाह्य तप कहे जाते हैं॥१९॥

अभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग ध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

अर्थः- **१. प्रायश्चित** (प्रमाद अथवा अज्ञान से लगे हुए दोषों की शुद्धि करना), **२. विनय** (पूज्य पुरुषों का आदर करना), **३. वैयावृत्य** (शरीर तथा अन्य वस्तुओं से मुनियों की सेवा करना), **४. स्वाध्याय** (ज्ञान की भावना में आलस्य नहीं करना), **५. व्युत्सर्ग** (बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना) और **६. (ध्यान)** चित्त की चंचलता को रोककर उसे किसी एक पदार्थ के चिन्तवन में लगाना ये अभ्यन्तर तप हैं। इन तपों का आत्मा से घनिष्ट सम्बन्ध है अभ्यन्तर भावों की मुख्यता है इसलिये इन्हें अभ्यन्तर तप कहते हैं ॥२०॥

अभ्यन्तर तपों के उत्तर भेद

नव चतुर्दश पंच द्वि भेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

अर्थः- ध्यान से पहले के पाँच तप क्रम से ९,४,१०,५,और २ भेदवाले हैं॥२१॥

[२]प्रायश्चित के नव भेद

आलोचना प्रतिक्रमण तदुभय विवेक व्युत्सर्ग तपश्छेद परिहारोपस्थापनाः ॥२२॥

अर्थः- **१. आलोचना** (प्रमादके वश से लगे हुये दोषों को गुरु के पास जाकर निष्कपट रीति से कहना), **२. प्रतिक्रमण** (मेरे द्वारा किये हुए अपराध मिथ्या हों ऐसा कहना), **३. तदुभय** (आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों को करना), **४. विवेक** (संयुक्त आहार पानी का तथा अन्य उपकरणों का नियमित समय तक पृथक् विभाग करना), **५. व्युत्सर्ग** (कायोत्सर्ग करना), **६. तप** (उपवासादि करना), **७. छेद** (एक दिन, एक पक्ष, महीना आदि की दीक्षा का छेद करना)[३] **८.परिहार** (दिन, पक्ष, महिना आदि नियमित समय तक संघ से पृथक् कर देना) और **९. उपस्थापन** (सम्पूर्ण दीक्षा का छेद कर फिर से नवीन दीक्षा देना) ये ९ प्रायश्चित तप के भेद हैं। यह प्रायश्चित्त संघ के आचार्य (गुरु) देते हैं ॥२२॥

विनय तप के ४ भेद

ज्ञान दर्शन चारित्रोपचाराः ॥२३॥

१. सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो चारित्र ६वें ७ वें ८वें और ९वें गुणस्थान तक होते हैं। परिहारविशुद्धि ६वें और ७वें में सूक्ष्म साम्पराय १०वें में और यथाख्यातचारित्र ११वें, १२वें, १३वें और १४वें गुणस्थान में होता है।

२. प्रायः= अपराध, चित्त=शुद्धि, अपराध की शुद्धि करना प्रायश्चित्त है।

३. बाद में दीक्षित हुये मुनि पहले के दीक्षित मुनियों को नमस्कार करते हैं, पर जितने समय की दीक्षा छेद दी जाती है उसको उतने समय में दीक्षित हुये नये मुनियों को नमस्कारादि करना पड़ता है।

अर्थः- **१. ज्ञान विनय** (आदरपूर्वक योगकाल में शास्त्र पढ़ना, अभ्यास करना आदि), **२. दर्शन विनय** (शंका, कांक्षा आदि दोष रहित सम्यग्दर्शन धारण करना), **३. चारित्र विनय** (चारित्र को निर्दोषरीति से पालना), और **४. उपचार विनय** (आचार्य आदि पूज्य पुरुषों को देखकर खड़े होना, नमस्कार करना आदि) ये चार विनय तप के भेद हैं॥ २३॥

नोटः- किन्हीं शास्त्रों में तप विनय नामक पाँचवां भेद भी गिनाया गया है।

वैयावृत्य तप के १० भेद

आचार्योपाध्याय तपस्वि शैक्ष्य ग्लान गण कुल संघसाधु-मनोज्ञानाम्॥२४॥

अर्थः- आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ ये वैयावृत्य के दश भेद हैं।

आचार्यः- जो मुनि पञ्चाचार का स्वयं आचरण करते और दूसरों को कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं।

उपाध्यायः- जो मुनि स्वयं पढ़ते हैं अन्य मुनियों को पढ़ाते हैं तथा जिनके पास शास्त्रों का अध्ययन किया जाता हो वे उपाध्याय कहलाते हैं।

तपस्वीः- महान् उपवास करने वाले साधुओं को तपस्वी कहते हैं।

शैक्ष्यः- शास्त्र के अध्ययन में तत्पर मुनि शैक्ष्य कहलाते हैं।

ग्लानः- रोग से पीड़ित मुनि ग्लान कहलाते हैं।

गणः- वृद्ध मुनियों के अनुसार चलने वाले मुनियों के समुदाय को गण कहते हैं।

कुलः- दीक्षा देनेवाले आचार्य के शिष्यों को कुल कहते हैं।

संघः- ऋषि, मुनि, यति, अनगार इन चार प्रकार के मुनियों के समूह को संघ कहते हैं।

साधुः- जो चिरकाल से प्रव्रज्याधारी हों वे साधु कहलाते हैं।

मनोज्ञः- लोक में जिनकी प्रशंसा बढ़ रही हो उन्हें मनोज्ञ कहते हैं॥२४॥

स्वाध्याय तप के ५ भेद

वाचना पृच्छनाऽनुप्रेक्षाऽम्नायधर्मोपदेशाः॥२५॥

अर्थः- **वाचना** (निर्दोष ग्रन्थ को उसके अर्थ को तथा दोनों को पढ़कर भव्य जीवों को श्रवण कराना), **पृच्छना** (संशय को दूर करने के लिये अथवा कृत निश्चय को दृढ़ करने के लिए प्रश्न पूछना), **अनुप्रेक्षा** (जाने हुए पदार्थ का बार-

१. वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीन संहनन उत्तम संहनन कहलाते हैं। इन संहनन धारी जीवों के ध्यान होता है। यह कथन उत्कृष्ट ध्यान को लक्ष्य में रखकर किया गया है।

बार चिन्तवन करना) **आम्नाय** (निर्दोष उच्चारण करते हुए पाठ करना) और **धर्मोपदेश** (धर्म का उपदेश करना) ये पाँच स्वाध्याय तप के भेद हैं॥ २५॥

व्युत्सर्ग तप के भेद

बाह्याऽभ्यन्तरोपध्योः ॥२६॥

अर्थः- **(बाह्योपधिव्युत्सर्ग)** धनधान्यादि बाह्य पदार्थों का त्याग करना और **(अभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग)** क्रोध, मान, आदि खोटे भावों का त्याग करना, ये दो व्युत्सर्ग तप के भेद हैं ॥ २६॥

ध्यान तप का लक्षण

उत्तम-संहननस्यैकाग्र-चिन्तानिरोधो ध्यान मान्तर्मुहूर्तात्॥२७

अर्थः- **(उत्तमसंहननस्य)** उत्तम संहननवाले का **(अन्तर्मुहूर्तात्)** अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त **(एकाग्रचिन्तानिरोधः)** एकाग्रतासे चिन्ता का रोकना **(ध्यानम्)** ध्यान है।

भावार्थः- किसी एक विषय में चित्त को रोकना सो ध्यान है। वह उत्तम संहननधारी जीवों के ही होता है और एक पदार्थ का ध्यान अन्तर्मुहूर्त से अधिक समय तक नहीं होता है ॥ २७॥

ध्यान के भेद

आर्त रौद्र धर्म्य शुक्लानि ॥२८॥

अर्थः- आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये ध्यान के चार भेद हैं॥6॥

परे मोक्षहेतू ॥२९॥

अर्थः- इनमें से धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं।

नोट - १. धर्मध्यान परम्परा से और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण है।

नोट- २. शुरू के आर्त्तध्यान (दुःख में होने वाला ध्यान) और रौद्र (क्रूर परिणामों में होने वाला ध्यान) ये दो ध्यान संसार के कारण हैं॥ २९॥

[1]आर्त्तध्यान का लक्षण और भेद

आर्त्त-ममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति समन्वाहारः॥३

अर्थः- अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिये बार-बार विचार करना सो (१) **अनिष्ट संयोगज** नामक आर्त्तध्यान है॥३०॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥

अर्थः- स्त्री, पुत्र आदि इष्टजनों का वियोग होने पर उनके संयोग के लिए बार-बार चिन्तन करना (२) **इष्ट वियोगज** नामक आर्त्तध्यान है ॥३१॥

१. दुःख में होने वाले ध्यान को आर्त्तध्यान कहते हैं।

वेदनायाश्च ॥३२॥

अर्थः- योगजनित पीड़ा का निरन्तर चिन्तन करना (३) **वेदनाजन्य** नामक आर्त्तध्यान है ॥३२॥

निदानं च ॥३३॥

अर्थः- आगामी काल सम्बन्ध विषयों की प्राप्ति में चित्त को तल्लीन करना (४) **निदानजन्य** नामक आर्त्तध्यान है॥ ३३॥

गुणस्थानों की अपेक्षा आर्त्तध्यान के स्वामी

त-दविरत देशविरत प्रमत्तसंयतानाम् ॥३४॥

अर्थः- वह आर्त्तध्यान अविरत अर्थात् आदि के चार गुणस्थान, देशविरत अर्थात् पंचम गुणस्थान और प्रमत्तसंयत अर्थात् छठवें गुणस्थान में होता है।

नोटः- छठवें गुणस्थान में निदान नाम का आर्त्तध्यान नहीं होता है ॥ ३४॥

[१]रौद्रध्यान के भेद व स्वामी

हिंसानृतस्तेय विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्र-मविरत देशविरतयोः ॥३५॥

अर्थः- हिंसा, झूठ, चोरी और विषय संरक्षण से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है और वह अविरत तथा देशविरत आदि के पाँच गुणस्थानों में होता है।

भावार्थः- विभिन्न निमित्त के भेद से रौद्रध्यान चार प्रकार का होता है।

१. हिंसानन्दी (हिंसा में आनन्द मानकर उसी के साधन जुटाने में तल्लीन रहना),

२. मृषानंदी (असत्य बोलने से आनन्द मानकर उसी का चिन्तवन करना),

३. चौर्यानन्दी (चोरी में आनन्द मानकर उसी का चिन्तवन करना) और

४. परिग्रहानन्दी (परिग्रह की रक्षा की चिन्ता करना) ॥३५॥

[२]धर्मध्यान का स्वरूप व भेद

आज्ञाऽपाय विपाक संस्थान विचयाय धर्म्यम्॥३६॥

अर्थः- आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय का चिन्तवन करना सो धर्मध्यान है।

भावार्थः- धर्मध्यान के चार भेद हैं - १. आज्ञाविचय **(आगम की प्रमाणता से अर्थ का विचार करना)**, २. अपायविचय **(संसारी जीवों के दुःख का तथा उससे छूटने के उपाय का चिन्तवन करना)**, ३. विपाकविचय **(कर्म फल के उदय का विचार करना)** और ४. संस्थानविचय **(लोक के आकार का**

१. क्रूर परिणामों के होते हुये जो ध्यान होता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं।

२. धर्मविशिष्टध्यान को धर्मध्यान कहते हैं।,

विचार करना।)

नोटः- धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर सप्तम गुण स्थान श्रेणी चढ़ने के पहले-पहले तक होता है।

[१]शुक्लध्यान के स्वामी

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः[२] ॥ ३७॥

अर्थः- प्रारम्भ के पृथक्त्ववितर्क वीचार और एकत्ववितर्क वीचार नामक दो शुक्लध्यान पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवली के ही होते हैं।

नोटः- चकार से श्रुतकेवली के धर्मध्यान भी होता है॥ ३७॥

परे केवलिनः ॥३८॥

अर्थः- अन्त के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दो शुक्लध्यान सयोगकेवली और अयोगकेवली के ही होते हैं[३] ॥ ३८॥

शुक्लध्यान के चार भेदों के नाम

पृथक्त्वैकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरतक्रियानिवर्तीनि॥३९॥

अर्थः- पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्लध्यान के चार भेद हैं जो आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ कर चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं॥३९॥ (आगम भाषानुसार ग्यारहवे से चौदहवे गुणस्थान तक माना गया है)

भावार्थः- जिसमें वितर्क और वीचार दोनों हों उसे पृथक्त्ववितर्क वीचार नामक शुक्लध्यान कहते हैं और जो केवल वितर्क से सहित हो उसे एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यान कहते हैं। सूक्ष्मकाययोग के आलम्बन से जो ध्यान होता है उसे सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान कहते हैं। जिसमें आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द पैदा करने वाली श्वासोच्छास आदि समस्त क्रियाएँ निवृत्त हो जाती हैं-रुक जाती हैं उसे व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान कहते हैं।

१. यह कथन उत्कृष्टता की अपेक्षा है। साधारण रूप से यह ध्यान अष्ट प्रवचन मातृका तक ज्ञान वालों के भी हो सकता है।

२. पहला भेद सातिशय अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान से लेकर दशवें गुणस्थान तक रहता है। इनसे मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय होता है। दूसरा भेद बारहवें गुणस्थान में होता है। इससे शेष घातिया कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान प्राप्त होता है। तीसरा भेद तेरहवें गुणस्थान के अन्त समय में होता है और चौथा भेद चौदहवें गुणस्थान में होता है इससे उपान्त्य तथा अन्त समय में क्रम से ७२ और १३ प्रकृतियों का क्षय होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

शुक्लध्यान के आलम्बन

त्र्येक-योग -काययोगाऽयोगानाम् ॥४०॥

अर्थः- उक्त चार भेद क्रम से तीन योग, एकयोग, काययोग और योगरहित जीवों के होते हैं। अर्थात् पहला पृथक्त्ववितर्कध्यान काय, वचन, मन इन तीनों योग के धारक के होता है दूसरा एकत्ववितर्क ध्यान तीन योगों में से किसी एक योग के धारक के होता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान सिर्फ काययोग के धारक के होता है और चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति योगरहित जीवों के होता है॥४०॥

आदि के दो ध्यानों की विशेषता

एकाश्रये सवितर्क वीचारे पूर्वे ॥४१॥

अर्थः- एक श्रुतज्ञानी के आश्रित रहने वाले प्रारम्भ के दो ध्यान वितर्क और वीचार से सहित हैं ॥४१॥

अवीचारं द्वितीयम् ॥४२॥

अर्थः- किन्तु दूसरा शुक्लध्यान वीचार से रहित है॥४२॥

वितर्क का लक्षण

वितर्कः श्रुतम् ॥४३॥

अर्थः- श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं॥४३॥

वीचार का लक्षण

वीचारोऽर्थ व्यंजन योग संक्रान्तिः ॥४४॥

अर्थः- अर्थ, व्यञ्जन और योग के परिर्वतन (पलटना) को वीचार कहते हैं।

अर्थसंक्रान्तिः- अर्थ अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थ को छोड़कर उसकी पर्याय को ध्यावें और पर्याय को छोड़कर द्रव्य को ध्यावें सो अर्थसंक्रान्ति है।

व्यंजनसंक्रान्तिः- श्रुत के एक वचन को छोड़कर अन्य का अवलम्बन करना और उसे छोड़कर किसी अन्य का अवलम्बन करना सो व्यञ्जनसंक्रान्ति है।

योगसंक्रान्तिः- काययोग को छोड़कर मनोयोग या वचनयोग को ग्रहण करना और उन्हें छोड़कर किसी अन्य योग को ग्रहण करना सो योगसंक्रान्ति है॥४४॥

पात्र की अपेक्षा निर्जरा में न्यूनाधिकता का वर्णन

सम्यग्दृष्टिश्रावक विरताऽनन्तवियोजक दर्शनमोह क्षपकोपशमकोपशान्त मोह क्षपक क्षीणमोह जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण निर्जराः ॥४५॥

१. अनन्तानुबन्धी के परिमाणुओं का अप्रत्याख्यानावरणादि रूप बदलने वाला।

अर्थः- १. सम्यग्दृष्टि, २. पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावक, ३. विरति (मुनि), ४. अनन्तानुबन्ध की विसंयोजना करने वाला[१], ५. दर्शन मोह का क्षय करने वाला, ६. चारित्रमोह का उपशम करने वाला, ७. उपशांतमोहवाला, ८. क्षपकश्रेणि चढ़ता हुआ, ९. क्षीणमोह (बारहवें गुणस्थानवाला) और १०. जिनेन्द्र भगवान, इन सबके परिणामों की विशुद्धता की अधिकता से आयुकर्म को छोड़कर प्रति समय क्रम से असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ॥४५॥

निर्ग्रन्थ-साधुओं के भेद

पुलाक वकुश कुशील निर्ग्रन्थ स्नातका-निर्ग्रन्थाः ॥४६॥

अर्थः- पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ साधु हैं।

पुलाकः- जो उत्तरगुणों की भावना से रहित हों तथा किसी क्षेत्र व काल में मूलगुणों में भी दोष लगावें उन्हें पुलाक कहते हैं पुलाव अर्थात् घास की तरह कोमल चारित्रवान साधक होता है ऐसा जानना चाहिए।

वकुशः- जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करते हों परन्तु अपने शरीर व उपकरणादि की शोभा बढ़ाने की कुछ इच्छा रखते हों उन्हें वकुश कहते हैं।

कुशीलः- कुशील मुनि दो प्रकार के होते हैं - एक प्रतिसेवनाकुशील और दूसरे कषायकुशील।

१. प्रतिसेवनाकुशील- जिनके उपकरण तथा शरीरादिक से विरक्तता न हो और मूलगुण तथा उत्तरगुण की परिपूर्णता है, परन्तु उत्तरगुणों में कुछ विराधना दोष हों, उन्हें प्रतिसेवनाकुशील कहते हैं।

२. कषायकुशीलः- जिन्होंने संज्वलन कषाय के सिवाय अन्य कषायों को जीत लिया हो उन्हें कषायकुशील कहते हैं।

निर्ग्रन्थः- जिनका मोहकर्म क्षीण हो गया हो ऐसे बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

स्नातकः- समस्त घातिया कर्मों का नाश करने वाले, केवली भगवान स्नातक कहलाते हैं॥ ४६॥

पुलाकादि मुनियों में विशेषता

संयम श्रुत प्रतिसेवना तीर्थ लिङ्ग लेश्योपपाद स्थानविकल्पतः साध्याः ॥४७॥

अर्थः- उक्त मुनि संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग , लेश्या, उपपाद और स्थान

इन आठ अनुयोगों के द्वारा भेदरूप से साध्य हैं। अर्थात् इन आठ अनुयोगों के पुलाक आदि मुनियों के विशेष भेद होते हैं॥ ४७॥

संयम- पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमों में रहते हैं। कषायकुशील पूर्वोक्त दो संयमों के साथ परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय इन दो संयमों में रहते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक एक मात्र यथाख्यात संयम में रहते हैं।

श्रुत- पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील उत्कृष्टरूप से अभिन्नाक्षर दश पूर्वधर होते हैं। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ चौदह पूर्वधर होते हैं। जघन्य रूप से पुलाक का श्रुत आचार वस्तुप्रमाण होता है। वकुश, कुशील और निर्ग्रन्थों का श्रुत आठ प्रवचनमातृका प्रमाण होता है। स्नातक श्रुतज्ञान से रहित केवली होते हैं।

प्रतिसेवना- दूसरों के दबाव वश जबरदस्ती से पाँच महाव्रत और रात्रि भोजन वर्जन व्रत में से किसी एक की प्रतिसेवना करने वाला पुलाक होता है। वकुश दो प्रकार के होते हैं, उपकरणवकुश और शरीरवकुश। उनमें से अनेक प्रकार की विशेषताओं को लिये हुये उपकरणों को चाहने वाला उपकरणवकुश होता है तथा शरीर का संस्कार करने वाला शरीरवकुश होता है। प्रतिसेवना कुशील की प्रतिसेवना करने वाला होता है। कषाय कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकों के मूलगुणों की विराधना न करते हुए उत्तर गुणों की किसी प्रकार की विराधना प्रतिसेवना नहीं होती।

तीर्थ- ये सब निर्ग्रन्थ सब तीर्थंकरों के तीर्थों में ही होते हैं।

लिंग- लिंग दो प्रकार का है, द्रव्य लिंग और भाव लिंग। भाव लिंग की अपेक्षा पाँचों ही साधु निर्ग्रन्थ लिंग वाले होते हैं। द्रव्य लिंग अर्थात् शरीर की ऊँचाई, रंग व पीछी आदि की अपेक्षा उनमें भेद है।

लेश्या- पुलाक के आगे की तीन लेश्याएँ होती हैं। वकुश और प्रतिसेवना-कुशील के छहों लेश्याएँ होती हैं। कषायकुशील के अन्त की चार लेश्याएँ होती हैं। सूक्ष्मसाम्पराय कषायकुशील के तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक के केवल शुक्ल लेश्या होती है और अयोगी लेश्या रहित होते हैं।

उपपाद- पुलाक का उत्कृष्ट उपपाद सहस्रार कल्प के उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों में होता है। वकुश और प्रतिसेवना कुशील का उत्कृष्ट उपपाद आरण और अच्युत कल्प में सागरोपम की स्थिति वाले देवों में होता है। कषायकुशील और

निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट उपपाद सर्वार्थसिद्धि में ३३ सागरोपम की स्थिति वाले देवों में होता है। इन सभी का जघन्य उपपाद सौधर्म कल्प में दो सागरोपम की स्थिति वाले देवों में होता है। तथा स्नातक मोक्ष जाते हैं।

स्थान- कषायनिमित्तक असंख्यात संयम स्थान होते हैं। पुलाक और कषाय कुशील के सबसे जघन्य लब्धि स्थान होते हैं। ये दोनों असंख्यात स्थानों तक एक साथ जाते हैं। इसके बाद पुलाक की व्युच्छित्ति हो जाती हैं। आगे कषायकुशील असंख्यात स्थानों तक अकेला जाता है। इससे आगे कषायकुशील, प्रतिसेवना कुशील और वकुश असंख्यात स्थानों तक एक साथ जाते हैं। यहाँ वकुश की व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे भी असंख्यात स्थान आगे जाकर प्रतिसेवना कुशील की व्युच्छित्ति हो जाती है। पुनः इससे भी असंख्यात स्थान आगे जाकर कषायकुशील की व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे आगे अकषाय स्थान है जिन्हें निर्ग्रन्थ पद प्राप्त होता है। उसकी भी असंख्यात स्थान आगे जाकर व्युच्छित्ति हो जाती है। इससे आगे एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाण को प्राप्त होता है। इनकी ''विशद'' संयमलब्धि अनंतगुणी होती है।

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः

दशम अध्याय

मोक्षतत्त्व का वर्णन

केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण

मोहक्षयाज्ज्ञान दर्शनाऽवरणान्तराय क्षयाच्च केवलम्[१] ॥१॥

अर्थः- मोहनीय कर्म का क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त के लिये क्षीण कषाय नामक बारहवाँ गुणस्थान पाकर एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

भावार्थः- चार घातिया कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञान होता है।

नोटः- घातिया कर्मों में सबसे पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है, इसलिये सूत्र में गौरव होने पर भी उसका पृथक् निर्देश किया है॥१॥

१. मोक्ष केवलज्ञान पूर्वक होता है, इसलिये मोक्ष के पहले केवलज्ञान की उत्पत्ति का वर्णन किया है।

मोक्ष के कारण और लक्षण

बन्धहेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥

अर्थः- बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा ज्ञानावरणादि समस्त कर्मप्रकृतियों का अत्यंत अभाव होना मोक्ष है।

भावार्थः- आत्मा से समस्त कर्मों का सम्बन्ध छूट जाना मोक्ष है वह संवर तथा निर्जरा के द्वारा प्राप्त होता है॥२॥

मोक्ष में कर्मों के सिवाय और किसका अभाव होता है ?

औपशमिकादि-भव्यत्वानां च ॥३॥

अर्थः- मुक्त जीव में औपशमिक आदि भावों का तथा पारिणामिक भावों में से[१] भव्यत्व भाव का भी अभाव हो जाता है ॥ ३॥

अन्यत्र केवलसम्यक्त्व ज्ञान-दर्शन-सिद्धत्वेभ्यः॥४॥

अर्थः- केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व इन भावों को छोड़कर मोक्ष में अन्य भावों का अभाव हो जाता हैं।

भावार्थः- मुक्त अवस्था में जीवत्व नामक पारिणामिक भाव और कर्मों के क्षय से प्रकट होने वाले आत्मिक भाव रहते हैं, शेष का अभाव हो जाता है।

नोटः- जिन गुणों का अनन्तज्ञानादि के साथ सहभाव सम्बन्ध है ऐसे अनन्तसुख आदि गुण भी पाये जाते हैं॥४ ॥

कर्मों का क्षय होने के बाद

त-दनन्तर मूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् ॥५॥

अर्थः- समस्त कर्मों का क्षय होने के बाद मुक्त जीव लोक के अन्त भाग पर्यन्त ऊपर को जाता है॥५॥

मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन में कारण

पूर्वप्रयोगा-दसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्-तथागतिपरिणामाच्च ॥६॥

अर्थः- पूर्वप्रयोग **(पूर्वसंस्कार)** से, सङ्गरहित होने से, कर्म बन्धन के नष्ट होने से और तथागतिपरिणाम अर्थात् ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है॥६॥

१. जिसमें सम्यग्दर्शनादि प्राप्त होने की योग्यता हो उसे भव्य कहते हैं। जब सम्यग्दर्शनादि गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो चुकते हैं तब आत्मा में भव्यत्व का व्यवहार मिट जाता है।

उक्त चारों कारणों के क्रम से चार दृष्टांत

आविद्ध-कुलाल-चक्रवद्-व्यपगत-लेपालांबुव-देरण्डबीज वदग्नि शिखा-वच्च॥७॥

अर्थः- (१) मुक्तजीव-कुम्भकार के द्वारा घुमाये हुए चाक की तरह पूर्वप्रयोग से ऊर्ध्वगमन करता है। अर्थात् जिस प्रकार कुम्भकार चाक को घुमाकर छोड़ देता है तब भी चक्र पहले के भरे हुए वेग के वश से घूमता रहता है, उसी प्रकार जीव भी संसार अवस्था में मोक्ष प्राप्ति के लिये बराबर अभ्यास करता था, मुक्त होने पर यद्यपि उसका वह अभ्यास छूट जाता है, तथापि वह पहले के अभ्यास से ऊपर को गमन करता है। (२) मुक्त जीव, दूर हो गया है लेप जिसका ऐसे तूम्बे की तरह ऊपर को जाता है अर्थात् तूम्बे पर जब तक मिट्टी का लेप रहता है तब तक वह वजनदार होने से पानी में डूबा रहता है, पर ज्योंही उसकी मिट्टी गलकर दूर हो जाती है त्योंही वह पानी के ऊपर आ जाता है। इसी प्रकार यह जीव जब तक कर्म लेप से सहित होता है तब तक संसार समुद्र में डूबा रहता है पर ज्योंही इसका कर्मलेप दूर होता है त्योंही वह ऊपर उठकर लोक के ऊपर पहुँच जाता है। (३) मुक्त जीव कर्मबन्ध से मुक्त होने के कारण एरण्ड के बीज के समान ऊपर को जाता है। अर्थात् एरण्ड वृक्ष का सूखा बीज चटकता है तब उसकी मिंगी जिस प्रकार ऊपर को जाती उसी प्रकार यह जीव कर्मों के बन्धन दूर होने पर ऊपर को जाता है। और (४) मुक्त जीव स्वभाव से ही अग्नि की शिखा की तरह ऊर्ध्वगमन करता है अर्थात् जिस प्रकार हवा के अभाव में अग्नि (दीपक आदि) की शिखा ऊपर को जाती है उसी प्रकार कर्मों के बिना यह जीव भी ऊपर को जाता है॥७॥

लोकाग्र के आगे नहीं जाने में कारण

धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥

अर्थः- धर्मद्रव्य का अभाव होने से मुक्त जीव लोक के अग्र भाग के आगे अर्थात् अलोकाकाश में नहीं जाते। क्योंकि जीव और पुद्गलों का गमन धर्मद्रव्य (अस्तिकाय) की सहायता से ही होता है और अलोकाकाश में धर्मद्रव्य का अभाव है[१] ॥ ८॥

१ लोक के अन्त में ४५ लाख योजन विस्तार वाली सिद्धशिला है, मुक्त जीव उसी के ऊपर तनुवातवलय में ठहर जाते हैं। मोक्ष में मुक्त जीवों के सिर एक बराबर स्थान पर रहते हैं। मुक्त जीवों का सिद्धशिला से सम्बन्ध नहीं होता।

मुक्त जीवों में भेद होने के कारण

क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्ध-बोधित-ज्ञानावगाहनांतर संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

अर्थः- क्षेत्र, काल,गति, लिंग, तीर्थं, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहन, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व इन बारह अनुयोगों से सिद्धों में भी भेद साधने योग्य हैं।

भावार्थः- क्षेत्र-कोई भरतक्षेत्र से, कोई ऐरावतक्षेत्र से और कोई विदेहक्षेत्र से सिद्ध हुए हैं।[१] इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा सिद्धों में भेद होता है।

काल[२]- कोई उत्सर्पिणी काल में सिद्ध हुए हैं और कोई अवसर्पिणी काल में।

गति - कोई नरक या देवगति से आकर मनुष्य गति से सिद्ध हुए हैं।

लिंग- वास्तव में[३] अलिंग से ही सिद्ध होते हैं अथवा द्रव्यपुलिंग से ही सिद्ध होते हैं। भावलिंग की अपेक्षा तीनों लिंगों से मुक्त हो सकते हैं। तीर्थ- कोई तीर्थंकर होकर सिद्ध होते हैं, कोई बिना तीर्थंकर होकर सिद्ध होते हैं। कोई तीर्थंकर के काल में सिद्ध होते हैं और कोई तीर्थंकर के मोक्ष चले जाने के बाद उनके तीर्थ (आम्नाय) में सिद्ध होते हैं। चारित्र-चारित्र की अपेक्षा कोई एक से अथवा कोई भूतपूर्व नय की अपेक्षा दो तीन चारित्र से सिद्ध हुए हैं। प्रत्येक बुद्धबोधित-कोई स्वयं संसार में विरत होकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और कोई किसी के उपदेश से। ज्ञान-कोई एक ही ज्ञान से और कोई भूतपूर्व नय की अपेक्षा दो तीन चार ज्ञान से सिद्ध हुए हैं।

अवगाहनाः- कोई उत्कृष्ट अवगाहना-पाँच सौ पच्चीस धनुष से सिद्ध हुए हैं, कोई मध्यम अवगाहना से और कोई जघन्य अवगाहना- कुछ कम साढ़े तीन हाथ से सिद्ध हुए हैं

अन्तरः- एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध होने का अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से आठ समय का है तथा विरहकाल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छः माह का होता है।

संख्याः- जघन्य से एक समय में एक ही जीव सिद्ध होता हैं और उत्कृष्टता से

१. संहरण की अपेक्षा अढ़ाई द्वीप मात्र से मुक्त होते हैं।
२. अवसर्पिणी के सुषमादुषमा नामक तीसरे काल के अन्तिम भाग से लेकर दुषमासुषमा नामक चौथे काल तक उत्पन्न हुये जीव ही मुक्त होते हैं। चौथे काल का उत्पन्न हुआ जीव पंचमकाल में मुक्त हो सकता है पर पंचम काल का पैदा हुआ पंचमकाल में मुक्त नहीं हो सकता।
३. भाव भेद का उदय नवम गुण स्थान तक रहता है इसलिये मोक्ष अवेद दशा में ही होता है।

१०८ जीव सिद्ध हो सकते हैं।

अल्पबहुत्वः- समुद्र आदि जल क्षेत्रों से थोड़े सिद्ध होते हैं और विदेहादि क्षेत्रों से अधिक सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सिद्ध जीवों में बाह्य निमित्त की अपेक्षा भेद की कल्पना की गई है। वास्तव में आत्मीय गुणों की अपेक्षा कुछ भी भेद नहीं रहता ॥९॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्यायः

ग्रन्थकार का लाघव प्रकाशन

अक्षरमात्र-पद स्वर हीनं, व्यञ्जन सन्धि विवर्जित रेफम्।
साधुभि-रत्र मम क्षमितव्यं, कोन विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे॥

अर्थः- इस शास्त्र में यदि कहीं अक्षर, मात्रा, पद या स्वरहीन हो, तथा व्यञ्जन, सन्धि व रेफ न हो तो सज्जन पुरुष मुझे क्षमा करें। क्योंकि शास्त्ररूपी समुद्र में कौन पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता अर्थात भूल नहीं करता? अर्थात् करता है।

इस ग्रन्थ के पाठ का फल

दशाध्याये परिच्छिन्ने, तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य,भाषितं मुनि पुङ्गवैः॥

अर्थः- दश अध्यायों में विभक्त इस तत्त्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) के पाठ करने से श्रेष्ठ मुनियों ने एक उपवास का फल कहा है।

भावार्थः- जो मनुष्य भावपूर्वक पूर्ण मोक्षशास्त्र का पाठ करता है उसे एक उपवास का फल होता है।

तत्वार्थसूत्र- कर्त्तारं,गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्देगणीन्द्र संजात-मुमास्वामी-मुनीश्वरम्॥

अर्थः- तत्वार्थसूत्र ग्रन्थ के कर्त्ता, मुनिवृन्द से युक्त गृद्धपिच्छ से उपलक्षित ऐसे उमास्वामी मुनिराज को मैं नमस्कार करता हूँ।

पढमचउक्के पढमे, पंचमए जाण पुग्गलं तच्च।
छह सत्तमे हि आस्सव, अट्ठमे बंध णायव्वो॥
णवमे संवरणिज्जर, दहमे मोक्खं वियाणेहि ।
इहसत्त तच्चभणियं, दहसुत्तेमुणिवरिंदेहिं॥

अर्थः- प्रथम अध्याय से चार अध्याय तक जीव तत्त्व का वर्णन है, पाँचवें में

पुद्गल अर्थात् अजीव तत्त्व का उल्लेख है, छठें और सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व का कथन है, आठवें में बंध तत्त्व का, नवमें में संवर तथा निर्जरा तत्त्व का प्ररूपण है तथा दसवें अध्याय में मोक्ष तत्त्व को जानना चाहिये। इस प्रकार मुनि पुङ्गव के द्वारा दस अध्यायों में सात तत्त्व कहे हैं।

तवयरणं वयधरणं, संजमसरणं च जीवदयाकरणम्।
अन्ते समाहि मरणं, चउविह दुक्खं णिवारेई ॥

अर्थः- तपश्चरण करो, व्रत धारण करो, संयम का आश्रय लो, जीवों पर दया करो तथा अन्त में समाधिमरण करने वाला चारों गतियों के दुःखों का निवारण करता है।

कोटिशतं द्वादशचैव कोट्यो, लक्षाण्-यशीतिस्त्रयधिकानि चैव।
पंचाशदष्टौ च सहस्र संख्या - मेतच्छ्रुतं पंच पदं नमामि ॥

अर्थः- एक सौ बारह करोड़, तेरासी लाख, अट्ठावन हजार और पाँच पद प्रमाण इस श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूँ।

अरहंत-भासियत्थं, गणहर देवेंहिं गंथियं सम्मम्।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाण महोवहिं सिरसा॥

अर्थः- अरिहंत भगवान् द्वारा अर्थरूप से कहे गये और गणधर देव द्वारा ग्रन्थरूप से ग्रन्थित किये गये श्रुतज्ञान रूप महासागर को भक्तिपूर्वक मैं सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ ॥

गुरवः पांतु नो नित्यं, ज्ञान दर्शन नायकाः ।
चारित्राऽर्णव गम्भीरा, मोक्ष मार्गोपदेशकाः॥

अर्थः- जो ज्ञान और दर्शन के नायक हैं, चारित्ररूपी सागर के समान गंभीर हैं और मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले हैं- ऐसे श्रीगुरु ''विशद'' आचार्य परमेष्ठी हमारी सदा रक्षा करें।

ग्रन्थ समाप्ति